रहस्यपूर्ण (स्वानुभव) सूक्ष्मतत्त्वचर्चा
पूर्वार्द्ध

—: प्रवचनकर्त्ता :—

अध्यात्म तलस्पर्शी परमादरणीय

बाबूजी 'युगल'जी जैन एम.ए, साहित्यरत्न

कोटा

सूक्ष्मतत्त्वचर्चा 1 से 11 तक

श्री शांतिभाईजवेरी के निवास स्थान नीलांबर मुंबई में हुई
आध्यात्मिक (स्वानुभव) सूक्ष्मतत्त्वचर्चा

आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन

कोटा

94141 81512

1.) Youtube में Babuji Yugal Ji type करें।

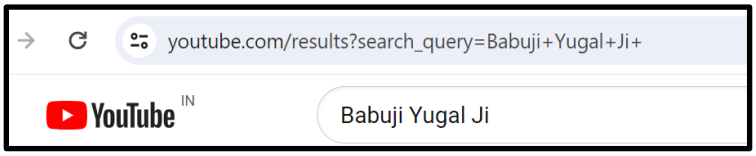

2.) Channel पर click करें।

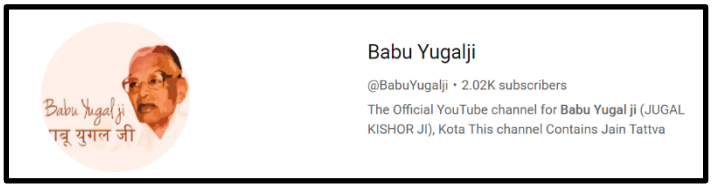

3.) Channel को Subscribe करें।

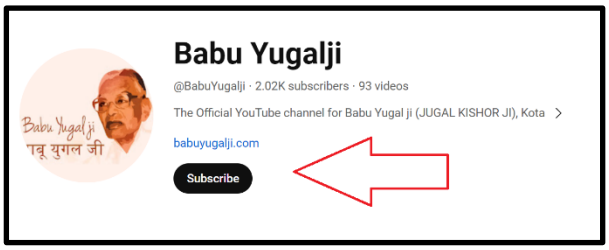

4.) Playlist पर click करें।

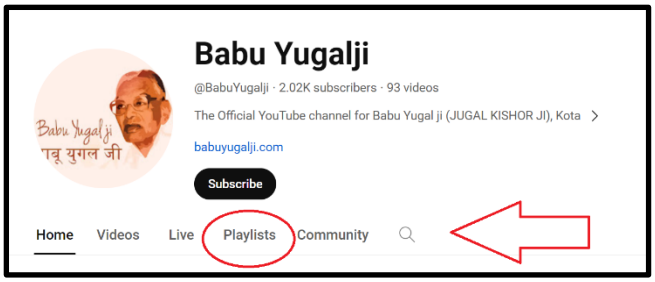

5.) नीचे दी गई Playlist के 11 Videos इस पुस्तक में अक्षरशः प्रकाशित किये गए हैं। अवश्य स्वाध्याय करें।

हृदयोद्‌गार

अध्यात्मभवन के सुदृढ़ स्तम्भ, दर्शन के दिवाकर 'केवल रवि' जैसी अनुपम काव्यकृति के प्रणेता, साहित्य सम्राट पूज्य बाबू युगलजी कोटा, इस युग के प्रखर चिन्तनशील महामना थे। जीवन पथ प्रदाता पूज्य गुरुदेव के गहन सिद्धान्त 'रत्नराशि' के समान उनके हृदय में सदा ही प्रतिष्ठित रहे हैं, जो उनकी ज्ञान चेतना को निरन्तर अनुप्राणित करते रहते थे, ऐसे स्वच्छ व पैने ज्ञान द्वारा उन्होंने जैन सिद्धान्तों के महासागर में गोते लगाकर उसकी गहराई में छिपे मणि-मुक्ताओं को जैन जगत के समक्ष प्रवचन, चर्चा, परिचर्चा, काव्य व लेखांश के रूप में उद्‌घाटित कर, सचमुच एक अमूल्य धरोहर विश्व के जैन साहित्य कोष को प्रदान की।

काल की किसी मंगल घड़ी में विशेष अवसरों पर हुई उनकी समरसी, सुन्दर सटीक व संक्षिप्त चर्चायें मुमुक्षुमंच के लिए 'वज्र कवच' समान सिद्ध हुई हैं, वे आज भी उनके मानस में चिरस्थाई होकर मिथ्या-भ्रान्तियों पर सदैव प्रहार करती रहती हैं।

वर्तमान परिवेश में 'नीलांबर' चर्चा धरती से अम्बर तक अध्यात्म की ऊँची उड़ान के साथ देश व विदेश के हर कोने में चर्चित होकर चातक-चित्त पिपासुओं में अपना ध्रुव स्थान बना चुकी है, जिससे उनकी तत्त्वधारा त्वरा से गतिमान होती हुई, अपने लक्ष तक पहुँचने की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही है।

सुखद चर्चांश में आगम व अध्यात्म के गंभीर विषयों में छिपे हुए रहस्य एवं आंतरिक भावों को पूज्य बाबूजी ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्फुटित किया है, अल्प शब्दों में बहु भावों को गुंफित कर लेना तो उनकी शैली का प्रधान गुण है ही, साथ ही समृद्ध शैली में भाषा का लालित्य व प्रवाह स्वतः ही छलक-छलक कर बाहर आ रहा है।

विभिन्न रसों के समावेश पूर्वक सुरम्य चर्चा में विभिन्न विषयों का समावेश बखूबी से हुआ है, श्रद्धा गुण की कार्य प्रणाली, ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव, लब्ध-उपयोग, इन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप, दोष निवारक मंत्र, जैन श्रावक का व्यवहार पक्ष, आचार संहिता, अनुशासित, मर्यादित,

संयमित व संतुलित जीवन शैली आदि-आदि। इस प्रकार चर्चा में न ही अध्यात्म का अतिरेक और न ही व्यवहार का लोप ! बल्कि एक मात्र शुद्धात्मा को केन्द्र में रखकर, बड़ी स्पष्टता, निशंकता, प्रमुदित हृदय एवं जागते विश्वास के साथ चर्चा मुखरित हुई है, सचमुच अध्यात्म के उत्कर्ष को स्पर्श कर इन चर्चाओं ने 'नीलांबर' को सर्वार्थसिद्धि की प्रतिछाया का ही रूप दे दिया। अहो धन्य है! मुमुक्षुवृन्द और उनके मकरन्द - 'युगल'।

महानगरी मुम्बई 'नीलांबर' में स्थित तत्त्वमयी सरल व्यक्तित्व श्री शांतिभाई जवेरी का निवास स्थान क्रांतिकारी पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य लालचन्दभाई जैसे निर्मल ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों का विश्राम स्थल रहा है, उसी पवित्र प्रांगण में जनवरी 1999 में पूज्य बाबूजी की 22 दिवस तक मनोमुग्धकारी चर्चा की धारा चलती रही, 200-250 श्रोतागण इस शीतल धारा में डूबकर, नई-नई सुखद अनुभूति लेकर जाते थे, मैं स्वयं (पुत्री ब्र. नीलिमा) भी पूज्य बाबूजी के साथ ही थी, तब मैंने प्रत्यक्ष देखा, पूज्य बाबूजी के अंतरमुखी चिन्तन से निकली शुद्ध अन्तस्तत्त्व की मधुरिम वार्ता में पूज्य बाबूजी के प्रज्ञा-चक्षु व मुखमुद्रा की खिलावट, जिसने वहाँ के सारे वातायन में चैतन्य की महक भर डाली, वह दृश्य मेरे स्मृति पटल पर आज भी चल-चित्र बन घूमते रहते हैं, वे मंत्र-मुग्ध से श्रोता, हृदय में चर्चा का रसपरिपाक एवं अर्पणता। सच! एक आश्चर्य ही था।

श्रोता प्रमुख एवं प्रश्नकर्ता आदरणीय शांतिभाई के ज्येष्ठ पुत्र श्री पंकजभाई चर्चा के मधुर रस को तीव्र उत्कंठा व हर्षित मन से भर-भर पीते रहे एवं श्री महेन्द्रभाई सी.ए. बोरीवली ने चर्चाओं में प्रश्न एवं प्रश्न की पुनरावृत्ति द्वारा सदन में उमंग भरी ध्वनि का संचार कर डाला और हाँ! हमारे सौभाग्य से उन्होंने इन चर्चाओं की रिकार्डिंग कर उन्हें जीवंत रखा। इन चर्चाओं को अक्षरशः लिखने एवं वीडीओ में सब-टाईटल कर पी.डी.एफ. के साथ यू-ट्यूब पर उपलब्ध कराने का श्रमसाध्य कार्य मंजुषाजी जैन इन्दौर एवं उनकी पूरी टीम ने बहुत ही लगन, तत्परता एवं समर्पण के साथ सम्पन्न किया, अतः हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। टीम के सदस्य के रूप में आशा महेता (मुंबई), दर्शना झवेरी (मुंबई), इन्दिरा कोठारी (मुंबई), ऋतु जैन (इंदौर), मंजुषा जैन (इंदौर), मनीषा

मोदी (खुरई), विभूति शेठ (मुंबई), मानसी जैन (पुणे), पल्लवी जैन (इंदौर) एवं प्रियंका जैन (भोपाल) शामिल हैं।

सचमुच - लोकोत्तर इन चर्चाओं का ध्रुव स्तूप तो ध्रुव ही है, ध्रुव की धुरी पर ही चर्चाओं का चक्र चलता रहा यह ध्रुवधाम की ध्रुव चर्चा स्वयं के लिए चर्चित होकर हमारी चर्या का हिस्सा बन जावें - मुझे विश्वास है कि ध्रुवत्व की चर्चा के ये 'अजेय सूत्र' हमारे अभिशापों की घड़ियों में वरदानों के सुन्दर फूल बनकर उदित होंगे।

चैतन्य की चर्चा के चितेरे पूज्य बाबू युगलजी के पावन जन्म शताब्दी वर्ष पर हमारा समग्र उज्ज्वल धवल परिवार, धवलमना पूज्य बाबूजी के स्मरणार्थ यह धवलधरा सा पुष्पहार असीम श्रद्धा के साथ समर्पित कर रहा है। मुक्ति के पथिक इस प्रकृष्ट प्रसाधन को पाकर अपने जीवन को परिष्कृत करें, ऐसी उत्तम भावना के साथ....

दिनांक: 05 अप्रैल 2024 **मोक्षाभिलाषी**

पूज्य बाबूजी युगल जी जन्म-दिवस **ब्र. नीलिमा जैन, कोटा**

युगल शताब्दी वर्ष 1924-2024

आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा
85, चैतन्य विहार,
आर्य समाज की गली,
रामपुरा,
कोटा (राजस्थान) - 324006
094141 81512 – **चिन्मय जैन, कोटा**

नीलांबर 'युगल' - पूर्वार्द्ध
अनुक्रमणिका

चर्चा नंबर पेज नंबर

तत्त्व-चर्चा नंबर १ 6

तत्त्व-चर्चा नंबर २ 20

तत्त्व-चर्चा नंबर ३ 39

तत्त्व-चर्चा नंबर ४ 55

तत्त्व-चर्चा नंबर ५ 65

तत्त्व-चर्चा नंबर ६ 78

तत्त्व-चर्चा नंबर ७ 97

तत्त्व-चर्चा नंबर ८ 116

तत्त्व-चर्चा नंबर ९ 138

तत्त्व-चर्चा नंबर १० 160

तत्त्व-चर्चा नंबर ११ 172

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर १, तारीख २५-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षुः- .... सम्यग्दर्शन हो जाता है?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञायक नथी त्यम् पर तणो (समयसार गाथा ३५६) - ये बोला है आपने (लेकिन) स्वीकार नहीं किया। स्वीकार कौन करता है? बोलने वाला या नहीं बोलने वाला? नहीं बोलने वाला स्वीकार करे।

मुमुक्षुः- स्वीकार, understand क्या होगा? स्वीकार किया यानि कि 'है' - ऐसा किया तो उससे तो सम्यग्दर्शन होता है। स्वीकार किया तो सम्यग्दर्शन होता है। स्वीकार कर लिया....

पूज्य बाबूजीः- और अपन किसकी बात कर रहे हैं? स्वीकार कर लिया तो सम्यग्दर्शन।

मुमुक्षुः- स्वीकार कर लिया तो सम्यग्दर्शन?

पूज्य बाबूजीः- हाँ!

मुमुक्षुः- हाँ! वही मैं बोलता हूँ। उसको स्वीकार करने का अर्थ (meaning) क्या? 'उसको स्वीकार' - वो क्या बात है?

पूज्य बाबूजीः- स्वीकार का (अर्थ) इससे सरल क्या होगा? बस यही करना कि ज्ञायक हूँ, ऐसा मानना कि ज्ञायक हूँ, ऐसा अहम् करना कि ज्ञायक हूँ। स्वीकार का तो अर्थ बस यही होता है।

मुमुक्षुः- मंजूर करना?

पूज्य बाबूजीः- मंजूर करना, स्वीकार करना, मानना, अहम् करना, वेदन करना। 'वेदन' का (अर्थ) आ गया समझ में? वेदन से ही उसमें.....

मुमुक्षुः- वेदन कैसे हुआ आत्मा का....?

पूज्य बाबूजीः- वेदन करना सीखा है न, तो वेदन करना। बोलना नहीं, वेदन करना। वेदन तो.... जो वेदक है वो वेदन करेगा।

मुमुक्षु[1]:- एक प्रश्न है - अंतरंग अभिप्राय का दोष जो मिथ्यात्व है वो कैसे टले? अंतरंग अभिप्राय का दोष जो मिथ्यात्व है (वो) कैसे टले? मिथ्यादृष्टि की उपयोग की स्थिति क्या है? और साधक होने के बाद उपयोग की स्थिति क्या है? और इंद्रियज्ञान और अतींद्रियज्ञान की क्या स्थिति है? चार प्रश्न हैं। एक में चार।

पूज्य बाबूजीः- ..... है अंतरंग अभिप्राय का दोष जो मिथ्यात्व है वो कैसे टले?

1 अंतरंग अभिप्राय का दोष कैसे टले?
मिथ्यादृष्टि और साधक की उपयोग की स्थिति क्या है?
इंद्रियज्ञान और अतींद्रियज्ञान की क्या स्थिति है? - 2.07 Mins

अंतरंग अभिप्राय में जो अपना शुद्ध चैतन्य है वो मैं हूँ, वही मेरा है (और) उसको छोड़कर जितना कुछ विकल्प होता है और मानना होता है, जानना होता है, वो सारा का सारा दोष है। जो अन्य के साथ अहम् रूप और अन्य के साथ एकत्वरूप, अन्य को अपना जान लेना - ये नियम से होता है। जब तक अपने चैतन्य में अहम् और अपने चैतन्य में एकत्व न हो दर्शन और ज्ञान का, श्रद्धा और ज्ञान का, तब तक जितना कुछ होता है जितनी भी परिणति होती है श्रद्धा और ज्ञान की, वो सब पर के साथ, परभावों के साथ अथवा चैतन्य से अनमेल जो भी भाव हैं, चाहे वो शुद्धभाव हों, उनके साथ अहम् रूप और एकत्वबुद्धि ये अभिप्राय का दोष है। होना चाहिए उस शुद्धचैतन्य-ज्ञायक के साथ एकत्व। तो ऐसे ही टलेगा।

ये जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों के संबंध में पहले विचार करे (कि) ये मेरे साथ निकटतम जो शरीर है, ये भी नहीं रहता है। तो इससे संबंधित जो सारा लोकालोक (है), इसी से संबंधित है सारा लोकालोक, उनमें से एक भी कभी .... मैं सबके पास गया लेकिन किसी से मुझे सहारा नहीं मिला - ऐसा जानकर सारा जगत पराया है, उससे मुझे कुछ लेना नहीं है, (मेरा) कोई संबंध भी नहीं है। बस! ये ज्ञान करके... ये ज्ञान पक्का हो पहले - निषेधरूप; तो फिर जो विधिरूप-अस्तिरूप (positive) जो ज्ञान है, उसमें केवल एक अकेला चैतन्य ही रहता है बाकी, तो वो ज्ञान चैतन्य की ओर ढल जाता है, आ जाता है। इस तरह टलता है।

चैतन्य का स्वरूप जानना चाहिए। एकत्वरूप जाने बिना, उसकी सत्ता के निश्चय के बिना... पहली बात तो ये कि उसकी सत्ता है विश्व में न्यारी, अलग-थलग, एक। और उसके साथ में 'तो कैसा है वो' - फिर ये जाने। कैसा है? माने अनंत वैभव सम्पन्न है (तो) यहाँ आकर बात पूरी होती है। माने उसमें कोई कमी नहीं है, कोई आदान-प्रदान की गुंजाईश नहीं है। नाश की, कभी विनाश की गुंजाइश नहीं है, विनाश कभी होता नहीं है। जन्म नहीं होता है और मरण नहीं होता है। ये अभी सारे उसके जो गुण हैं उन पर विचार करना। और विचार करके ये निश्चय करे कि निश्चितरूप में मैं एक ऐसी चैतन्य सत्ता हूँ। इस विश्व में एक महान सत्ता बल्कि सर्वोत्कृष्ट सत्ता (हूँ) क्योंकि मेरी जैसी सत्ता जगत में दूसरी नहीं है। तो ये अगर हृदय से प्रीतिपूर्वक निश्चय करे तो ज्ञान और श्रद्धा उधर ढल जाते हैं और अनुभव हो जाता है, निर्विकल्प शुद्ध। इस तरह दोष टलता है।

सारे दोष गिने नहीं जाते। सारे दोष गिनें तो अनंतकाल बीत जाए। इसलिए सबसे बड़ा दोष ये कि चैतन्य का जो अदर्शन है वो सबसे बड़ा अपराध है। उसको अशुद्ध मानना ये सबसे बड़ा अपराध है। उसको किसी में मिलाना, मिलाकर अनुभव करना - ये सबसे बड़ा अपराध है। उसको अन्य के साथ जोड़ना ये सबसे बड़ा अपराध है। इस तरह अनेकरूप होते हैं। तो उसमें बस इतना सामान्य जानकर केवल चैतन्य का स्वरूप निश्चित करे। जाननेवाला ये, जो स्पष्ट मेरे अनुभव में आ रहा है, मेरे अनुभव में आ रहा है। अन्य का अनुभव तो कर ही लेता है लेकिन मेरे अनुभव में ये जो जानना अनुभव में आ रहा है, बस! यही है चैतन्य, यही है आत्मा, यही है ज्ञायक। ऐसा निश्चय किया तो ये सत्ता का निश्चय हो गया। सत्ता का निश्चय करके फिर जिनवाणी और सद्गुरु के अनुशीलनपूर्वक उसके गुणों का विचार करे। गुणों का विचार करेगा तो निश्चितरूप में.... माने गरज होनी चाहिए सबसे पहली बात। गरजी बनकर अगर करता है (तो होगा) और केवल शुष्क विचार करता है तो कुछ नहीं होगा। उस विचार में सरसता हो, प्रसन्नता हो, उत्साह

हो, कोई भय नहीं हो, चिंता नहीं हो। सर्व चिंताओं से मुक्त, सर्व भय से मुक्त (होकर) इस तरह उस ज्ञायक के गुणों का और उसकी सत्ता का विचार करता हुआ अंत में .... लेता है। निर्विकल्प संवेदन होता है तो ये अभिप्राय का दोष टल गया। अभिप्राय का दोष टलना ये सम्यग्दर्शन, उसके साथ स्वसंवेदन होना ये सम्यग्ज्ञान, उसके साथ चारित्र का जो अंश - स्वरूपाचरण चारित्र होता है, वो चारित्र; तीनों एक साथ पैदा होते हैं।

तो दोष की जो बात है इसको बहुत लंबा नहीं करना क्योंकि दोष तो अनादिकाल से हो ही रहे हैं और ये अनंत बार हुए हैं। अनंत बार और बदल-बदलकर (हुए)। कभी शरीर में, कभी कर्म में, कभी राग और द्वेष हुए, कभी पाप और पुण्य और कभी जगत के पदार्थ, इस तरह से निरंतर बदल-बदलकर मिथ्याश्रद्धा, वो ही अभिप्राय का दोष (है) मिथ्याश्रद्धा, वो तो होती रही है। उसमें तो ऐसा जानकर कि ये सबके सब झूठे हैं, कल्पना-प्रसूत हैं, भ्रम हैं ऐसा समझकर और मेरा ज्ञायक विद्यमान तत्त्व है, विद्यमान सत्ता है और अनंत वैभव सम्पन्न है, समृद्धिशाली है। उसमें कोई कमी नहीं है। जगत से कुछ लेना नहीं है, जगत को कुछ देना नहीं है। इतना निरपेक्ष है ज्ञान भी और आत्मा भी। जो ज्ञान जान रहा है वो भी ये स्वीकार करता है। ज्ञान की पर्याय भी ऐसी है, वज्र-दल जैसी दीवारों की, एक समय की।

मुमुक्षुः- एक समय की पर्याय भी ताकतवर है।

पूज्य बाबूजीः- वो भी वज्र जैसी है। उसमें भी उसकी कल्पनाओं तक का प्रवेश नहीं होता।

मुमुक्षुः- कल्पनाओं तक का प्रवेश नहीं होता?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! कल्पना के जो विषय हैं न, वो कहाँ आते हैं? इसलिए कल्पनायें झूठी हैं। भ्रम होता है।

चिंतन[2] में सरसता होनी चाहिए साफ बात है। ये जो सोचता है तो ये कि ये समय-विशेष के लिए कार्यक्रम बनाकर सोचता है। कार्यक्रम का ये काम नहीं है। ये टाइम-टेबल (समय-सारिणी) नहीं है। इसमें टाइम-टेबल (समय-सारिणी) नहीं होता है। ये तो बिना विराम (break) के चौबीस घंटे होनेवाला काम है। कभी भी जब पुरुषार्थ तीव्र होगा (तो) अनुभूति हो जाएगी। वरना ये चिंतन-ज्ञान से जो ये बात स्थिर हुई है वो तो हमेशा बैठी रहती है। चाहे उपयोग बाहर हो, चाहे उपयोग भीतर चिंतन कर रहा हो। चिंतन नहीं करता है तो भी इसने सर्वोत्कृष्ट सत्ता इसको मान लिया है। सर्व महान तत्त्व विश्व का मैं हूँ क्योंकि मुझे किसी ने आज तक कुछ दिया नहीं, किसी से कुछ (मैंने) लिया नहीं और अपने अवलंबन से और अपने सामर्थ्य के बल पर आज तक मैं रहा हूँ, मेरी सत्ता रही है। उसको तोड़ने-फोड़ने का मैंने भी .... नहीं किया और अन्य ने भी प्रयत्न किए लेकिन उसको आँच नहीं आई - ऐसी सत्ता है; तो प्रसन्नता होगी फिर। जैसे किसी ऋषि का वरदान किसी को मिल जाए कि तू परमाणु बम (atom-bomb) से नहीं मरेगा, तो ऐसा वरदान है इस युग को अनादि-अनंत। तो प्रसन्नता नहीं होगी?

जैसे लोक में होता है कि वो धन का ढेर अपना एक बार सारा का सारा एकट्ठा करे और उसको देखे तो वहाँ प्रसन्नता बुलानी पड़ती है या ज्योतिषी से पूछना पड़ता है? कि अपने आप

2 चिंतन कैसा होना चाहिए? भेदज्ञान टाइम-टेबल (Time-Table) से नहीं होता है। - 10.30 Mins

आ जाती है, स्वतः? और मानता है उसको, आत्मा मानता है; इस ढेर को आत्मा मानता है मिट्टी। सब मिट्टी है सब, चैतन्य के अतिरिक्त। उसमें अनुपात (ratio) नहीं है कि चैतन्य सर्वाधिक है और दूसरे थोड़े कम हैं। ऐसे थोड़ा कम नहीं कोई; बिल्कुल कुछ नहीं है, थोड़ा भी कुछ नहीं है। सब कुछ सर्वस्व मैं ही हूँ, ये जाने। यदि जानने की तैयारी हो तो ठीक! और ये सबेरे उठकर एक थोड़ा स्वाध्याय कर लिया हो, थोड़ा चिंतन कर लिया (कि) ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ - ऐसा आगम का वाक्य रट लिया और वो आधा घण्टा, घण्टाभर पूरा कर लिया, उसके बाद और काम में लग गए। वो तो विराम (break) हो गया टाइम-टेबल (समय-सारिणी) हो गया। ये टाइम-टेबल (समय-सारिणी) का काम थोड़ी होता है। सबसे महान पदार्थ जब अपन ने स्वीकार किया तो उसके लिए टाइम-टेबल (समय-सारिणी) होता है क्या? उसके लिए तो ये होता है कि सदा ही इसमें विहार करता है वो। सदा ही लीन रहूँ इसमें और अमृत के प्याले पीता रहूँ, ये होता है उसमें।

इसमें भी सबसे बड़ी विशेषता ये है कि एक बार प्रीतिपूर्वक ये बात स्वीकार कर ले, तो उसको चैतन्य की महिमा आ जाती है और वो महिमा निरंतर पड़ी रहती है, और बाहर का व्यवसाय भी चलता रहता है। करता तो ये है ही नहीं, ये तो ये समझ चुका है कि करता तो मैं नहीं हूँ लेकिन बाहर का व्यवसाय भी चलता रहता है सारा व्यवहाररूप, जो भी है वो। वो चलने पर भी वो खिसकती नहीं है भीतर से, उसकी जो महिमा बैठी है। इस तरह! कभी चिंतन में भी लीन होता है, तो कभी बाहर के व्यवहार में भी चला जाता है; पर होता है ये चिंतन में लीनता के समय ही है। चिंतन भी ऐसा हो कि अंतर्लीन हो जाए एकदम, ज्ञायक ही ज्ञायक उसमें से स्वर निकले। तो अंत में वो चिंतन भी विराम लेकर अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षुः- स्वरूप का चिंतन भी विराम लेकर अनुभूति होती है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! चिंतन तो विराम लेगा ही सही क्योंकि चिंतन तो ज्ञान का विकल्प है। ज्ञान का विकल्प तो वो तो तरल है, चंचल है; और आत्मा की अनुभूति इस तरह से होती नहीं है। स्थिरता में अनुभूति होती है, चंचलता में नहीं होती क्योंकि वो विचार जो है वो तो चंचल है। लेकिन प्रसन्नभाव रहता है, कोई भय नहीं रहता। चारों ओर भले ही भय के साधन हों, भयानक वस्तुएँ चाहे आसपास पड़ी हों लेकिन भय नहीं रहेगा चित्त में। एकदम निर्भय! क्योंकि मरता ही नहीं हूँ उसको भय क्या है? जिसको कभी चोट ही नहीं लगती है, जिसको कोई छूता ही नहीं है उसको भय क्या? छूता ही नहीं है जिसको कोई उसको क्या भय? तो निर्भय[3] होकर प्रसन्नभाव से विचार करता है। क्योंकि वो विचार का विषय नहीं है, वो तो अनुभूति का विषय है। माने सेवन करने का, स्वाद लेने का विषय है; वो खाली विचार की वस्तु नहीं। क्योंकि विचार में वस्तु नहीं आती, पर वस्तु का विचार अवश्य होता है।

मुमुक्षुः- विचार में वस्तु नहीं आती मगर वस्तु का विचार अवश्य होता है।

पूज्य बाबूजीः- वस्तु नहीं आती..... विचार अवश्य होता है। विचार के बिना वस्तु मिलती नहीं है और विचार से वस्तु मिलती नहीं है। विचार होगा ही होगा, आएगा ही आएगा और बीच में व्यवधान बनकर आएगा। ये भीतर से उसे व्यवधान मानता है, बाहर से अनुरागपूर्वक करता है। बाहर से उदास मन से नहीं करता है, रोए रोए मन से। प्रसन्नचित्त से करता है चिंतन भी। क्योंकि

3 विचार का महत्व। बर्फ बनने की प्रक्रिया एवं आत्मानुभूति। व्यवधान = रुकावट, Obstacle; - 16.03Mins

चिंतन में वो है न! चिंतन में ये विचार थोड़ी देख रहा है। चिंतन में भी वहाँ वो है लक्ष, विचार का भी (लक्ष वो है)। इस तरह महिमा बढ़ते-बढ़ते अंत में वो थम जाता है विचार (और) दूसरे समय में अनुभूति हो जाती है।

बर्फ बनने की प्रक्रिया होती है न, बर्फ बनने की। तो जैसे पानी है, तो उसका जो पानी है तब तक उसमें तरंगें होती रहेंगी और उसके बाद उसका बर्फ बनने लगता है तो तरंगें कम होने लगती हैं। और जब पूरा बर्फ बन जाता है तब तरंगें बिल्कुल नहीं रहती हैं। तो ऐसे ही विचारों की स्थिति होती है। पहले स्थूलता रहती है, उसके बाद सूक्ष्म होता जाता है (और) फिर अनुभूति में बदल जाता है - घनत्व। रसास्वादन होता है सीधा। लेकिन वो जो रसास्वादन है उस पर भी उसका लक्ष नहीं है। रसास्वादन से जो आनंद आया उस पर भी उसका लक्ष नहीं है; वो तो पर कोटी में है, पराई कोटी में। स्व की कोटी में नहीं है। स्व की कोटी में एक मात्र चिन्मात्र।

उसका आनंद हो तो भी वो नहीं चाहता है, जो आनंद पैदा हो उसको नहीं चाहता। उधर झाँकता नहीं लेकिन फिर भी (वो) जानने में आ जाता है - ज्ञान की ताकत (ऐसी) है। क्योंकि उसके नया काम हुआ है न! तो उसका जो फल है वो अगर जानने में नहीं आवे तो फिर इसको कैसे बोध होगा कि कोई नई चीज़ हुई है, नया काम हुआ है? शादी हुई है घर में तो कुछ तो दिखना चाहिए...। इसलिए आनंद का जन्म होता है लेकिन फिर भी ये उधर लक्ष-उपयोग को घुमाता नहीं है। उपयोग उधर जाता नहीं है। उपयोग वहीं रहता है (अंदर), तब तक तो वो आनंद रहता है। और उपयोग वहाँ से डिगा और वो आनंद भी कपूर हो जाता है। पूर्ण शांति रहती है। जो शांति प्रगट हुई है, सुख प्रगट हुआ है, सुख गुण प्रगट हुआ है उतना तो हमेशा रहता है। लेकिन वो जो आनंद जिसको अपन कहते हैं सारे गुणों की पर्यायों का निचोड़, जैसे एक पेय होता है - पीनेवाला पदार्थ, तो उसका जो स्वाद होता है, हम उसमें गिनती नहीं करते हैं; और उसको पीते समय मात्र आनंद को भोगते हैं। उसके पहले जरूर विचार है (कि) क्या-क्या चीजें इसमें डालनी हैं। क्या-क्या चीजें हैं? इस तरह उनकी महिमा करता हुआ उसकी, वस्तु की महिमा में लीन हो जाता है।

असल[4] में तो सरसता आती नहीं है ज्ञान में। जैसे कोई वस्तु खाते समय अथवा कोई वस्तु अपनी मनचाही मिली है, तो उसको देखकर जो सरसता ज्ञान में आती है वो सरसता आत्मा का विचार करते समय नहीं आती है। शुष्क हो जाता है, शुष्क। जैसे मेरे यहाँ कुछ नहीं हुआ है, दूसरे के घर में है, तो ये शुष्क हो जाता है। उसका स्वयं का ही ज्ञान विचार करता है तो (वह) विचार शुष्क होता है। विचार जो है वो सरस होना चाहिए, लबालब एकदम।

मुमुक्षुः- विचार भी लबालब होना।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! प्रसन्नभाव से। बराबर! प्रसन्नभाव से बराबर।

मुमुक्षुः- मिथ्यादृष्टि का जो विचार आत्म सन्मुखवाला होता है, वो रस से लबालब होना चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- अत्यंत प्रसन्न! भले ही उस समय उपद्रव हो लेकिन वो हिलता नहीं है उपद्रव में। माने उस समय भी नहीं हिलता है, विचार के समय भी। और तो बात जब अनुभूति होगी उस समय तो, वो तो सिद्ध ही हो गया परमात्मा।

4 आत्मार्थी का विचार भी सरस होना चाहिए, शुष्क नहीं। - 20.07 Mins

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- लेकिन उस समय भी, विचार के समय भी हिलता नहीं है उपद्रवों हों तो भी, नरक में हो तो भी, सातवे नरक में हो तो भी। इतना इसको प्रसन्नभाव होता है उसका। क्योंकि जो उपयोग है वो प्रसन्नभाव में चल रहा है तो उधर उनका अनुभव कौन करेगा? वो तो यहीं तक हैं। तो इसका ही अनुभव नहीं है तो वो अनुभव कहाँ से होगा? वो तो मारो-काटो कुछ भी करो।

मुमुक्षुः- देह से अतिरिक्त सत्ता का।

पूज्य बाबूजी:- देह से ही जब अत्यंत यानि अत्यंत भिन्नत्व है ऐसा निश्चय कर लिया और उपयोग को इससे मोड़ लिया, सर्वथा मोड़ लिया सर्वथा, उपयोग को, तो इसका जब हो रहा है उसका कैसे वेदन हो? जब इसका ही वेदन नहीं (है) तो उनका क्या होगा?

मुमुक्षुः- तो ये जो विचार उत्पन्न होते हैं तो विचारों में प्रसन्नता आती है?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! प्रसन्नता आती है। ये तो करनेवाला देखे कि कैसी प्रसन्नता है वो। कोई विलक्षण है या नहीं? अलग जाति की है या नहीं? वो प्रसन्नता नहीं है, उसका नहीं कह रहे। प्रसन्नता का मतलब ये हँसने लगे, उसको नहीं कहते हैं प्रसन्नता। भीतर से प्रफुल्लित हो, उसको कहते हैं। ज्ञायक याद आते ही भीतर से चित्त प्रफुल्लित हो जाए अत्यंत प्रिय वस्तु की तरह, उसे कहते हैं प्रसन्नता।

मिथ्यादृष्टि[5] की उपयोग की स्थिति क्या है? मिथ्यादृष्टि का उपयोग भी यदि वास्तव में देखा जाए तो जिन कल्पनाओं में वो लीन है, केवल उन कल्पनाओं से वो मिथ्या है। लेकिन कल्पना के जो विषय हैं वो उपयोग में नहीं आते। वो ज्ञान में नहीं आते, ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। तो अगर इतना सा विचार कर ले तो भी उपयोग निर्मल हो जाए क्योंकि वो कल्पनाओं को छोड़ देगा। क्योंकि उससे क्या लाभ है? जब मैं जितनी कल्पनाओं में उद्यम करता हूँ वो तो व्यर्थ जा रही हैं सारी। और एक भी पदार्थ ....

मुमुक्षुः- अंदर भीतर नहीं आ रहा है।

पूज्य बाबूजी:- आ नहीं रहा है, मिल नहीं रहा है। तो उसकी स्थिति तो यही है कि निरन्तर कल्पनाओं में लीन रहता है, परपदार्थों की (अथवा) पर भावों की। धर्म के इधर इस क्षेत्र में आवे तो नव तत्त्वों की कल्पनाओं में लीन हो जाता है, मोक्ष की कल्पना में लीन हो जाता है। संसार की कल्पना छोड़ें, मोक्ष की कल्पना में लीन! 'एक दिन अवश्य मोक्ष हो जाएगा', 'अब तो आत्मा का विचार आने लगा', 'अब तो आत्मा का विचार कर रहा हूँ तो अवश्य मोक्ष हो जाएगा।' अभी तुझे तो मोक्ष प्रिय है, मुक्त प्रिय नहीं है। तो एक स्थिति तो ये है उपयोग की, मिथ्यादृष्टि की।

दूसरी स्थिति जो अभी अपन ने सोची, कि जिसको अनुभूति होनेवाली है उसके पहले उपयोग की स्थिति जो चिंतनरूप होती है वो; और वो मनवाले (प्राणी) को होती है। माने मिथ्यादृष्टि की उपयोग की जो बात कही वो तो सैनी पंचेन्द्रीय तक, एकेन्द्रीय से लेकर असैनी पंचेन्द्रीय तक चलती है। और वो केवल सैनी पंचेन्द्रीय मनवाले को होती है, जिसका अभी अपन ने अनुभूति तक की बात की, वो केवल मनवाले प्राणी को (होती है) और ये सबको होती है। तो उस तरफ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की, यही उपयोग की स्थिति है। जैसे एकेन्द्रीय है, उसके पास केवल शरीर है।

5 मिथ्यादृष्टि और साधक के उपयोग की स्थिति क्या है? - 23.07 Mins

बस शरीर में ही उपयोग झूलता रहता है निरंतर एकेन्द्रीय का। और कष्ट का अनुभव होता है; तेज गर्मी हो तो कष्ट का अनुभव होता है। तेज सर्दी हो तो कष्ट का अनुभव होता है। मुर्झाता है तो कष्ट का अनुभव, सब होता है उसे।

मुमुक्षुः- होता है?

पूज्य बाबूजीः- एक-एक पत्ते-पत्ते को, पत्ते में भी कई जीव हैं। क्योंकि शरीर से संबंध है न।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- इसलिए सब अनिष्ट-इष्ट सब होता है। मन नहीं है यद्यपि पर ज्ञान तो है न। इतना सा ज्ञान भी है तो वेदन कितना करता है दुख का। ज्ञान थोड़ा है (और) दुख का वेदन कितना होता है। ये उपयोग, मिथ्यादृष्टि के उपयोग की ऐसी स्थिति रहती है चंचल निरंतर, कल्पनाओं से भरी हुई, भ्रम से भरी हुई।

और साधक होने के बाद उपयोग की स्थिति क्या है? साधक होने पर पहली स्थिति तो वो अंतर्लीनता और आत्मानुभूति और स्वसंवेदन होता है। और उसके बाद उपयोग.... जैसे सबसे पहले तो उपशम सम्यग्दर्शन होता है तो उसकी स्थिति केवल मध्यम अंतर्मुहूर्त (है)। तो अंतर्मुहूर्त समाप्त होते ही और वो बाहर के पदार्थों की ओर उपयोग चला जाता है। बाहर के पदार्थों की ओर (उपयोग) जाने पर भी सम्यग्दर्शन अभी छूटा नहीं है। माने क्षयोपक्षम हो गया है, औपशमिक से। तो बाहर के पदार्थों की ओर (उपयोग) जाने पर भी उनमें एकत्व कभी नहीं होता। और आत्मा की जो प्रतिष्ठा-गौरव है, गरिमा है, उसमें कभी कमी नहीं आती क्योंकि वो तो उसने हृदय में बिठा लिया है न उसको सदा के लिए। ज्ञान में बैठ गया है न! अब तो अनुभूति हो गई तो सदा के लिए सर्वोत्कृष्ट स्थान पर वो बैठ गया है, एक उपास्य देव की तरह। इसलिए बाह्य के पदार्थों में भी जाता है क्योंकि कमजोरी है। परंतु चित्त में यह रहता है कि 'मैं यहाँ से न हटूँ'।

उतना होने पर भी क्योंकि अभी है कमजोरी, तो उपयोग चला जाता है बाहर। बाहर चला जाता है माने बाहर के पदार्थों को लक्ष कर लेता है। चला नहीं जाता है। रहता वो आत्मा में ही है लेकिन लक्ष बाहर के पदार्थों की ओर चला जाता है। बाहर के पदार्थ विषय बनने लगते हैं। वो भी पराये हैं, मैं नहीं हूँ; और भीतर जो बैठा है चिन्मात्र तत्त्व, वो मैं हूँ - ये बात कभी भी (भूलता नहीं)। ये तो उपयोग की बात है। सम्यग्दर्शन में तो निरंतर है न चिन्मात्र, चिन्मात्र, चिन्मात्र, इस तरह परिणमन है सब। अब इसका अंतर्मुख और बहिर्मुख - ये दो प्रकार का होता है। तो दोबारा अनुभूति हो जाए, तीसरी बार हो जाए चौथी बार हो जाए। इसमें नियम नहीं (कि) कब होगी। छह महीने पहले हुई!

अब[6] आगे है (कि) और इंद्रियज्ञान और अतींद्रियज्ञान की क्या स्थिति है? इंद्रियज्ञान असल में होता ही नहीं है, पहली बात तो ये। सारा ही ज्ञान अतीन्द्रिय है, जितना भी है - निगोद से लगाकर और सिद्धों तक। क्योंकि ज्ञान के इन्द्रिय होती नहीं है। इसलिए पहली बात तो ये कि इंद्रियज्ञान होता ही नहीं है। अब इंद्रियज्ञान उन संयोगों की ओर से मानें हम, पाँच प्रकार के और मन का जो संयोग होता है; तो इधर तो ये संयोग होता है और उधर वो ज्ञान व्यापार करता है, क्योंकि

6 इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान का स्वरूप। - 29.09 Mins

कमजोरी का लक्षण है ये। तो जैसे स्पर्शन है, रसना है - ये इंद्रियाँ हैं न; तो इन इंद्रियों के होने पर उसका व्यापार उसमें होता है। स्पर्शन इन्द्रिय, केवल एक इन्द्रिय को (जाने) तो ८ प्रकार का उसका व्यापार - हल्का, भारी, ठंडा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम इनमें हुआ करता है शरीर को लक्ष बनाकर। और जो आगे ज्ञान बढ़ता है तो विषय बढ़ते जाते हैं, तो उनमें व्यापार होता है। क्योंकि वो इंद्रियाँ हों तब ही वो ज्ञान होता है, लेकिन इंद्रियों से नहीं होता; क्योंकि इंद्रियाँ सर्वथा जड़ हैं, इसलिए उनसे बिल्कुल नहीं होता। लेकिन 'इंद्रियज्ञान' नाम इसलिए दिया क्योंकि इंद्रियाँ जब होती हैं तो वो ज्ञान प्रवर्तमान हो सकता है। होता है ये नियम नहीं, हो सकता है। अभी पाँच इंद्रियाँ मन है अपने पास लेकिन एक-एक की प्रवृत्ति होती है। तो कहाँ, इनके अधीन कहाँ हैं? माने सारा ज्ञान ही होना चाहिए समूह जैसा। लेकिन इनके अधीन नहीं हैं बिल्कुल। तो इसलिए, क्योंकि इंद्रियाँ उसमें निमित्त होती हैं इसलिए इंद्रियज्ञान से वो बात अच्छी तरह से समझ में आ जाती है। माने ज्ञान इंद्रियज्ञान नहीं होता, अतींद्रिय ही होता है। पर उसके निगोदिया जीव इंद्रिय....है, माने वो अलग बात है। माने वो तो सब झूठ है, वो होता नहीं है।

इंद्रियज्ञान की स्थिति तो ये है कि वो सदा केवल इंद्रिय, जो विषय है इंद्रियज्ञान के, उनमें ही व्यवसाय किया करता है इंद्रियज्ञान। उसको ज्ञायक का पता नहीं है, इंद्रियज्ञान को।

एक दूसरा, कि जैसे अनुभूति हो जाए, सम्यग्दर्शन हो जाए तो फिर भी इंद्रियज्ञान तो प्रवर्तित होता है। लेकिन वो इंद्रियज्ञान पराई कोटी में रहता है परत्व की कोटी में रहता है, इसलिए व्यवहार है वो सारा का सारा जो है। है सम्यक्, क्योंकि परत्व की कोटी में रख दिया है इसलिए है तो सम्यक्। लेकिन है व्यवहार क्योंकि स्वसंवेदनरूप नहीं हैं। जो स्वसंवेदन है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है, वास्तव में। तो ये तो हुई सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की स्थिति।

जो मिथ्यादृष्टि है, सदा ही उसको तो इंद्रियज्ञान ही प्रवर्तित होता है। जैसे अभव्य है, चाहे कुछ भी हो, ११ अंग ९ पूर्व तक पढ़े तो भी इंद्रियज्ञान है सारा। और आत्मा का स्वरूप यथार्थ जानता है। यथार्थ जानता है आत्मा का स्वरूप। जैसा है वैसा जानता है जिनवाणी के अनुसार। लेकिन सत्यरूप में जो स्नेह और प्रेम होना चाहिए वो उसको भीतर से नहीं आता, वो भीतर से पैदा नहीं होता। जैसे ये दूसरा ही (हो) जाने। इसलिए सारा शुष्क ज्ञान है, वो भी इंद्रियज्ञान है। और अतींद्रियज्ञान तो वो आत्मानुभूति में होगा। ज्ञानी की कोटी में दोनों आ जाते हैं - एक अतींद्रियज्ञान हो गया अनुभूति के समय और इंद्रियज्ञान, वो जिस समय अनुभूति में नहीं होता और उपयोग बाहर की ओर होता है, तो उस समय अन्य पदार्थ विषय बनते हैं; लेकिन सभी पर हैं ये एक बार निश्चय कर चुका (है), इसलिए 'ये पर हैं' ये कोई कहना नहीं पड़ता है या विचार नहीं करना पड़ता लेकिन पर जानता हुआ प्रवर्तित होता है। और महिमा जो है एक मात्र उस समय भी शुद्ध चैतन्य की पड़ी रहती है - ये अतींद्रियज्ञान का (स्वरूप हुआ)। तो अज्ञानी को केवल एक ही होता है - इंद्रियज्ञान और ज्ञानी को दोनों (होते हैं)। अब आगे का।

प्रश्न[7]:- त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा कूटस्थ है और वेदन पर्याय को होता है। तो एक है दृष्टि का विषय और एक है ज्ञान का विषय, उसमें मुख्य-गौण कैसे होता है?

7 दृष्टि और ज्ञान के विषय में मुख्य-गौण कैसे करना? सीता के स्वयंवर का उदाहरण। - 34.27 Mins

पूज्य बाबूजी:- दोनों ही, माने वो एक ही दृष्टि और ज्ञान का विषय है। ऐसा नहीं है कि एक दृष्टि का विषय है और एक ज्ञान का विषय है। कूटस्थ भी है वो, निष्क्रिय भी है वो लेकिन सम्पूर्ण भी है। ये तो नास्तिरूप (negative) हैं सब - कूटस्थ है, निष्क्रिय है। लेकिन सम्पूर्ण है, समृद्धिशाली है, महान है, उससे बड़ा जगत में कोई नहीं है - ऐसा जानता है। और वेदन पर्याय में होता है, ये बात सही है। पर्याय में जो वेदन होता है, तो ज्ञायक तो ज्ञायक की जगह रहता है - ध्रुव, ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में रहता है। और ठीक वैसा का वैसा ज्ञायकाकार पर्याय में होता है। पर्याय में रचना होती है न, जैसे परपदार्थ के संबंध में अपन कहते हैं। ऐसे, वैसा का वैसा जैसे पहले विचारकोटी में निश्चय किया था और निर्णय किया था कि निश्चितरूप में चैतन्य का स्वरूप यही है (और) ऐसा ही है। क्योंकि वो तो निकालना पड़ता है इतनी धमाल में से। कितनी धमाल में फँसा है वो! इतनी धमाल में! कितनी धमाल में फँसा है वो! शरीर है, कर्म हैं और सारे संयोग हैं, परिवार है, भाव कर्म हैं, राग-द्वेष हैं, पाप-पुण्य हैं तो कितना (कुछ) है। माने एक ओर सारा लोकालोक और एक ओर वो आत्मा इनके बीच में फँसा है। तो उसको उनमें से निकालना ये ज्ञान का काम है। तो वो (ज्ञान) सबको अपने लक्षणों से देखता है कि राग का जो लक्षण है वो तो पुद्गल द्रव्य का है। पुद्गल द्रव्य जैसा है। क्योंकि राग आत्मा का है ही नहीं, वास्तव में नहीं है। ज्ञान का भी नहीं है (और) ज्ञान में भी नहीं आता है। ज्ञान के भी बाहर ही रहा है सदा, इसलिए वो आत्मा का हिस्सा नहीं है। तो आत्मा का हिस्सा नहीं है ऐसा अजीव है, अचेतन है। और हमेशा ही पुद्गल के साथ आता है और पुद्गल के साथ चला जाता है, इसलिए भी आत्मा का नहीं है; तो पौद्गलिक है वो सारा।

तो उनमें से उस आत्मसत्ता को ज्ञान लक्षण से पहचानकर 'ये मैं हूँ' - ऐसा निश्चय करे तो अनुभूति होती है। और वो कूटस्थ और निष्क्रिय जो है न, वो कूटस्थ और निष्क्रिय वो पर्याय में जो ज्ञायकाकार दिखाई देता है, वो भी ठीक वैसा का वैसा ही तो दिखाई देगा न। जैसा ज्ञायक का स्वरूप है ध्रुव, निश्चल, अकंप, निष्क्रिय, तो ठीक पर्याय में भी तो वैसा का वैसा ही होता है। और पर्याय जो वेदन करती है उस वेदन का स्वरूप ये कि 'मैं ही ज्ञायक हूँ'। 'मैं ही निष्क्रिय, कूटस्थ, अचल, निष्कंप, सम्पूर्ण ज्ञायक हूँ' - ऐसा पर्याय का स्वर होता है। 'मैं वेदन करती हूँ' - ऐसा नहीं होता। श्रद्धा भी वहीं लग गई और ये ज्ञान जो है वो वेदन में तल्लीन हो गया।

मुमुक्षु:- ज्ञान वेदन में?

पूज्य बाबूजी:- वेदन में तल्लीन हो गया, संवेदन में। श्रद्धा .... ने स्वीकार कर लिया।

स्वयंवर होता है न, पहले स्वयंवर की प्रथा थी न। स्वयंवर में.... जैसे सीता का हुआ स्वयंवर। तो जो प्रतिज्ञा थी उसके ही राजकुमार आए और राम-लक्ष्मण भी गए। अपने यहाँ कथा है कि नहीं मुझे नहीं मालूम। लेकिन है ये कथा, जैनेतर कथा समझना; पर अपने को तो बड़े काम की है। तो सब आए, सारे। अब वो जो है (सीता) तो सबको देखती है। वरमाला हाथ में है और सबको देखती है। लेकिन अब जो प्रतिज्ञा पूरी करेगा, माने जो सबसे ज्यादा शूरवीर होगा, तो उसी के गले में जयमाला-वरमाला जाएगी। तो वो जो राम उस प्रतिज्ञा को पूरी कर देते हैं तो वरमाला (उनके गले में जाती है)।

तो पहले तो ज्ञान ने तो देखा और ये जो वरमाला एक पर समर्पित होकर वरमाला उसके गले में गई, उसका नाम सम्यग्दर्शन है; और ज्ञान सबको जानता है। अब इसको स्व-रूप में जाना। ज्यों ही वरमाला डाली, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान .... ये दूसरा नंबर होता है न। आचार्य कुंदकुंद ने तो ज्ञान को पहले लिया और मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नंबर होता है न। तो वो वरमाला डली बस एक के गले में डली, एक के में; और बाकी सब अदृश्य उस समय - तो ये सम्यग्दर्शन। उसके साथ ही जो है आनंद का वेदन, वो ज्ञान है।

तो पर्याय में होता है उसका अर्थ ये है कि वो पर्यायरूप होकर भी पर्याय की अनुभूति में ध्रुव के रूप में आता है - ये है उत्तर पूरा। वो तो वास्तव में तो बन तो पर्याय ही गया है, लेकिन पर्याय बन जाने पर भी ये (जो) पर्याय (है) उसको पर्याय से जो है विरक्ति हो गई है सारी की सारी। स्व (स्वयं पर्याय) से भी विरक्त है ये (पर्याय)। स्वयं जो अनुभव कर रही है ये (पर्याय), तो ये तो उस अनुभव से भी विरक्त है और एक मात्र उस ध्रुव में ये केंद्रित है। इसलिए वो ध्रुव के रूप में अनुभव में आता है। यद्यपि है पर्याय; पर पर्याय होने पर भी ध्रुव के रूप में (अनुभव में आता है)। हमें तो जरूरत ही ये थी कि पर्याय तो सब निकल चुकी बिल्कुल, एकरूप (हुई) और उसमें वो ध्रुव ही पसर गया।

मुमुक्षु:- जयसेन आचार्य की ३२० वीं गाथा में आता है न मैं एक ....

पूज्य बाबूजी:- अच्छा! अब इसमें मुख्य-गौण कैसे होता है? मुख्य-गौण कुछ नहीं होता। मुख्य ही है वो। ध्रुव का, शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है, बस वो मुख्य है और बाकी सब वे सब गौण हैं, सारे के सारे। सम्यग्दर्शन के विषय में तो गौण नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के विषय में तो केवल एक ही होता है - मुख्य। ज्ञान के विषय में मुख्य-गौण होता है। तो जो और-और भी हैं, बस इतना; लेकिन मेरे नहीं हैं, मैं नहीं हूँ। और हैं - वो मैं नहीं हूँ और मेरे नहीं हैं, उसके अतिरिक्त। क्योंकि सब इससे अनमेल और बेमेल हैं सारे के सारे। उससे एक का भी मिलान नहीं (है), इसलिए पर्याय भी बाहर निकल गई कि मेरा भी इससे मिलान नहीं होता। (तो) वो भी निकल गई और ध्रुव को पसार दिया उसने।

प्रश्न[8]:- ज्ञान का स्वरूप कैसा है?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञान का काम तो जानना है, ये तो प्रसिद्ध बात है जिनवाणी की। लेकिन जानने में ज्ञान हमेशा ही हेय-उपादेयपूर्वक जानता है - ये हमेशा याद रखने की बात है श्रद्धा और ज्ञान के (विषय) में। श्रद्धा का जो व्यवसाय होता है चाहे वो मिथ्यादर्शन हो, तो वो हमेशा उपायदेयरूप होता है। अर्थात् वो हर पदार्थ को, हर भाव को माने हर तत्त्व को, नव तत्त्वों में से हर तत्त्व को वो आत्मा ही मानती है। और जो ज्ञान है, वो भी जानता आत्मा ही है लेकिन उसमें ये भी है कि पर भी है, कि पर भी है। तो वो पर में ही दो भेद किया करता है। सच्चाई ये है कि जो मिथ्याज्ञान है वो तो सारा का सारा, वो भी पर में ही आसक्त है और ये श्रद्धा भी पर में आसक्त है। वो पर को आत्मा मानती है और वो ज्ञान जो है, वो भी पर को ही आत्मा मानता है। आत्मा मानता है अथवा उसके अनेकरूप हो सकते हैं (कि) कारण मानता है, साधन मानता है, कुछ भी मानता है। माने जो कुछ भी मानता है लेकिन मानता आत्मा ही है। (उससे) एकत्व करता है।

8 ज्ञान का स्वरूप कैसा है? - 42.34 Mins

लेकिन उसमें ये भेद हो जाता है यानि 'मैं और मेरा' - ज्ञान में। और श्रद्धा में केवल एक भेद होता है 'मैं'; उसमें मेरा नहीं होता।

मुमुक्षु[9]:- मैं और मेरे में क्या अंतर है?

पूज्य बाबूजी:- मैं और मेरे में कुछ ज्यादा फरक नहीं है। पर अनुभूति में 'मेरा है' - ऐसा नहीं होता क्योंकि उसमें अंतराल (space) है बीच में।

मुमुक्षुः- बराबर! जरा सा भेद है.....।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! ये ही है ज्ञान का स्वरूप। हेय-उपादेय का जरूर ख्याल रखना चाहिए। हमेशा जो मिथ्याज्ञान है वो भी हेय-उपादेयपूर्वक प्रवर्तित होता है। जो मिथ्याश्रद्धा है वो भी उपादेयतापूर्वक ही प्रवर्तित होती है। उसमें हेय कहा जाता है लेकिन हेय नाम का कोई पहलू नहीं है उसमें, परिणति नहीं होती है हेय, श्रद्धा में। और जब सम्यक् होती है तो केवल एक जो ध्रुव है, वही दोनों का विषय होता है और उसमें दोनों की अहम् रूप प्रवृत्ति होती है।

मुमुक्षुः- दोनों की माने?

पूज्य बाबूजी:- दोनों की, श्रद्धा और ज्ञान दोनों की अहम् रूप प्रवृत्ति होती है। श्रद्धा भी बोलती है 'मैं' और ज्ञान भी बोलता है 'मैं'; 'मेरा' नहीं बोलता है। 'मेरे' में चिंतन हो जाता है (अर्थात्) विकल्प हो जाता है। जैसे कि 'मेरा' जो है, वो उसमें आता है अपने कर्ता-कर्म अधिकार में। जो 'मैं' है, वो जीवाजीव अधिकार में आता है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- मैं कर्ता और ये मेरे कर्म, मैं क्रोधी और ये क्रोध मेरा कर्म। जब ज्ञान हो जाता है तो मैं ज्ञायक और ये ज्ञान मेरा कर्म, लेकिन ये भी विकल्प है। ऐसा जानता हुआ (कि) क्रोधादिक मेरे कर्म नहीं हैं, मेरा कर्म तो केवल ज्ञान है - यहाँ पूर्ण विराम नहीं है। ऐसा जानता हुआ जब तक निर्विकल्प न हो तब तक जाना नहीं (है)।

मुमुक्षुः- बराबर! ऐसा जानता हुआ जब तक निर्विकल्प न हो...

पूज्य बाबूजी:- निर्विकल्प नहीं हो, (क्योंकि) ये तो विकल्प हैं।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, श्रद्धान नहीं होता है। इसलिए टीका में भी ऐसा आता है **उनको जानता हुआ आत्मा को जानता है,** अपनी आत्मा को जानता है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बराबर!

पूज्य बाबूजी:- ऐसा! माने अगर केवल ये कह दिया जाए कि वो तो राग को केवल जानता है, क्रोध को केवल जानता है, तो क्रोध का जानना तो दुखदायक है। उसमें सुख क्या है? क्रोध को जानना; वो तो एक बार जान लिया कि (क्रोध) मेरा नहीं है, मेरे में नहीं है, मेरे से बाहर है, मेरा हिस्सा नहीं है, मेरा अवयव नहीं है (और) मेरा कोई तत्त्व इसमें नहीं है; अचेतन है, अजीव है, पुद्गल है - ऐसा जान लिया। ऐसा जानता हुआ आत्मा को जानता है। तो आत्मा को जाना तब ही तो ये

9 'मैं' और 'मेरे' में क्या अंतर है? - 44.19 Mins

परत्व होगा, वास्तविक परत्व कि 'ये मैं हूँ। इससे अनमेल जितने हैं वो सबके सब पराए हैं।' सबका है .....

मुमुक्षु[10]:- एक-एक परिणाम को जानकर आत्मा का स्वरूप अलग-अलग जानता है। आत्मा को जानता है।

पूज्य बाबूजी:- आत्मा को जानता है। वहाँ तो, विकल्प ही है वहाँ तो। वहाँ तो विकल्प है।

मुमुक्षुः- आत्मा को जानना वही कर्म है। सचमुच तो वही कर्म रहना चाहिए बाबूजी!

पूज्य बाबूजी:- हाँ! नहीं अपन ऐसा जान लें न कि 'ज्ञान मेरा कर्म है', 'ज्ञान मेरा कर्म है' तो यहाँ, यहाँ भी तो पर्यायदृष्टि समाप्त नहीं हुई न। 'ज्ञान मेरा कर्म है' माने ये जानना मेरा कर्म है, तो वो अपरिणामी कहाँ हाथ आएगा? अकर्ता और अपरिणामी? उसमें 'मेरा कर्म है' (तो) उसमें कर्म मान लिया इसने तो। जबकि उसमें तो कर्म तो है ही नहीं, वो तो निष्कर्म है और अपरिणामी है। तो उसको तो पर्याय में घसीट लाये। तो यहाँ तक भी क्षम्य नहीं है वो अपराध।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! ज्ञान आत्मा को जानता है उतना भेद भी क्षम्य नहीं होता?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! क्योंकि यहाँ तक आता है न कि 'ये जो क्रोधादिक हैं - ये मेरे कर्म नहीं हैं और मैं तो मात्र इनका जाननेवाला हूँ'। क्रोध वो मेरे में नहीं, मेरे में आता नहीं। लेकिन क्रोध का जैसा स्वरूप है, वैसा स्वरूप मेरे ज्ञान में आता है और मैं उसको जानता हूँ। उस स्वरूप को मैं जानता हूँ। उस स्वरूप को मैं जानता हूँ - यहाँ तक भी पर्यायदृष्टि है। इस स्वरूप को मैं जानता हूँ - तो ये पर्यायदृष्टि हो गई न ये तो। काम पर्याय का है न, तो उसने अपरिणामी को परिणामी मान लिया न।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- और निष्कर्म को कर्मवाला मान लिया।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- मैं तो जानता हूँ, जानना मेरा कर्म है (ऐसा माना)। असल में जो ध्रुव है उसका कर्म (तो) जानना भी नहीं है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- केवलज्ञान भी उसका कर्म नहीं है और कोई भी जाननेवाली पर्याय उसका कर्म नहीं है।

मुमुक्षुः- क्योंकि स्वयं निष्कर्म है।

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि कूटस्थ और निष्क्रिय कहाँ हुआ फिर? वो तो चल दिया।

मुमुक्षुः- जानना तो वो (तो) क्रिया हो गई और वो तो निष्क्रिय है।

पूज्य बाबूजी:- निष्क्रिय है।

मुमुक्षुः- जानना मेरा कर्म है, तो (वो) कर्म बन गया निष्कर्म स्वभाव (का)।

पूज्य बाबूजी:- रुक गया अगर यहाँ.... इतना जानेगा जरूर। इतना जरूर (है कि) यहाँ तक आएगा अवश्य। लेकिन यहाँ से आगे बढ़ जाएगा और निर्विकल्प हो जाएगा तब असली जानना होगा।

10 जानना मेरा कर्म है - ऐसा माने तो भी अपरिणामी हाथ नहीं आएगा। - 47.33 Mins

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! निर्विकल्प हुआ तब असली जानना हुआ।

पूज्य बाबूजीः- तब असली जानना हुआ। तब जानने की पर्याय भी निकल गई।

मुमुक्षुः- और 'मैं जानता हूँ' वहाँ तक आएगा जरूर।

पूज्य बाबूजीः- वहाँ तक आएगा, अवश्य आएगा। क्योंकि स्वरूप ही नहीं जानेगा तो फिर क्या करेगा? उनको पराया नहीं जानेगा, अन्य नहीं जानेगा, मेरे नहीं हैं - ऐसा नहीं जानेगा, तो फिर अपने तक आएगा कैसे? पर से एकत्व बना रहेगा। इसलिए जानेगा जरूर लेकिन आगे बढ़ जाएगा और अपना काम कर लेगा।

मुमुक्षुः- जानेगा जरूर पर 'मैं ये नहीं' इतना भी जानकर आगे चला जाएगा।

पूज्य बाबूजीः- 'मैं ये नहीं हूँ' - तो भी वहीं है ज्ञान अभी।

मुमुक्षुः- आहाहा! वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजीः- क्रोध को जान रहा है। आत्मा कहाँ जानने में आया? इसलिए ऐसा ध्यान करवाते हैं न तो उसमें फँसना नहीं चाहिए, कि 'आने दो इन क्रोध वगैरह को आने तो दे! आने तो दो। ठीक है!' (अरे!) आने क्या दो? वो तो आयेंगे तो आते ही होंगे। उसमें आने कौन देगा? तो 'आने दो इनको, तुम तो केवल देखते रहो'। तो देखते रहें माने उस बदबू को लेते रहें? क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष जो थे.... ये बंध गए, क्रोधादिक और रागादिक। फँस जाते हैं जीव, तत्त्व साथ नहीं हो तो फँसा हुआ तो अवश्य ही है। हाँ! हाँ! हाँ! हाँ! आनंद तो आता है। आनंद तो आता है।

मुमुक्षुः- जरा सी भी...

पूज्य बाबूजीः- ऐसा आनंद तो उसको भी आ जाता है जो प्राणायाम जो समाजवाले लोग करते हैं, जो नाड़ी योग करते हैं। योग में सिर्फ नाड़ियों की प्रक्रिया होती है ..... चार प्रकार की....। पीछे जो मेरुदंड है उसमें यहाँ रहती हैं। और जब वो साधना करता है इनकी, जड़-साधना। ..... तो उनकी साधना करता है, तो वो जो कुंडलिनी है कुंडलिनी कहते हैं उसको। वो कुंडलिनी कुसुमिना नाड़ी के सहारे-सहारे यहाँ पहुँच जाती है, यहाँ। और यहाँ पहुँचते ही उसके कंठ में एक रस बनता है। अब वो रस चूंकि वो ..... से न्यारे प्रकार का होता है। तो वो उसको ब्रह्मरस कहता है, ब्रह्मानन्द कहता है। बस!

मुमुक्षुः- वो जड़ की क्रिया है।

पूज्य बाबूजीः- जड़ है सारा, समूल जड़ है। वहाँ चला गया।

अपने यहाँ भी ऐसा होता है (कि) जब योगी शुक्लध्यान में पहुँचता है, तो उसका ये जो श्वासोच्छवास है वो यहाँ से बंद हो जाता है और यहाँ से आने लगता है।

मुमुक्षुः- वो भरतेश-वैभव पढ़ा था। तो वो भारत राजा ने ...साधन में .... निरंतर (continue) जागृत करके फिर तीन तक मालूम ही नहीं पड़े।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! लेकिन वो मुनिराज की दशा है। मुनिराज (की) शुक्लध्यान की दशा है। जब बहुत निष्कंप होता है न, तब ये स्वतः अपने-आप होती हैं शरीर की ये जो क्रियायें हैं। स्वतः अपने-आप! (और) यहाँ तो साधना ही इनकी होती है सीधी।

मुमुक्षुः- हाँ! ये तो सीधी जड़ की साधना हो जाती है।

पूज्य बाबूजीः- (और) यहाँ (तो) अपने आप आ जाती हैं।

मुमुक्षुः- अपने आप आ जाती है।

पूज्य बाबूजीः- स्वतः होती हैं।

मुमुक्षुः- अकंप, निष्कंप क्योंकि योग और उपयोग दोनों ही कर्म के आवागमन के निमित्त बन जाते हैं।

पूज्य बाबूजीः- दोनों ही स्थिर हो गए।

मुमुक्षुः- दोनों ही स्थिर हो गए।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!

जिनवाणी माता की जय हो!

जिनवाणी-स्तुति

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर २, तारीख २६-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षु[11]:- ऐसा करके स्वीकार का अर्थ होता है कि तद्रूप होना।

पूज्य बाबूजी:- इतने गहरे क्यों जाते हो आप उसमें? इतने गहरे क्यों जाते हो? स्वीकार माने स्वीकार, माने परिणमन। परिणमन! और स्वीकार वाणी से करना या विकल्प से करना, इसको स्वीकार नहीं कहते। परिणमन करना, उसको स्वीकार कहते हैं।

मुमुक्षु:- तद्रूप होना वही स्वीकार, तद्रूप होना?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! 'स्वीकार' शब्द था न आपका तो। स्वीकार एक बार विकल्प में भी कर ले, ज्ञान के विकल्प में, तो भी बहुत है बात इस समय में तो, इस पंचमकाल में। विकल्प में, ज्ञान के विकल्प में स्वीकार कर ले कि, 'मैं तो नितांत शुद्ध परिशुद्ध एकदम चिन्मात्र हूँ।' बस! इतना स्वीकार करे, हृदय से स्वीकार करे तो फिर आगे बढ़ती है बात (और) फिर परिणमन में आती है। इसलिए स्वीकार के व्यवहार और निश्चय दोनों रूप होते हैं। ये व्यवहार हुआ। स्वीकार किया कि मेरी चैतन्य सत्ता अद्‌भुत है एक विश्व में, ऐसा। तो फिर उसके संबंध में जो ज्ञान का चिंतन चलता है, बस वो चिंतन चलते-चलते चिंतन रुकता है (और) अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षु:- और कल आपने बोला न कि जो खाने के लिए रसलीन होकर जो करना होता है, ऐसे ही इस ज्ञायक का विचार रसलीन होकर करना चाहिए। तो मेरा ख्याल क्या था कि रसलीन होकर यानि कि वो मैं सुख और आनंद से लबालब भरा हूँ और मेरे में तीन काल, तीन लोक जानने की शक्ति है - मैं ऐसा वैभवशाली हूँ - वो ऐसा ही वो रसलीन यानि वो ऐसी बात होती है - ऐसा विचार करके?

पूज्य बाबूजी:- जैसे स्वस्थ आदमी को भूख लगती है, ऐसा। और वो खाने के प्रति जैसे छटपटाता है, आतुर होता है - ऐसी आतुरता, उसका नाम रसलीनता (है)।

मुमुक्षु:- गरज, गरज होनी चाहिए।

पूज्य बाबूजी:- पहले उसके रस को तो जाने, तब (तो) लीनता होगी कि उसमें कोई रस है - ऐसा जाने तो। और (ऐसा जाने कि) विलक्षण माधुर्य है (उसमें), विलक्षण मधुरता है - ऐसे सारे शब्द जिनवाणी में आए हैं शुद्धात्मा के लिए। मधुर है, मधुर स्वादवाला है क्योंकि इसको तो मीठा पसंद है न। तो आचार्य भी वो शब्द लाते हैं कि तुझे मीठा चाहिए तो है उसमें मीठापन; लेकिन

11 स्वीकार और रसलीन होने का अर्थ - 0 Min

अलग प्रकार का, सारे जगत से (कुछ) अलग प्रकार का, विलक्षण प्रकार का है। विलक्षणता में तो मन जाता है। विलक्षण प्रकार का और इससे भी सुंदर और कभी क्षीण नहीं होनेवाला.... ये तो क्षीण हो जाता है, चला जाता है, नष्ट हो जाता है (और) दुख देकर जाता है, इसके स्थान पर रखकर जाता है किसी को। संसार का जो रस है, (काल्पनिक) सुख है, वो तो दुख को रखकर जाता है। और वो (आत्मिक) सुख जो उत्पन्न होता है, वो तो अनंत हो जाता है। वो अपना स्थान किसी को देता ही नहीं।

मुमुक्षु[12]:- समयसार की ९२ गाथा में शीत-उष्ण का स्वाद तो पुद्गल का है लेकिन उसको जाननेवाला ज्ञान मेरा है - ऐसा कहा है। साथ में राग-द्वेष तो पुद्गल के हैं और उसको जाननेवाला ज्ञान मेरा है - ऐसा कहा है।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! ऐसा आया।

मुमुक्षु:- तो ज्ञान 'मेरा' और 'मैं' - ऐसा द्विपना है क्या?

पूज्य बाबूजी:- नहीं! द्विपना नहीं (है)। असल में अधिकार का नाम कर्ता-कर्म है, इसीलिए वो भाषा लानी पड़ी (कि) मेरा कर्म ज्ञान है। शीत और उष्ण को जानना, ये जानना मेरा कर्म है। शीत और उष्ण होना - ये मेरा कर्म नहीं है। तो मैं कर्ता और ज्ञान मेरा कर्म, बस! - ऐसा पहले विकल्प में हुआ, ये तो। बस! फिर विकल्प तोड़कर मैं ज्ञायक वो भूमिका आती है उसके बाद।

[13]इसका ज्ञान इतना सूक्ष्म होता है न तो वो जानता है कि ये तो विकल्प हैं और अभी जो अनूठा स्वाद उत्पन्न होनेवाला है, वो हुआ नहीं (है)। इसलिए अभी विकल्प दशा ही है।

मुमुक्षु:- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- जिस समय अपूर्व और विलक्षण स्वाद पैदा होता है, तो उस समय जान लेता है कि अब विकल्प नहीं, अब (तो) स्वाद आ गया है।

मुमुक्षु:- स्वाद आ गया।

पूज्य बाबूजी:- उस स्वाद को तू ही जानेगा, तू ही चखेगा। (किसी) और से पूछने की ज़रूरत नहीं है कि मेरे (को) स्वाद आया या नहीं आया? मैं आज ऐसे ध्यान में बैठा, मुझे आनंद तो आया लेकिन आनंद आया कि नहीं? तो किससे पूछता है? मैं ये खा रहा हूँ, तो मुझे ये स्वाद आ रहा है। तो आ रहा है कि नहीं आ रहा है? - ये पास में बैठेवाले से पूछता है; तो उसको नहीं आया (स्वाद)। जो किसी से पूछता है उसको हुआ ही नहीं क्योंकि वो अत्यंत अपूर्व और विलक्षण है न। तो इसीलिए स्वयं जान लेता है कि ऐसा स्वाद आज तक पहले कभी आया नहीं - ऐसा जान

12 समयसार गाथा ९२ की चर्चा - 4 Mins

13 अज्ञान दशा में भी ज्ञान कितना सूक्ष्म हो जाता है, अनुभव के पहले। - 5.05 Mins

लेता है। तो कितना सूक्ष्म हुआ ज्ञान कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकल्प हों, तब भी ये जान लेता है कि अभी वो स्वाद नहीं आया।

मुमुक्षुः- ओहोहो!

पूज्य बाबूजीः- अभी तो वही चल रही है बात। अपूर्व स्वाद नहीं आया अभी।

मुमुक्षुः- हालाँकि पहले अनादि से कभी स्वाद नहीं लिया होने पर भी वो ज्ञान जान लेता है।

पूज्य बाबूजीः- तब ही तो जानता है कि जिनका स्वाद लिया उनसे ये विलक्षण है।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- तब ही जानता है। पहले ले लिया होता तब तो पुनः स्मरण होता, लेकिन पहले लिया नहीं (है)। तो इसलिए वहाँ पर समानांतर हो जाता है न। मिलान (comparison, तुलना) हो जाता है वहाँ पर कि उससे ये विचित्र प्रकार का (कोई) विलक्षण प्रकार का है। अपूर्व है कुछ! पहले कभी आया ही नहीं ऐसा स्वाद।

मुमुक्षुः- ऐसा ख्याल में आ जाएगा? आ जाएगा?

पूज्य बाबूजीः- ऐसा आ जाएगा।

मुमुक्षुः- इसका नाम अनुभव है?

पूज्य बाबूजीः- इसका नाम अनुभव है।

मुमुक्षुः- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान।

पूज्य बाबूजीः- जैसे यूँ ही यहाँ लौकिक में ही लें कि यहाँ जैसे अपन रोटी-सब्जी और जो भी व्यंजन हैं, वो खाते हैं और देवों के अमृत झरता है। तो वो इतना तो अंतर जानते हैं न कि ऐसा तो हमने मनुष्य जीवन में खाया ही नहीं। ऐसा स्वाद (कभी) आया ही नहीं। इतना जानते हैं देव कि नहीं जानते? महास्वादिष्ट होता है वो अमृत जो झरता है; लेकिन है पुद्गल। और ये जो अमृत है - ये चैतन्य है।

[14]**मुमुक्षुः-** प्रश्न है (कि) ज्ञेय से ज्ञान होता नहीं और ज्ञेय का ज्ञान होता नहीं - इस संबंध का निषेध है। तो ज्ञान, शक्ति से कैसा है? ज्ञान, शक्ति से कैसा है?

फिर से... ज्ञेय से ज्ञान होता नहीं और ज्ञेय का ज्ञान होता नहीं - इस संबंध का निषेध है। तो ज्ञान, शक्ति से कैसा है? माने ज्ञान का स्वरूप क्या है?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान का स्वरूप जानने का ही है। सच्चाई तो ये है कि उसमें स्व ही जानने में आता है - ये स्वरूप है ज्ञान का। सदा ही, हमेशा ही अज्ञानी को भी और ज्ञानी को भी, सबको ही स्व ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी जानता नहीं कि स्व कौन है, तो वो इनकार करता है। और ज्ञानी जानता है कि एक बार जो उसको अनुभव हुआ, रसास्वादन हुआ, तो वो जानता है

14 ज्ञान स्वरूप से कैसा है? - 8.04 Mins

कि ये मेरा स्वाद है। तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को ज्ञान ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी ये मानता है कि मैं किसी अन्य को जान रहा हूँ। पर को जान रहा हूँ क्योंकि ज्ञेय नहीं आते ज्ञान में, लिखा है न प्रश्न में।

ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते और जानने का काम तो हो रहा है। और वो कार्य कहाँ हो रहा है? ज्ञान में ही हो रहा है। तो ज्ञान में हो रहा है और जानने का कार्य हो रहा है, तो कर्म कौन है? जानने में कौन आ रहा है? क्योंकि वहाँ कोई दूसरा तो आनेवाला नहीं है। इसलिए स्वयं ही जाननेवाला और स्वयं ही ज्ञेय (है)। इस तरह ये है ज्ञान की शक्ति का स्वरूप, वास्तविक स्वरूप ये है।

फिर इसके बाद, पर को जानना - ये बात आती है, अवश्य आती है; उसका नाम व्यवहार है। क्योंकि जब इसका नाम वास्तविक है, निश्चय है, तो शेष जो दूसरी विधियाँ हैं वे सब व्यवहार में चली जायेंगी, अपने आप ही।

मुमुक्षुः- तो वो उसके बाद की बात है।

पूज्य बाबूजीः- उसके बाद की है। जब तक अभी ये स्व को नहीं जानता है, तब तक तो ज्ञेय और ज्ञान का भेद ही नहीं मालूम इसको।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- भेदविज्ञान ही नहीं हुआ। और भेदविज्ञान जब स्वानुभूतिरूप परिणमन करता है, तब ये जानता है कि ये मेरी चैतन्य सत्ता है, ये सत्ता है। अब इससे विलक्षण जितने हैं वो सब ज्ञेय हैं, लेकिन वे मेरे में आते नहीं (हैं)। जानता ज़रूर हूँ लेकिन जानता अपनी विधि से हूँ। माने ठीक वैसे के वैसे आकार यहाँ अपनी शक्ति से बनाता हूँ। ये ज्ञान शक्ति का काम (है)। शक्ति माने गुण नहीं है यहाँ (बल्कि) पर्याय, ज्ञान पर्याय।

तो ज्ञान की शक्ति ये है कि वो उन ज्ञेयों जैसी रचना अपने आप स्वरस से स्व-सामर्थ्य से करती है और वही ज्ञान के जानने में आता है। न ज्ञान कहीं जाता है और न ज्ञान किसी को अपने अंदर बुलाता है। स्थिति तो ये है; हर पदार्थ की स्थिति है ये तो। वस्तु व्यवस्था ही है न ये तो कि आत्मा और आत्मा जितना ज्ञान है। और ज्ञान, ये उसकी सीमा ऐसी है कि जिसके भीतर किसी का प्रवेश नहीं (है) - एक बात तो ये। यहाँ से किसी को बाहर जाना नहीं। और जानना ज़रूर होता है, तो फिर वो कहाँ हुआ? कि यहीं हुआ। 'तो किसका हुआ?' - बस! अब प्रश्न ये है। कि किसका हुआ? कि जो वहाँ है उसी का हुआ जानना। और किसको जानेगा?

तो वो जो ज्ञेय के जैसे आकार होते हैं। आकार माने द्रव्य गुण और पर्याय, ये लेना। आकार माने ऐसे आकार नहीं लेना। द्रव्य-गुण-पर्याय जैसा कुछ (ये) उस ज्ञान को जानना है। ठीक वैसा का वैसा स्वरूप ज्ञान में आता है। वैसा का वैसा! तो ऐसा लगता है कि जैसे वो ही ज्ञान में आ गया हो। ये तो अज्ञानी का काम है। और ज्ञानी जानता है कि मेरी सीमा को तोड़कर कभी कोई आनेवाला है नहीं (है)। इसलिए ये तो मैं ही हूँ, ज्ञान ही हूँ। तो ऐसा करके और वो प्रसन्न होता है।

'मैं ही हूँ' - ऐसा करता हुआ वो वेदन में चला जाता है। और आज्ञानी जो है वो सादृश्यता (resemblance) होती है न दो की.... जैसे शक्ल मिलती हो। तो इधर तो ज्ञान ने जो उसके स्वरूप को बनाया, स्वरूप को जाना, तो एक तो (इधर) ज्ञान की वो पर्याय और उधर वो ज्ञेय (है)। ये दोनों ऐसे मिलते हैं कि जैसे दोनों में अंतर कुछ नहीं हो।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजीः- इस तरह।

मुमुक्षुः- माने ज्ञान के आकार बनाने की तकनीक (technology) ये है कि सामने जो ज्ञेय है उस ही प्रकार के आकार ज्ञान खुद ही अपने आप से बनाता है।

पूज्य बाबूजीः- ठीक उस प्रकार का। ठीक माने ज़रा भी एक प्रतिशत (cent), माने कोई फरक नहीं ज्यादा। फरक माने आगे-पीछे कुछ नहीं। बिल्कुल वैसा का वैसा। तो वैसा का वैसा ज्ञान जान रहा है और उधर ज्ञेय पड़ा है। तो दोनों की शक्ल ऐसी मिलती-जुलती है कि अज्ञानी भ्रम में पड़ जाता है और अज्ञानी जानता है कि ये मेरे भीतर ही आ गए हैं।

जैसे दर्पण में जैसे.... दर्पण में ठीक जैसा है वैसा का वैसा, उतना का उतना (और) वैसा का वैसा दिखाई देता है, तो अपन ही भ्रम में पड़ जाते हैं कभी कि दर्पण के पास रखी हुई जो वस्तु है, वो उधर रखते ही दो हो गई।

मुमुक्षुः- बराबर! दो हो गई।

पूज्य बाबूजीः- दो हो गई। एक लाख के नोट रखे, तो दो लाख हो गए। और हटाते ही एक लाख रह गए। तब समझ में आता है कि वो वास्तव में भीतर गए नहीं थे। और वो दर्पण का स्वरूप ही था और वो दर्पण का ही आकार था, वो दर्पण की ही पर्याय थी; मेरा उसमें कुछ नहीं (है)।

मुमुक्षुः- ये क्या कहें कि दर्पण का ही आकार था और दर्पण की ही पर्याय थी। जैसे अग्नि, तो अग्नि का आकार जो है (वो) दर्पण में है तो दर्पण की ही पर्याय है - ये कैसे? माने ये समझ में थोड़ा....

पूज्य बाबूजीः- दर्पण की ही पर्याय इसीलिए है कि उसे देखें हम तो उसमें गर्मी नहीं है। उसमें जो है वो और-और अग्नि के जो धर्म होते हैं (जैसे कि) जलाने का और-और जो होते हैं, वो उसमें नहीं हैं। दर्पण में हाथ लगाओ तो गरम नहीं लगता है। तो स्पष्ट हो गया कि ये दर्पण ही है सारा। वरना उसको कितना, माने जो स्वामी है दर्पण का, उसको कितनी तकलीफ हो जाएगी कि अग्नि अगर दर्पण के भीतर चली जाए तो वो दर्पण टूट जाएगा।

टूटे बिना तो होता ही नहीं है ये। ज्ञान में अगर कोई आना चाहे तो सबसे पहले तो ज्ञान की सीमा टूटे। आत्मा की सीमा टूटे तो आत्मा का नाश हो, तब (ऐसा) हो। वरना नहीं हो सकता है। सीमाबद्ध ऐसी है न यहाँ तो कि हर एक का अपना-अपना अधिकार-क्षेत्र (jurisdiction) है,

अपना-अपना। एकदम सीमाबद्ध (है), मोहरबंद (sealed) सीमा हैं, सील्ड (sealed) - जिसमें किसी का अतिक्रमण और पदार्पण नहीं हो सकता।

मुमुक्षुः- माने किसी भी ओर से गुंजाईश नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- बस! तो वो जानने का जो आकार का जो सुमेल है न, तो वो आकार के सुमेल से अज्ञानी तो भ्रम में पड़ता है, तो उसको वो पदार्थ ही मान लेता है, ऐसा। अपने को भ्रम हो जाता है कि नहीं?

जैसे एक बालक को भ्रम होता है न कि जैसे वो चल रहा है और आगे-आगे उसकी परछाईं चल रही है, सूर्य की। तो वो कहता है पापा ये देखो मेरे आगे-आगे कौन भाग रहा है? अब उसको ये नहीं मालूम कि ये परछाईं मेरी ही है। इसी तरह वो स्वयं सारा का सारा ज्ञान ही है। ज्ञान का ही चित्रण है, ज्ञान की ही परछाईं है - यूँ समझ लें; लेकिन वो उसको ज्ञेय मानता है अज्ञानी। और ज्ञानी को ये भेदविज्ञान प्रचंड हुआ है तो वो जानता है कि यहाँ आनेवाला है कौन? कोई आ भी तो नहीं सकता यहाँ, इसलिए मैं ही हूँ। तो मैं ही हूँ तो एकदम हर्षित होता है। अब वो उसको (अज्ञानी को) विषाद होता है, दुख होता है उसको।

मुमुक्षुः- माने भगवान के दर्शन का जो रागकर्म उदय में आया और उस ही भाँति ज्ञान में ज्ञान से ज्ञान का आकार बन गया....

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ज्ञान का कर्म हो गया वो। ज्ञान का जो आकार है, उसको प्रतिभास कहते हैं। उसको प्रतिभास कहते हैं (कि) ज्ञेय का जैसा आकार जो बनता है ज्ञान में, उसको कहते हैं प्रतिभास; विकल्प, ज्ञान का विकल्प। तो वो प्रतिभास ठीक वैसा ही होता है और हर समय होता है। ज्ञान कभी खाली नहीं रहता। या तो स्वयं उसमें स्व-आकार, अपना आकार (अर्थात्) ज्ञेयाकार जानने में आएगा, ज्ञायकाकार; या फिर परपदार्थ का आकार जानने में आएगा। लेकिन परपदार्थ का आकार उस ही के पास रहेगा। यहाँ तो वो सिर्फ जाननभावरूप है सारा का सारा।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजीः- पदार्थ जो जड़ है वो तो अपने स्थान पर है, अपने द्रव्य-पर्याय को लेकर। यहाँ जो जानना हो रहा है उसके द्रव्य-पर्याय का ये सब ज्ञानरूप है। ये सब ज्ञान का बना हुआ है।

मुमुक्षुः- माने ये ज्ञान के ही material (सामग्री) हैं।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ये ज्ञान के पकवान हैं ये, इसीलिए वो आनंदित होता है।

और अज्ञानी को जो भ्रम होता है तो उसमें तुरंत चिंतित होता है कि इस तरह तो मेरे (अंदर) कोई भी आ सकता है। तो कोई भी मुझे खा सकता है, कोई भी परेशान कर सकता है, तकलीफ दे सकता है। बस इस ही भ्रम में निरंतर अज्ञानी तकलीफ में रहता है; और बात इतनी सी है, छोटी सी कि कोई कभी आनेवाला है नहीं। मेरा ज्ञान तो कभी गर्म नहीं होने वाला, कभी

काला-पीला नहीं होने वाला (है), कभी मीठा-खट्टा नहीं होने वाला (है)। कुछ नहीं होने वाला (है) - इस तरह निश्चिंत होता है।

वो ज्ञान ही जानने में आ रहा है यहाँ तक आया, तो यहाँ तक विकल्प ही है। स्व के संबंध में होनेवाला ये विकल्प। पर इस विकल्प से क्या साध्य है कि ज्ञान ही जानने में आ रहा है? कि ये तो मैं ही हूँ सचमुच। ये जो अनेक आकार हैं, इन आकारों को गौण करके और अंत में एक करता है कि बस! एक अखंड प्रतिभास है ये ज्ञान का।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- और ये मैं ही हूँ। इस तरह 'मैं' कहते ही वो ज्ञायक पर चला जाता है क्योंकि प्रारंभ से लक्ष ये बनाया था कि मुझे ज्ञायक पर जाना है। वरना वो यहाँ अटक जाएगा तो फिर (से) पर्यायदृष्टि में अटका वो।

मुमुक्षुः- ये क्या कहा? स्वरूपलक्षी विकल्प में भी पर्यायदृष्टि होने का.....

पूज्य बाबूजीः- पर्यायदृष्टि में अटक गया न। 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ' या 'मैं ही अपने को जान रहा हूँ', तो ये विकल्प है न ये तो। विकल्प में अटक गया और आगे नहीं बढ़ा, तो इसका अर्थ ये कि इसका लक्ष ठीक नहीं था। इसने केवल पढ़कर-सुनकर और ये याद कर लिया है। उसको रहस्य मालूम नहीं है।

मुमुक्षुः- 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ', वहाँ भी भेद है।

पूज्य बाबूजीः- भेद है न, पूरा भेद है। 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ' - पूरा भेद है। अभेद कहाँ हुआ एकदम? एकदम तल्लीनता कहाँ हुई? तल्लीनता होती है अनुभूति में तो कि जहाँ तरंग होती ही नहीं है विकल्प की।

मुमुक्षुः- 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा?

पूज्य बाबूजीः- हाँ!

मुमुक्षुः- स्वरूपलक्षी विकल्प में भी पर्यायदृष्टि होती है वो जरा एकदम...

पूज्य बाबूजीः- हो गई न (पर्यायदृष्टि) यहाँ रुक गया वो (कि), 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आता हूँ' या 'मेरी पर्याय ही जानने में आती है'। तो हो गया न! यहाँ रुक गया (वो)। इसका अर्थ ये था कि इसने ज्ञायक का निश्चय (ही सही) नहीं किया था पहले।

मुमुक्षुः- आहाहा! पहले निश्चय करना चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- तो ये केवल जो है सुनी-सुनाई बात कोई (वो) उसके विकल्पों में चल रही है। तो यहाँ तक भी अगर रुक जाता है वास्तव में, तो विकल्पमूढ़ है वो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि।

मुमुक्षुः- माने जैसे 'राग को जान सकता हूँ' उसी भाँति 'मैं मेरे (को), अपने आप को जान रहा हूँ' - इन दोनों में कोई फ़र्क नहीं है?

पूज्य बाबूजी:- कोई फ़र्क नहीं है, कोई फ़र्क नहीं है। दोनों (ही) पर्याय दृष्टिवाले हैं। इसलिए जैसे प्रयोग्यलब्धि तक जाकर और वापस लौट जाता है, करण में प्रवेश नहीं करता, ऐसे ही ये लौट जाएगा।

इसलिए लक्ष तो पहले बनाना पड़ेगा। ध्येय का तो पहले निर्णय करना पड़ेगा। पहले निर्णय करके फिर ये बीच का रास्ता है ये विकल्प का, ये बीच का रास्ता है। तो इसको पार करता जा रहा है वो। इसमें तबीयत कहाँ है उसकी? इसमें उसकी भीतर से तबीयत नहीं लग रही है, विचार कर रहा है तो। लेकिन प्रसन्नता है क्योंकि लक्ष ज्ञायक का है और वो (अभी) मिलनेवाला है - इसकी प्रसन्नता है; इसलिए अनुराग भी है। विकल्प भी, आत्मा के प्रति अनुरागात्मक विकल्प हैं न ये। आत्मा के प्रति अनुराग है - ऐसा विकल्प।

मुमुक्षु:- आत्मा के प्रति अनुराग है - ऐसा विकल्प।

पूज्य बाबूजी:- अनुराग रूप विकल्प - ऐसा। है विकल्प ज्ञान का।

[15]मुमुक्षु:- वीतराग के प्रति भी राग से कोई बात बननेवाली नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! नहीं बननेवाली है। इसलिए वो 'जानना' आया उसमें (प्रवचनसार की) ८० वीं गाथा में। ८० वीं गाथा में 'जानना' आया है। **अरिहंत को जो द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है** - जानने की बात है। 'भक्ति करता है' - वो नहीं आया। भक्ति तो साथ चलती है वो अलग बात है।

मुमुक्षु:- ये एक जानना और भक्तिवाली बात बाबूजी बताइए क्या है (इसमें)? हम तो भक्ति कर रहे हैं ... भगवान की।

पूज्य बाबूजी:- नहीं! भक्ति कर रहे हैं लेकिन ज्ञान के बिना भक्ति कहाँ से होगी? ज्ञान के बिना स्वरूप जाना ही नहीं गया तो भक्ति कहाँ से होगी? इसलिए ज्ञान में पहले स्वरूप जाने और जब ये जाने कि अरिहंत परमात्मा की महिमा ऐसी है कि लोक में एकमात्र वे ही मोक्षमार्ग के विधाता हैं और कोई नहीं है, तो तुरंत भक्ति पैदा होती है ज्ञान के साथ; लेकिन भक्ति का क्षेत्र न्यारा है। वो भक्ति जो है वो मुक्ति की ओर ले जानेवाली नहीं। मुक्ति की ओर तो ये ज्ञान जाएगा। ज्ञान अपने उपादान से जाएगा मुक्ति की ओर।

तो वो द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर और फिर आत्मा से मिलाता है। तो आत्मा से मिलाता है, उसमें ये देखता है कि जो भगवान अरिहंत हैं, तो उनके राग और द्वेष और पुण्य और पाप इत्यादि जितने (भी) विकार हैं, वे नहीं हैं। तो भी भगवान अरिहंत पूरे आत्मा हैं। माने ये सब टूट गए जो (कि) अनादिकाल से चले आ रहे थे राग-द्वेष-मोह। ये सब (अब) टूटे हैं। आत्मा से पहले जुड़े हुए थे, संधि थी बीच में; लेकिन जुड़े हुए थे आत्मा से। तो ये सब टूटे; टूटे लेकिन आत्मा में कोई क्षति नहीं हुई द्रव्य-गुण-पर्याय में। तो भगवान अरिहंत वो पूरे परमात्मा हैं।

15 प्रवचनसार गाथा ८० - 22.16 Mins

तो इस ही तरह अपने को मिलाता है कि मेरा द्रव्य समान है, मेरे गुण भी समान हैं। लेकिन पर्याय असमान है - ऐसा नहीं बोलता है; अब (ऐसा) नहीं बोलेगा, अरिहंत को जानने के बाद। अरिहंत को नहीं जानेगा तब तक बोलेगा कि पर्याय असमान है; लेकिन (वास्तव में) पर्याय भी समान है क्योंकि वे भी उनका जो ज्ञान है वो भी चैतन्य के उन्मुख है, सन्मुख है, भगवान अरिहंत का; और मेरा जो ज्ञान है उसमें भी राग नहीं है, द्वेष नहीं है, पाप नहीं है, पुण्य नहीं है। मैंने (ऐसा) माना (था) तो वो केवल अज्ञान से माना (था) कि मेरा ज्ञान रागी-द्वेषी मोही हो गया है। ऐसा मैंने अज्ञान से माना। तो ये राग-द्वेष-मोह ये ज्ञान से बिल्कुल न्यारे प्रकार के (और) न्यारी जाति के भाव हैं। इसलिए वो ज्ञान में आ ही नहीं सकते। तो सदा से ही न्यारे रहे हैं और ये सदा से ही उनको ज्ञान में आत्मामय मानता रहा। तो आत्मा को रागी-द्वेषी मानता रहा है, हमेशा से।

तो जैसे भगवान ने राग-द्वेष-मोह छोड़े.... छूट गए उनके, क्योंकि वो (तो) न्यारे ही थे और न्यारे होते ही और वो शुद्धात्मा की ओर देखने लगे; इसी तरह मेरा ज्ञान भी न्यारा ही है इनसे राग-द्वेष-मोह से। मैंने सिर्फ माना है लेकिन ज्ञान कभी रागी-द्वेषी-मोही नहीं हुआ और आत्मा रागी-द्वेषी मोही नहीं हुआ। ये दोनों साथ ही चलते हैं। लेकिन ज्ञान के द्वारा अच्छा समझ में आता है कि ज्ञान इनके स्वरूप को जान तो लेता है, लेकिन फिर भी वो रागमय नहीं होता। रागी नहीं हो जाता है ज्ञान। तो इसलिए मेरा ज्ञान भी शुद्ध है। अब आया ये इस बात पर कि मेरे ज्ञान में जो राग-द्वेष-मोह पहले जो दिखाई देते थे, मैं मानता था कि मैं रागी हूँ, तो वो वास्तव में बाहर ही हैं। ज्ञान में आए ही नहीं हैं। ज्ञान ने जाना पर जानने के द्वार से, जानने के माध्यम से कोई पदार्थ भीतर आता नहीं है। वो ज्ञान ही है सारा का सारा इसलिए मैं तो ज्ञान ही हूँ। ऐसा जानते ही राग-द्वेष-मोह को न्यारा जाना कि ये बिल्कुल अलग हैं। मेरी आत्मा से भी अलग, ज्ञान से अलग, मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय से भी अलग हैं। तो मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय और भगवान अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय में कोई अंतर नहीं रहा क्योंकि वो भी अपनी शुद्ध पर्याय से, केवलज्ञान की पर्याय से चैतन्य को देखते हैं, निरंतर; और मैं अपनी श्रुतज्ञान की पर्याय से चैतन्य का दर्शन कर रहा हूँ। अब क्या रहा? राग-द्वेष-मोह को न्यारा जानते ही पहले ज्ञान राग-द्वेष-मोह में ही लगा था। अब वहाँ से छूटा तो केवल एक ज्ञायक रह गई जगह (आश्रय करने के लिए) और कोई नहीं रही। दूसरी कोई जगह ही लोकालोक में नहीं है। लोकालोक से तो पहले ही छूटा है। तो लोकालोक में कोई जगह नहीं (बची) है, तो एक मात्र ज्ञायक ही रहा। उस ज्ञायक की ओर दौड़ जाता है।

तो भगवान अरिहंत यद्यपि सशरीर हैं, शरीर सहित हैं, चार अघातिया कर्म हैं - ये सब हैं। लेकिन इन सबके होते हुए भी इन सबको न्यारा जानते हैं। योग गुण की जो पर्यायें हैं उनको भी न्यारा जानते हैं। माने सब अवस्थाओं को न्यारा जानते हैं और अपने आप को केवल शुद्ध परमात्मा जानते हैं। शुद्ध चैतन्य जानते हैं।

अब इसकी पर्याय श्रुतज्ञान की क्या जानती है? कि वो भी एक ही (को) जानती है। ये ऐसा का ऐसा स्वरूप निश्चित किया। जैसा भगवान का स्वरूप (है) ठीक वैसा ही द्रव्य-गुण-पर्याय में (वैसा ही) मेरा स्वरूप है। मैंने भ्रम से पर्याय को अशुद्ध माना था, पर्याय में अशुद्धता का भ्रम किया था।

मुमुक्षुः- मेरी पर्याय में अशुद्धता का भ्रम था।

पूज्य बाबूजीः- भ्रम था। तो वो भ्रम निकल गया क्योंकि राग-द्वेष-मोह न्यारे ही थे और न्यारे हैं। न्यारे किये नहीं (हैं) इसने।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! न्यारे किये नहीं।

पूज्य बाबूजीः- करने का धंधा नहीं करता है ज्ञान। ये ज्ञान करने का धंधा कभी नहीं करता है। वो तो कर्म से तो सदा ही न्यारा है। जैसे आत्मा निष्कर्म है, वैसे ज्ञान भी निष्कर्म है - ऐसे।

मुमुक्षुः- पर्याय से भगवान जैसा खुद (को) मानने को अंदर से थोड़ा सा, भीतर से डर लगता है कि ये भगवान का अविनय तो नहीं हो जाएगा?

पूज्य बाबूजीः- भगवान का अविनय नहीं (है क्योंकि) भगवान ने कहा है ये। ये वाणी भगवान की (ही) है।

मुमुक्षुः- ऐसे भीतर से डर लग रहा है (कि) भगवान के जैसा अपने आप को माने तो भगवान का अविनय तो नहीं होगा - इस तरह का डर सा....

पूज्य बाबूजीः- भगवान का आदर हुआ इसमें।

मुमुक्षुः- बस! ये कहना था।

पूज्य बाबूजीः- भगवान को जानकर भगवान बन गया, इसमें भगवान का आदर है कि ये भगवान जो हैं वो नौकरी (service) नहीं कराते हमेशा लेकिन अपने जैसा बना लेते हैं।

मुमुक्षुः- ये बात है! नौकरी (service) नहीं करवाते। स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र बनाते हैं।

पूज्य बाबूजीः- स्वतंत्र बनाते हैं।

[16]मुमुक्षुः- कलकत्ता में फरमाया था कि थोड़ा सा तो पर्याय में खिसकना पड़ता है। वो खिसकना माने क्या?

पूज्य बाबूजीः- खिसकना बस ये ही, इतना ही खिसकना है (कि) ये न्यारे हैं मेरे से। और मैं इनसे अत्यंत न्यारा हूँ, 'ज्ञान हूँ मैं'। इनकी जाति-प्रकृति-स्वभाव ये मेरे से बिल्कुल मिलते नहीं हैं। नहीं मिलते हैं इसलिए ये न्यारे रहे। ईमान-धर्म तो उनमें भी है राग-द्वेष-मोह में कि वो न्यारी जाति के हैं, शूद्र जाति के हैं इसलिए वो मिलते नहीं हैं, आत्मा के किसी भी भाव के साथ में। लेकिन आत्मा ही वहमी हो जाए, भ्रम में पड़ जाए तो वो क्या करें?

मुमुक्षुः- बराबर! माने ईमान-धर्म उनमें भी है।

16 पर्याय में खिसकना पड़ेगा, खिसकना अर्थात् क्या? - 29.45 Mins

पूज्य बाबूजी:- उनमें भी है ईमान-धर्म।

मुमुक्षु:- वो ठेका हमने ही लेकर रखा है ऐसी बात नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- तो वो मिलते नहीं हैं आत्मा के साथ, विपरीत हैं न बिल्कुल। तो दो विपरीत तत्त्व कभी अँधकार-प्रकाश मिलते नहीं हैं। तो वो मिले नहीं अनादि से ही। एक तो उत्कृष्ट बात है ये कि अनादि से ये मिले नहीं (हैं) और ज्ञान में केवल भ्रम रहा कि राग का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान में जानने में आया - जाननेरूप। जाननेरूप, सारा का सारा वो राग है। यहाँ ज्ञान है सारा का सारा (और) वैसा का वैसा।

जैसे चित्र होता है न। एक तो व्यक्ति और एक उसका फोटो - ऐसा है। लेकिन उस फोटो को भी अपन कहते हैं कि ये मैं हूँ। फोटो में कोई कहे कि तुम कहाँ हो? तो कहें कि मैं ये रहा, ऐसा कहता है। तो ये व्यवहार रीति (है) लेकिन निश्चय जानने के बाद फिर ये व्यवहार प्रगट हो - इस तरह का।

इसलिए खिसकने का अर्थ है बसंतभाई! बस यही खिसकना कि राग-द्वेष-मोह मेरे से न्यारे ही थे अनादि से, और आज भी न्यारे ही हैं और भविष्य में भी रहेंगे तो न्यारे ही रहेंगे। और मैं इनसे अत्यंत न्यारा हूँ, मेरा इनसे किंचित् मात्र भी संबंध नहीं है, बस इसका नाम खिसकना। बस इतना सा खिसकना पड़ा। और क्या खिसकना? माने ज्ञान खिसका थोड़ा सा कि पहले उनको अपने साथ (मिलाता था)। शूद्र के साथ खाता था पहले, (उनको) शामिल (करता था)। अब शूद्र को अलग कर दिया तो ये अलग रह गया। इस तरह से पुण्य-पाप दोनों शूद्र हैं।

मुमुक्षु:- आपको ये फासला कम दिखता है हमें तो बहुत लंबा लगता है।

पूज्य बाबूजी:- फासला तो एक क्षण का है।

मुमुक्षु:- एक क्षण का है। बराबर!

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि ये भी तो, यहाँ भी तो ये सिद्ध गति है एक क्षण की। एक क्षण में ये सिद्ध परमात्मा जैसा (है) - ये तो आगम का वचन है कि सम्यग्दृष्टि जीव का अपनी आत्मा को अनुभव करनेवाला ज्ञान शुद्ध और सिद्धों के समान होता है। सम्यग्दृष्टि जीव का अपनी आत्मा को जाननेवाला ज्ञान शुद्ध और सिद्धों के समान होता है।

मुमुक्षु:- शुद्ध और सिद्धों के समान होता है। शास्त्रों में भी आया है।

पूज्य बाबूजी:- आया है न, वाक्य आया है। आगम में है।

[17]मुमुक्षु:- इस ही को दृष्टि-मुक्त कहेंगे? इसी को दृष्टि-मुक्त कहा जाएगा क्या?

पूज्य बाबूजी:- मुक्त ही कह दो न। दृष्टिमुक्त - ये कहने से तो झगड़ा पड़ गया फिर, बाकी तो और शेष रह गया कुछ कि और रागादिक शेष रह गए फिर (यदि) दृष्टिमुक्त हुआ तो।

17 दृष्टिमुक्त कहने में क्या परेशानी है? - 33.15 Mins

इसलिए उसमें नहीं जाना बिल्कुल (भी)। (ऐसा मानना कि) ये साक्षात् अरिहंत! अरिहंत तो कहने की है बात, अरिहंत से तो समानता बताई; (बाकी) है सिद्ध।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! वाह वाह!

पूज्य बाबूजीः- भगवान अरिहंत भी सिद्ध हैं। सिद्ध माने सिद्ध पर्याय नहीं। हाँ! वो जो अनादि त्रैकालिक सिद्ध है, वो हैं। वो तो समानता बताकर (कहा कि) भगवान की पर्याय क्या कर रही है (ऐसा बताया)। ये भी तो ये विचार करता है न। क्या कर रही है भगवान अरिहंत की पर्याय? .....

[18](विकारी भाव हों भी तो) क्या तकलीफ है? पड़े रहें। अगर उनका नाश न भी हो तो मुझे क्या तकलीफ है? लेकिन वो नाश हो ही जाता है तो मैं भी क्या करूँ? इतनी अनुभूति होते ही सबसे बड़ा जो मोह है, वो तो चला ही जाता है। पर वो रहता तो भी मेरे (को) तकलीफ नहीं थी क्योंकि मैंने तो न्यारा जान ही लिया था अपने आपको - ऐसा। इतना जाना!

मुमुक्षुः- माने पड़ोस में रहवे तो मेरे क्या तकलीफ है?

पूज्य बाबूजीः- मेरे को क्या तकलीफ? ये मेरे साथ मोक्ष भी जायें तो (मुझे) तकलीफ नहीं। तो मुझे क्या है उसमें? मेरा बिगाड़ कहाँ करते हैं ये? आत्मा का क्या बिगाड़ा इन्होंने अब तक? इतना परम उदासीन भाव हो, शुद्धात्मा पर आसीन होकर।

मुमुक्षुः- शुद्धात्मा के ऊपर आसीन?

पूज्य बाबूजीः- शुद्धात्मा पर आसीन होकर ऐसा उदासीन भाव हो। पर सिद्ध परमात्मा ही है वास्तव में। ये तो जो ऊँचाईयाँ हैं - तो अपने आप को ऊँचा माने तो ऊँचाई ही प्रवर्तित होती है पर्याय में हमेशा, हमेशा। निचाई का ख्याल ही नहीं आता, आता ही नहीं (है)। राग-द्वेष-मोह का ख्याल क्या आएगा? एक बार जान लिया न उसने कि पड़े होंगे कहीं।

मुमुक्षुः- कहीं पड़े होंगे।

पूज्य बाबूजीः- कहीं पड़े होंगे। स्वयं आचार्य ने उपेक्षा की है इसकी। प्रश्न किया है आचार्य ने कि सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह तो होते हैं; कि उसे तो नहीं होते हैं और विषयों को भी नहीं होते हैं। तो फिर (किसको होते हैं)? तो फिर कि वो अज्ञानी को होते हैं, अज्ञानी की कल्पना के दोष हैं वो तो। इसलिए वे हैं ही नहीं, सम्यग्दृष्टि को वे हैं ही नहीं।

माने कहीं पड़े होंगे का क्या मतलब (है)? मतलब अत्यंत उपेक्षित हैं, तो हैं ही नहीं उसको। उसको हैं ही नहीं वो। बाहर पड़े होंगे, बाहर तो लोकालोक पड़ा है।

मुमुक्षुः- कहीं पड़े होंगे मेरे को क्या करना?

पूज्य बाबूजीः- कहीं पड़े होंगे।

मुमुक्षुः- उसको दिखाई ही नहीं देते हैं।

18 विकार का नाश यदि नहीं हो तो क्या तकलीफ है? - 34.10 Mins

पूज्य बाबूजी:- इतना जबरदस्त माने उछलता ....

मुमुक्षु:- कहीं पड़े होंगे मतलब कितनी उपेक्षा है!

पूज्य बाबूजी:- परम-परम उपेक्षा। परम उपेक्षा होगी तो.....

अब पर्याय की ओर से बात (कि) उनका नाश (अवश्य) हो जाएगा। ऐसा नहीं है कि वो मोक्ष तक जायेंगे; नहीं जायेंगे। जायें तो तकलीफ नहीं इसको क्योंकि इसको तो ये है कि मैं जो यहाँ कर रहा हूँ, वही वहाँ करूँगा मैं तो; ये पड़े रहेंगे अपने। वहाँ तो निगोदिया भी पड़े हैं, तो ये भी पड़े रहेंगे। उसमें क्या है?

मुमुक्षु:- जायें तो तकलीफ उसको नहीं है मगर वो ....

पूज्य बाबूजी:- लेकिन वो जायेंगे ही नहीं।

मुमुक्षु:- ताकत ही नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- वो जायेंगे ही नहीं। क्योंकि उनमें भी ईमान-धर्म है न कि हम वहाँ कैसे जायें? कोई शुद्ध चौके में कैसे आए? देवों में होते हैं न किल्विषक जाति के देव, तो वो इन्द्र की सभा में नहीं जाते। बाहर रहते हैं।

मुमुक्षु:- क्यों?

पूज्य बाबूजी:- दस प्रकार के देव होते हैं, देवों के भेद। तो उसमें किल्विषक जाति के देव होते हैं, जैसे अपने यहाँ हरिजन होते हैं। तो वो जो इन्द्रों की सभा होती है, उसमें (वो किल्विषक देव) नहीं जाते। उनका प्रवेश नहीं है।

मुमुक्षु:- माने इतनी कोटी निम्न होती है कि इन्द्रों की सभा में नहीं जाते।

पूज्य बाबूजी:- नहीं जाते। भाई! हम इस योग्य नहीं हैं।

मुमुक्षु:- वाह! देव होने पर भी?

पूज्य बाबूजी:- देव होने पर भी। तो ऐसे ही ये (राग-द्वेष-मोह) किल्विषक हैं।

मुमुक्षु:- वो तो सिद्ध-क्षेत्र में जानेवाले नहीं (हैं)। हम तो उनको क्षमा और शील के भाव (नाम से) जानते हैं।

पूज्य बाबूजी:- हें?

मुमुक्षु:- (हमको तो वे) क्षमा के और शील के भाव हैं - ऐसा दिखता है।

पूज्य बाबूजी:- क्या?

मुमुक्षु:- जो भाव हैं, वो क्षमा-भक्ति के और शील के भाव हैं (ऐसा हम जानते हैं) जिनको आप शूद्र में डाल रहे हैं।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! वो तो जाति ही ऐसी है, अपन क्या करेंगे? कपड़े अच्छे बदल ले, नहा ले, धो ले, प्रधान-मंत्री (prime-minister) जैसा हो जाए तो इससे क्या हो? भीतर से क्या है?

पुण्य और पाप का तो ऐसा है बसंतभाई! कि जैसे पाप (तो) विषयों के प्रति होता है, लेकिन पाप के परिणाम में इतनी ताकत नहीं कि एक भी विषय का एक कण भी वो अपने में ला सके और (उस विषय का) स्वाद ले सके, इतनी ताकत नहीं है। इसलिए वो सारा का सारा व्यर्थ है। अशुद्ध है, विपरीत है, वो तो सब है ही सही। लेकिन उसमें अकिंचित्करता (इतनी) है कि वो कुछ भी करने लायक नहीं है।

तो इसी तरह पुण्य का भाव है कि पुण्य का भाव जो है, वो दया करना, जीव को बचाना इत्यादि इत्यादि। ये जो भाव हैं, तो ये होते तो हैं लेकिन ये एक भी जीव को आज तक नहीं बचा पाए और न बचा पायेंगे। तो दोनों की जाति एक सी है। तो ये नहाया हुआ हरिजन है - पुण्य; और वो टोकरेवाला है - पाप।

[19]अकिंचित्कर भावों का क्या करें? अनुभूति होते ही आनंद का उत्पादन होता है, production होता है। और ये (अकिंचित्कर भाव) पैदा होते हैं तो इनके साथ में अशुद्धियाँ पैदा होती हैं तरह-तरह की। उनको साथ लेकर आते हैं। दुख पैदा होता है। पुण्य और पाप दोनों जो परिणाम हैं, वो दुखमय हैं, समान जाति के हैं। बस कम और अधिक की वजह से इनके दो नाम रखे गए। असल में जाति एक है तो एक जाति में हम क्या कहेंगे इनको? एक ही जाति कहेंगे, जाति तो एक ही आएगी न दोनों के नाम में। लेकिन दोनों में जो थोड़ा अंतर है कि एक जो है वो कम अशुद्ध है (और) एक ज्यादा अशुद्ध है। तो कम अशुद्धि को हम पुण्य के नाम से पुकारते हैं (और) ज्यादा अशुद्धि को पाप के नाम से पुकारते हैं। पर जो योगी होता है वो तो ये कहता है कि, ये जो पुण्य है ये (वास्तव में) पाप ही है।

मुमुक्षुः- पुण्य है, वो पाप ही है।

पूज्य बाबूजीः- वो पाप ही है। ज़रा भी इनकी जाति में अंतर नहीं (है)। थोड़ा भी इनकी जाति में अंतर नहीं (है)।

मुमुक्षुः- योगसार में है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! है न! आचार्यों के शब्द हैं।

मुमुक्षुः- आवें, तो भले आवें।

पूज्य बाबूजीः- आवें, तो भले आवें। पर पाप ही है माने, क्योंकि मोक्षमार्ग में बाधक है।

वो तो नाम भेद है असल में देखा जाए तो। हैं तो दोनों कषाय न - एक तीव्र कषाय (और) एक मंद कषाय; दोनों का नाम कषाय है। तो जाति तो बिल्कुल एक है और दोनों का काम भी इतना ही (है) कि दोनों विकल्प बहुत करते हैं। पर विकल्प बहुत होने पर भी किसी (विषय) को ला नहीं पाते। अपने विषय को छू नहीं पाते, इतने कमजोर भी हैं भीतर से। ये इतने अधिक कमजोर हैं कि अनंत परिणाम हों तो भी एक विषय, एक विषय का कण भी ये अपने भीतर नहीं

19 पुण्यभाव और पापभाव में अंतर। - 39.25 Mins

ला सकते, और उसरूप नहीं बना सकते। और ये ही पुण्य का काम है कि अनंत बार परिणाम हो जीव को बचाने का, लेकिन एक बार भी बचा नहीं पाता है; तो व्यर्थ हुए न। व्यर्थ हुए तो व्यर्थ का जो उत्पादन (production) है, वो दुख होगा। जैसे खुदाई की बहुत किसी जगह (पर), लेकिन पानी नहीं निकला और १०० फुट तक चला गया। तो ये सारे श्रम का (फल) क्या होगा?

मुमुक्षुः- दुख। व्यर्थ दुख!

पूज्य बाबूजीः- दुख! और इधर अनुभूति हुई तो उसमें उत्पादन (production) हुआ अतीन्द्रिय आनंद का, तत्काल। दूसरे क्षण में नहीं, तत्काल हुआ। तो श्रम वैसा हो..... लोक में भी ऐसी बात की जाती है कि श्रमदान ऐसा हो कि उसका (कोई) फल हो; (वह) निष्फल न हो। अब रेतीली भूमि हो, सूखी हो और उसमें बीज डाल दें अथवा शिलाओं (पत्थरों) पर बीज फेंक दें, तो क्या फायदा होगा?

इसलिए पुण्य और पाप की वृत्तियाँ, इनमें पुण्य पवित्र को भी कहते हैं। तो क्या है कि जो कम अपवित्र है, उसको पवित्र संज्ञा भी दी जाती है। ऐसा है कि जैसे कल १०५ बुखार था और आज १०३ रह गया। तो किसी ने पूछा कि (बुखार) कैसा है? कि आज तो पहले से आराम है। तो आराम है?

मुमुक्षुः- नहीं।

पूज्य बाबूजीः- अभी १०३ बुखार है। तो उसकी अपेक्षा, माने कल का जो कष्ट था उसकी अपेक्षा इसको दूसरा नाम देना पड़ेगा। है तो बुखार ही, जाति तो एक ही है लेकिन नाम (अलग) देना पड़ेगा। तो नाम उसको 'आराम' नाम दिया कि कल से तो मुझे आराम है।

मुमुक्षुः- बस! बाकी आराम नहीं (है)।

पूज्य बाबूजीः- आराम नहीं (है)। दुख ही है, एकदम दुखी है।

देवों का जब चित्रण किया है आचार्यों ने, देवों के सुखों का तो उसमें 'क्लेश' शब्द डाला है। 'क्लेश' के अँगारों में सिकता हुआ - ऐसा डाला है।

मुमुक्षुः- देवगति के सुखों को ये (क्लेश) कहा है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उनमें डाला है।

और ऐसे ही ये जो द्रव्यलिंगी मुनि जो सारी चर्या करते हैं - २८ मूलगुण, १३ प्रकार का चारित्र, १२ प्रकार के तप - ये सब करते हैं। उसमें भी ये शब्द है ये (कि) क्लेश के अँगारों में जलता हुआ, सिकता हुआ - नियमसार में (है)।

[20]**मुमुक्षुः-** आपने फरमाया कि असंख्य अनंत परिणाम पुण्य के हुए पर उसके विषय का एक कण भी ज्ञान में नहीं आया।

20 पुण्य का परिणाम विषय को ज्ञान में नहीं ला पाया। - 44.09 Mins

पूज्य बाबूजी:- नहीं आया, छू ही नहीं सका। न तो ये जाकर छू सका और न वो आ सका (इसके अंदर), इसलिए (पुण्यभाव) व्यर्थ हैं। इसलिए अकिंचित्कर हैं, ऐसा। और अकिंचित्कर हैं इसलिए अपराध हैं। क्योंकि आत्मा ऐसा नहीं है। आत्मा तो एक वरिष्ठ तत्त्व है विश्व का, बहुत सम्माननीय (और) अभिनंदनीय क्योंकि ज्ञानवाला है ये। बाकी के पास ज्ञान नहीं है; तो इसलिए ये सबसे अधिक अभिनंदनीय है - आदर करने योग्य। तो ऐसा जो ज्ञानवाला तत्त्व है, वो अगर ऐसे पुण्य और पाप के व्यर्थ के काम करता रहे, तो उसके स्वरूप का घात कर दिया हमने; अगर उसको स्वरूप मान लिया, उसका काम मान लिया (तो)। इसलिए करते हुए भी वो उसका कर्म नहीं है वास्तव में।

मुमुक्षु:- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- जैसे पिता बालक को कहता है। पहले तो कहता है, "बेटा तूने ये क्या किया! ये नीचों जैसा काम क्यों किया?" और फिर कहता है, "देख! ये अपना काम नहीं है।" तो कहे पिताजी दोनों में से क्या मानूँ? पहले तो कहा कि ये तूने क्या किया? - तो आपने (उसको) मेरा काम बताया। अब कहते हैं कि ये अपना काम नहीं है। तो अब दोनों में से क्या मानूँ?

मुमुक्षु:- अपना काम नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- पहले तो ये बताया था कि वो तूने (ही) किया था, इसलिए बताया था। लेकिन वो अपने करने लायक नहीं है इसलिए ये मान। पुण्य और पाप पहले आत्मा के ही बताए थे लेकिन (अब) कहा कि ये करने लायक नहीं हैं, इसलिए इनसे आसक्ति तोड़ ही दो, एक क्षण में।

[21]मोह बताया न तिर्यंच (और) मनुष्यों के प्रति करुणाभाव (को) दर्शनमोह बताया है।

मुमुक्षु:- दर्शनमोह?

पूज्य बाबूजी:- दर्शनमोह।

मुमुक्षु:- करुणाभाव को दर्शनमोह?

पूज्य बाबूजी:- तिर्यंच-मनुष्य प्रेक्षा योग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाभाव, अरिहंत देव आदि की भक्ति और तिर्यंच-मनुष्य प्रेक्षा योग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाभाव - ये दर्शनमोह के चिन्ह हैं।

मुमुक्षु:- प्रेक्षा योग्य होने पर भी माने?

पूज्य बाबूजी:- केवल ज्ञेय होने पर, सिर्फ जानने लायक होने पर, जानने योग्य होने पर। सिर्फ जानने योग्य हैं, ये जहाँ ज्ञान में आ जाए न! जानने योग्य माने? कोई जानता रहे ऐसा नहीं। (बस!) आ जायें ज्ञान में। मेरे से न्यारे हैं, बस।

मुमुक्षु:- जानने योग्य हैं, करुणा के योग्य नहीं हैं?

21 तिर्यंच और मनुष्य के प्रति करुणाभाव को दर्शन मोह बताया। - 46.08 Mins

पूज्य बाबूजी:- करुणा के योग्य नहीं हैं। करुणा विफल हो गई न! इतना सारा परिश्रम किया! करुणा में भी पुरुषार्थ तो होता है न? जीव की पुरुषार्थ पर्याय तो हर समय चलती है।

मुमुक्षु:- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- तो इतना पुरुषार्थ हुआ और बचा एक भी नहीं। तो वो प्रेक्षा योग्य हैं (ऐसा) कहते हैं।

तो माने करेगा भी क्या तू, अच्छा बता। तेरे से होनेवाला नहीं है ये काम, अब क्या करेगा? कि देखता रहूँगा और क्या करूँगा?

मुमुक्षु:- तो देखना मेरा काम बन गया कि नहीं?

पूज्य बाबूजी:- देखना! वो तो आगे चलेंगे (अपन), माने अभी पूरी नहीं हुई है बात। पूरी नहीं हुई बात।

मुमुक्षु:- पूरी नहीं हुई।

पूज्य बाबूजी:- वो तो आगे चलती है।

मुमुक्षु:- आगे चलने वाली है।

[22]पूज्य बाबूजी:- देखने योग्य होने पर भी माने नहीं देखना। एक सूत्र हमेशा याद रखने का है।

मुमुक्षु:- हाँ! जी प्रभु!

पूज्य बाबूजी:- कि जिसको देखने योग्य, केवल जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय जाना, तो उससे तुरंत इसकी परिणति फिर जाए, इसका उपयोग फिर जाए, लौट जाए, तो (कहा जाए कि) इसने ज्ञेय जाना उसको। और ये अगर उसे देखने में लग गया, तो वो ध्येय हो गया और वो अज्ञान हो गया।

मुमुक्षु:- भटक गया!

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि जो ज्ञेय है, उससे मुझे क्या लेना-देना? उससे मुझे क्या मतलब है? जिसको सिर्फ जानना ही है, तो उसका क्या जानूँ मैं? सब जान लिया कि मेरा नहीं है, बस। ये जानना था, इतना ही तो जानना था कि मेरा नहीं है बस, हो गया। (मेरा) कोई संबंध नहीं है।

दर्शनमोह बताया (उसको) दर्शनमोह, करुणा को। माने करुणा दर्शनमोह नहीं है। माने वो जो करुणा का भाव (होता है) एकांत, आत्मदर्शन के बिना (कि) 'मैं बचा सकता हूँ' - इस भावपूर्वक जो वो करुणा का भाव आया, वो दर्शनमोह है।

मुमुक्षु:- माने आत्मा को जाने बिना एकांत करुणा का जो भाव आया (वो)....

22 कब कहा जाए कि जीव ने पदार्थ को ज्ञेय माना है? - 47.41 Mins

पूज्य बाबूजी:- 'मैं बचा सकता हूँ' इस भावपूर्वक जो करुणा का भाव आया वो दर्शनमोह है।

मुमुक्षु:- अभिप्रायपूर्वक करुणा का भाव आया, वो दर्शनमोह है।

पूज्य बाबूजी:- वो दर्शनमोह है।

मुमुक्षु:- कर्तृत्वबुद्धि .... मैं कर सकता हूँ... वो दर्शनमोह है।

पूज्य बाबूजी:- वैसे तो ज्ञानी को भी होता है न (करुणा का भाव)? तो ज्ञानियों की करुणा तो कहते हैं.... कि भवार्णव से ये कैसे तिरें? - ऐसी करुणा ज्ञानियों की होती है, ऐसा भाव ज्ञानियों को आता है। पर वो भी विफल है। वो भी विफल है कि तेरे इस भाव से वो तिरेंगे ही नहीं। तिरेंगे तो अपने हाथ-पैर से।

मुमुक्षु:- बराबर! और आत्मा को जाने बिना इसको जानता रहूँ, वो भाव भी सही है? या वो भाव भी मिथ्यात्व जैसा है?

पूज्य बाबूजी:- वो तो मिथ्यात्व ही है, मिथ्यात्व ही है। ध्येय हो गया वो तो, वो हो गया। जानता रहूँ - ये क्या जानना है माने? ये तो बड़ा अनाचारी हो गया।

मुमुक्षु:- अनाचारी हो गया?

पूज्य बाबूजी:- अनाचारी हो गया। बहुत बड़ा अनाचार है ये। जो सिर्फ जानने लायक है (और) ये उसे जानता रहे तो अनाचारी हो गया।

अब यहाँ एक पर्स रखा है और उसे देख लिया। तो देखते ही अपन मुँह ऊँचा कर लेते हैं। और (अगर) उस पर्स की तरफ देखते ही रहें तो क्या समझेगी सभा सारी? अब मैं तो कहूँगा कि, "मैं तो देख रहा हूँ खाली। (मैंने तो) हाथ भी नहीं लगाया, छू भी नहीं रहा।" (लेकिन) सभा क्या समझेगी?

मुमुक्षु:- अनाचार है।

पूज्य बाबूजी:- कि ये इसको पार करना चाहता है।

मुमुक्षु:- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- इसलिए ज्ञेय जो है.... सचमुच ज्ञेय तो हमने कह ही दिया उसे। तो इतना तो भेदज्ञान हो गया न कि 'मेरे से न्यारे पदार्थ जगत में हैं' - बस इतना जानना था। तो ज्ञेय कह दिया तो इसके बाद उधर रहना ही नहीं चाहिए ज्ञान को। ज्ञान को अपनी ओर आ जाना चाहिए, तब उसने ज्ञेय जाना। और यदि बार-बार इसका मन जाता है उधर देखने को, तो ये उचक्का है।

मुमुक्षु:- आहाहा! माने ज्ञेय से ज्ञान को rebound हो (पलट, घूम) जाना चाहिए।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! फिर जाना चाहिए, घूम जाना चाहिए - तब हुआ वो ज्ञेय।

मुमुक्षु:- नहीं तो वो ज्ञेय ही नहीं रहा। वो ज्ञेय ही नहीं रहा।

पूज्य बाबूजी:- नहीं! वो तो फँसा है फिर उसमें, फिर तो फँसा है। जानना आत्मा का कर्म है। लोकालोक को जानना आत्मा का कर्म है, (तो) कहते हैं सब ये व्यवहार-वचन हैं। वास्तविक नहीं (हैं), श्रद्धा करने लायक नहीं (हैं)।

मुमुक्षु:- श्रद्धा करने लायक नहीं।

पूज्य बाबूजी:- जो वास्तव में जानने में आते ही नहीं, और (अगर) आते भी हैं तो उसकी विधि दूसरी है..... तो जो जानने में आते ही नहीं, तो उनको जानना इसका कर्म है - ये बात जिनवाणी कहेगी क्या?

मुमुक्षु:- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- और जिनसे कोई मतलब नहीं है।

मुमुक्षु:- बहुत सुंदर! जो वास्तव में जानने में आते ही नहीं और जिसको जानने की विधि ही अलग है, उसको जाने - वो जिनवाणी में आएगी क्या बात? एक-एक लफ़्ज़ बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- सदाचारी मनुष्य तो उसको ही कहते हैं कि दूसरे की वस्तु के प्रति जिसका स्खलन न हो, द्रवित न हो मन।

मुमुक्षु:- द्रवित न हो मन।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! हो गया टाइम?

मुमुक्षु:- हाँ जी! बहुत तेज़ गति से चलता है।

पूज्य बाबूजी:- नहीं! ये चर्चा ३३ सागर की है।

मुमुक्षु:- ३३ सागर तक रफ्तार जैसी चले (ऐसी है)। सही बात है! एकदम तेजी से चलती है।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

<u>जिनवाणी-स्तुति</u>

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ३, तारीख २७-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षु[23]:- कल का जो एक प्रश्न था वो थोड़ा सा दोहराया जाए तो ठीक है, जो कल हो गया था शायद। ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता और ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता - इस संबंध का तो निषेध है; तो ज्ञान, शक्ति से कैसा है?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञानस्वरूप ही है, शक्ति से भी ज्ञान ही है। शक्ति से क्या तात्पर्य है प्रश्नकर्ता का? एक तो शक्ति माने गुण। तो ज्ञान गुण जो है वो भी ज्ञान स्वरूप ही है। ज्ञान ही ज्ञान है उसमें भी। अनंत पर्यायों का दल है ज्ञान, अनंत ज्ञान पर्यायों का - ज्ञान गुण। और ज्ञान शक्ति से तात्पर्य पर्याय शक्ति से भी है। ये जो प्रतिसमय जानने की क्रिया चलती है वो पर्याय शक्ति है।

मुमुक्षु:- तो उसका मतलब ये शक्ति से निरपेक्ष है - ये जवाब है (क्या)?

पूज्य बाबूजी:- शक्ति तो निरपेक्ष ही होती है! पर प्रश्न में इतना नहीं है न। प्रश्न में तो सिर्फ इतना है (कि) ज्ञान शक्ति से क्या तात्पर्य है? ज्ञान शक्ति माने ज्ञान गुण एक तो, जो सदा आत्मा में द्रव्य की तरह रहता है और अनंत ज्ञान की पर्यायों से जो भरा हुआ है। ऐसा कहना पड़ता है; भरा हुआ है माने कोई ज्ञान पर्यायें उसमें भरी हैं - ऐसा नहीं है। लेकिन ज्ञान गुण है तो ज्ञान की पर्याय होती है - ये नियम है। इसलिए ज्ञान गुण स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

जैसे दल होता है, बीज है जैसे। तो बीज में वृक्ष है या नहीं है? क्या कहें? तो ये सारी जितनी भी शक्तियाँ हैं वो जो बीजभूत हैं, बीजरूप हैं सारी की सारी, अनेक प्रकार के बीज हों जैसे। लेकिन वो जब अंकुरित होते हैं तो पहचाने जाते हैं। इसलिए ज्ञान की जो पर्याय है उससे ये सब पहचाना जाता है। ज्ञान गुण भी उस ही से समझ में आता है कि ज्ञान की पर्याय माने कोई कार्य हुआ तो कार्य के पीछे कोई शक्ति या कोई पदार्थ होना चाहिए। पदार्थ ही नहीं है, कोई अस्तित्व ही नहीं है तो काम कहाँ से होगा? इसलिए ज्ञान की पर्याय होती है तो उससे पहचाना जाता है कि इसके पीछे ज्ञान शक्ति है। अकेला जो आत्म द्रव्य है वो अनंत शक्तियों का काम नहीं कर सकता। यद्यपि अनंत शक्तियों का निधान भी वही है। अनंत शक्तियाँ उसी के आश्रित हैं, उनका वो एक पिटारा है लेकिन फिर भी क्योंकि वो एक सत्ता है न, द्रव्य। जो आत्मा द्रव्य है या जगत के छहों ही द्रव्य हैं, तो वो तो एक सत्ता हैं। तो एक सत्ता में से अनेक कार्य नहीं हो सकते। इसलिए उसमें अनेक की आवश्यकता है। तो वो अनेक की आवश्यकता ये शक्तियाँ पूरा करती हैं।

23 ज्ञान का स्वभाव कैसा है? - 0 Mins

जैसे अनंत शक्तियाँ हैं। अभी शक्तियों को कैसे पहचाना जाए? जैसे बीज हैं अनेक। अब उनको पहचाना कैसे जाए? हमारे सामने बीज रख दिए जायें १०० प्रकार के। तो कैसे पहचानेंगे इसमें कौनसा बीज क्या है? जब वो अंकुरित होता है तो पहचाना जाता है। इसलिए उपयोग से, माने ज्ञान की पर्याय से सब पहचाना जाता है। ज्ञान की पर्याय भी पहचानने में आती है, जगत भी पहचानने में आता है, जगत का स्वभाव भी पहचानने में आता है, ज्ञान गुण भी जाना जाता है और आत्मद्रव्य भी जाना जाता है - ये सबसे जाना जाता है। (ये) इसका (ज्ञान का) कार्य है।

और ज्ञान आत्मा का असाधारण धर्म है कि जो किसी में नहीं पाया जाता। ऐसे (ही) दर्शन भी आसाधरण है, श्रद्धा भी असाधारण है, चारित्र भी असाधारण है। ये असाधारण होते हुए भी सिर्फ ज्ञान एक ऐसा है कि जो स्व में भी व्यवसाय करता है और पर में भी व्यवसाय करता है। माने स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। ये नहीं (जानते) हैं (क्योंकि) इनमें ज्ञान ही नहीं है। श्रद्धा में, चारित्र में, सुख में इनमें ज्ञान नहीं है। लेकिन ज्ञान ही एक असाधारण धर्म है कि जो अपने को भी जानता है, अपने को भी पहचानता है और पर को भी पहचानता है। अपना भी अनुभव करता है, पर का भी अनुभव करता है माने जानता है। पर को भी जानता है। ऐसा! अब पर को जानता है (तो) वो नहीं लेना है यहाँ पर (कि) किस तरह से जानता है - वो एक अलग विधि है, वो एक अलग कला है। पर जानता है माने, स्वपरप्रकाशक।

तो ये जो उपयोग है प्रति समय चलने वाला, तो ये आत्मा का लक्षण है। जहाँ उपयोग है, जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा है - ऐसा अविनाभावी संबंध है। जहाँ लक्षण है वहाँ लक्ष होता है। तो ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष है। तो जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है। जहाँ आत्मा का अभाव है वहाँ ज्ञान का भी अभाव है। इस तरह अविनाभाव संबंध कहते हैं इसको। तो ये है (ज्ञान की शक्ति)।

कई बातें हैं न ज्ञान की तो। एक तो वो असाधारण गुण हुआ आत्मा का, स्व और पर को पहचाननेवाला-जाननेवाला हुआ। दूसरा, ज्ञान से ही सारा फैसला होता है। आत्मा को जो परपदार्थ में अत्यंत मोहनबुद्धि है, अत्यंत मोह की, अत्यंत एकत्व की जो बुद्धि है उसका खंडन करनेवाला, उसको समाप्त करनेवाला वो ज्ञान ही है क्योंकि वो जानता है कि ये सम्पूर्ण पर हैं, पराए हैं; इनमें मेरा कुछ भी नहीं है, कोई अधिकार नहीं है। कुदरत का ऐसा नियम है कि यहाँ तो एक गणराज्य है, democracy है कि जिसमें सब स्वतंत्र हैं। और सबके पास अपनी-अपनी एक अलमारी (cabinet) है अनंत गुणों की और उससे सब काम होते हैं। ऐसा हर पदार्थ का एक साम्राज्य है। माने परमेश्वर है हर पदार्थ - ये ज्ञान ही जानता है।

तो न्यारे हैं - ऐसा बतानेवाला जो ज्ञान है, उसने सबको न्यारा जानकर.... न्यारा करके नहीं। न्यारा जानकर, ज्ञान स्वभाव से और आत्मा के स्वभाव से जो न्यारे हैं उन सबसे वो पृथक होकर और आत्मलीन हो जाता है। आत्मा की ओर ढल जाता है तब संवेदन होता है, उसी का

नाम अनुभूति, शुद्धात्मानुभूति (है) और शुद्धात्मा की अनुभूति का दूसरा नाम मोक्षमार्ग (है)। शुद्धात्मानुभूति केवल एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं (है)। ये (है) ज्ञान का असली काम।

मुमुक्षु:- ये ज्ञान का असली काम?

पूज्य बाबूजी:- असली काम यही हुआ। और खाली ज्ञान जानता है, स्व को जानता है, पर को जानता है - तो इससे क्या हुआ? साफ आया है कि अकेले छह द्रव्यों का जानना इसका नाम ज्ञान नहीं है। ये वास्तव में ज्ञान नहीं है। लेकिन उसमें आत्मा को जानना, तब छह पदार्थ सहीरूप में जाने जाते हैं और वो ये कि - एक मात्र आत्मा ही उपादेय, माने यही मैं हूँ और अन्य सब (पर); अन्य कोई मेरा नहीं है तब (आत्मा) जाना जाता है। आत्मा का जो स्वाद आया, तो उस स्वाद में इसने ये जाना कि सचमुच ऐसा (स्वाद) किसी अन्य में बिल्कुल नहीं है। इसलिए सब इससे अलग हैं, पृथक हैं, न्यारे हैं और मेरे ये किसी काम के नहीं हैं, किसी प्रयोजन के नहीं हैं। कि 'देखने के प्रयोजन के' (तो हैं न)? कि कह तो रहे हैं कि हैं, लेकिन किसी प्रयोजन के नहीं हैं। बस! ये हो गया सब जानना। सारे तीन लोक और तीन काल का जानना इसमें आ गया।

अलग-अलग करके नहीं जाने जाते। जानने में विस्तार करना भी नहीं चाहिए क्योंकि पर पदार्थों में अगर ज्ञान का विस्तार किया जाए तो वो ज्ञान बर्बाद (waste) होगा। कोई फायदा नहीं होगा (उसका)। यहाँ तो ज्ञान अगर कम है, थोड़ा है तो उस सम्पूर्ण ज्ञान को केवल, उस उपयोग को आत्मा में उड़ेल दिया जाए और (वो भी) सम्पूर्ण उद्यम से। दो बात - सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण उद्यम से, सम्पूर्ण प्रयत्न से, सम्पूर्ण श्रम से, सारे पुरुषार्थ से उसे केवल आत्मा में उड़ेल दिया जाए तो सर्व सिद्धि, माने इसी का नाम सिद्ध (है)। तब निर्विकल्प वेदन होता है और इसका जो इष्ट है, वास्तविक..... माने अज्ञानी का भी इष्ट (तो) सुख है कि वो भी सुख चाहता है। लेकिन उस स्व-संवेदन में जो सुख है वो वास्तविक सुख है क्योंकि वो भीतर से आता है। अंदर से आता है क्योंकि अंदर भरा (हुआ) है। सुख नाम का गुण (भी) ज्ञान की तरह से अंदर है, तो उसमें से फव्वारे छूटते हैं। तो फव्वारों की तरह से वो आनंद उछलता है। ये सब ज्ञान का काम है।

जब ये निर्विकल्पदशा और सम्यग्दर्शन होने का प्रारंभ होता है, तो उसमें सारा सबसे पहले ज्ञान ही काम करता है। ये जितना वो भेदविज्ञान है.... भेदविज्ञान माने? भेद तो है स्वाभाविक (वो तो) पड़ा है लेकिन उसका विज्ञान माने उसका विशेष ज्ञान। विशेष ज्ञान का अर्थ ये कि ये पराए हैं इतना मात्र कहकर न रह जाए। लेकिन ये पराए हैं तो उनसे मुड़कर और स्व का अवलंबन लेकर उसका वेदन कर ले तो विज्ञान कहलाता है वो। वरना तो सामान्य ज्ञान सबके पास है। लेकिन विज्ञान क्यों है वो? विज्ञान माने विशिष्ट ज्ञान, विशेष ज्ञान। उसकी विशेषता क्या है? कि पर है ये तो जाना (कि) पर (है) - इससे क्या फायदा हुआ (कि) पर है? और पर है ये कैसे जाना तूने? कि जब तक स्व को नहीं जाना, अपनी सत्ता को नहीं जाना, तब तक पर का ज्ञान कहाँ हुआ? कैसे हुआ?

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! सरल तर्क (simple logic) है। अपनी सत्ता को नहीं जाना....

पूज्य बाबूजीः- अपनी सत्ता को नहीं जाना तो ये पराया है - ये कैसे जानेगा? इसलिए भेद तो स्वाभाविक पड़ा हुआ है सारे विश्व में।

मुमुक्षुः- भेद तो स्वाभाविक है?

पूज्य बाबूजीः- स्वाभाविक है, स्वाभाविक (है) भेद तो। आत्मा के भीतर भी जो भेद है वो स्वाभाविक है। इस ही तरह जगत में जो छह द्रव्यात्मक भेद है या जीव-अजीव का भेद है, वो तो स्वाभाविक है। ये करता नहीं है ज्ञान भेद (को)। ज्ञान तो वो सिर्फ जो भेद है, अंतर है, उसमें जो विशेषता है (अर्थात्) फरक है (उसको जानता है)।

ये[24] मंगलाचार है जीवन का (कि) सम्यग्दर्शन जब होता है। तो ये सारी भूमिका ज्ञान साफ करता है। और अज्ञान दशा से ये सब शुरू होता है, सारा का सारा।

अज्ञान दशा के दो भेद जानने चाहिए। जैसे मन की एक वृत्ती तो ऐसी कि जो इंद्रियज्ञान में आती है। पाँच इंद्रिय और मन के द्वारा अज्ञानी जो जानता है, तो वो सारा इंद्रियज्ञान कहलाता है। इंद्रियज्ञान का अर्थ ये कि इंद्रियों के होने पर उनसे पृथकरूप से, उनकी सहायता के बिना होनेवाला जो ज्ञान है उसे इंद्रियज्ञान कहते हैं, ऐसे।

जैसे सितारवाला आदमी। अब आदमी सितारवाला होता है क्या? माने आदमी उसे कहते हैं जिसके पास सितार हो (ऐसा है क्या)? लेकिन किसी से पास सितार है और वो सितार से गाता है; तो गाता (तो) कंठ से है (और) कहते हैं (कि) सितार से गाता है। तो इसी तरह इंद्रियज्ञान, माने इंद्रियों के होने पर वो ज्ञान कमज़ोर इतना है कि जैसे एक वृद्ध आदमी लकड़ी के बिना नहीं चल सकता, तो हम कहते हैं ये लकड़ी से चलता है। इसी तरह ये ज्ञान इंद्रियों से चलता है - ऐसा कहना, इसका नाम व्यवहारनय।

कहना इसका नाम व्यवहारनय, मानना इसका नाम मिथ्यात्व।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! बराबर!

पूज्य बाबूजीः- कहना माने भीतर विकल्प चलता है ज्ञान का ऐसा कि - ये आदमी लकड़ी से चलता है। तो वो क्या बताता है? कि कमज़ोर इतना है पर लकड़ी कोई चलाती नहीं। जैसे उसमें अगर चलने की कोई शक्ति ही बिल्कुल न हो तो वो लकड़ी कैसे चलाएगी? गिर जाएगा वो तो लकड़ी कहाँ से उठाएगी? लेकिन उसमें ताकत है अभी चलने की और उधर लकड़ी का योग (अर्थात् संयोग) होता है। बस! इतना मात्र। तो ये जो इतना जो भेद और अंतर है, ये अकेले जैनदर्शन का गौरव है ये।

मुमुक्षुः- बराबर!

24 अज्ञानदशा के भेद – 12.31 Mins

पूज्य बाबूजी:- और तो ये ही जानते हैं कि ये तो लकड़ी के सहारे चलता है और लकड़ी इसको सहायता देती है। लेकिन जैनदर्शन तो खोजी है न एकदम, एकदम CID की तरह; तो वो और अंदर जाता है। अंदर जाकर देखता है कि अगर इसमें शक्ति नहीं है तो लकड़ी उठा दे इसको, दे दे इसको ताकत। जिस समय ये बिल्कुल चलने लायक नहीं रहेगा तो उस समय लकड़ी रहेगी साथ में इसके, लेकिन करेगी क्या? ये ही स्थिति इंद्रियज्ञान की है इसीलिए उसे इंद्रियज्ञान कहते हैं। लेकिन ज्ञान सचमुच सारा अतीन्द्रिय होता है।

अब अतीन्द्रिय के दो भेद कि - एक इंद्रियज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान।

मुमुक्षु:- ये क्या कहा प्रभु? पहले तो अज्ञान दशा के दो भेद बताए। तो एक भेद ये बताया कि इंद्रिय के सहारा वाला। और दूसरा?

पूज्य बाबूजी:- इंद्रिय का सहारावाला माने इंद्रिय के होने पर जो होता है। बस इतना मात्र! वो सहारा तो खैर कह सकते हैं अपन, 'सहयोग' इत्यादि सारे शब्द आगम में भी आते हैं पर कोई सहारा नहीं है। क्योंकि वो बिल्कुल निगोदिया का ज्ञान भी निरपेक्ष होता है। भले ही वो अक्षर के अनंतवे भाग है लेकिन वो बिल्कुल निरपेक्ष होता है एकदम। स्पर्शन इंद्रिय है वहाँ तो केवल, लेकिन वो बिल्कुल निरपेक्ष होता है। इंद्रिय उसको कोई सहारा नहीं देती क्योंकि जड़ क्या सहारा देगा चेतन को? माने बिना पढ़ा-लिखा (व्यक्ति) वो किसी को पढ़ाएगा कैसे? कैसे पढ़ाएगा? तो जब उसमें ज्ञान ही नहीं है तो वो सहारा कहाँ से देंगी इंद्रियाँ?

मुमुक्षु:- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- तो पाँच इंद्रिय और मन ये जो हृदय कमलवाला है, इनमें कोई ज्ञान नहीं है तो ये कोई सहारा नहीं देते आत्मा को।

तो दो प्रकार अपन ने किये न कि अतीन्द्रियज्ञान के भी दो भेद कि - एक इंद्रियज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान। अतीन्द्रियज्ञान, माने सारा ज्ञान अतीन्द्रिय पहले तो ये बात जानने लायक; क्योंकि वो इंद्रिय की सहायता से होता नहीं है।

अब दूसरा ये कि जो इंद्रियज्ञान है, अन्य विषयों में ही व्यवसाय है उसका तो अर्थात् वो तो बहिर्मुख ही रहता है। आत्मा की तरफ वो पाँच इंद्रियाँ, ये तो आत्मा की तरफ झाँक ही नहीं सकतीं। इनका तो केवल पुद्गल ही विषय होता है। अब रहा मन, तो मन का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त। (मन का विषय) पुद्गल भी होता है और ये बाकी जो पाँच अमूर्त्त द्रव्य हैं - जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इत्यादि - ये सब उसके विषय होते हैं, मूर्त्त और अमूर्त्त। तो उनमें केवल अमूर्त्त को जाननेवाला वो मन होता है। अब मन को अनीन्द्रिय भी कहते हैं क्योंकि वो इंद्रियों जैसा नहीं होता। वो तो मूर्त्त और अमूर्त्त को जानता है। इंद्रियाँ केवल पुद्गल को (जानती हैं), पुद्गल तक उनकी सीमा है।

दूसरा अतीन्द्रियज्ञान में एक तो केवल बाहर के विषयों में व्यवसाय करने वाला, माने उनको जाननेवाला। और अतीन्द्रियज्ञान माने? अज्ञानदशा में जो सद्गुरु का उपदेश मिला और स्वतत्त्व को, स्वसत्ता को भली प्रकार, अच्छी तरह, स्पष्टरूप से अपने ज्ञान में जाना और जानकर उसकी महिमा आई एकदम; क्योंकि सामने जो गुरु खड़ा है वो कह रहा है न कि इससे महिमावंत, तेरे से महिमावंत, तेरे से महिमावंत पदार्थ जगत में दूसरा नहीं है। अनंत तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनि में तेरे गीत गाते हैं - ऐसा उस अज्ञानी को आचार्य कहते हैं। अनंत तीर्थंकरों की वाणी, दिव्यध्वनि में तेरे गीत गाती हैं। है अज्ञानी अभी पर उसको कह रहे हैं थोड़ी पात्रता है (इसलिए), तो वो समझ जाता है अपनी महिमा को और अपनी महिमा आते ही और उसके चिंतन में (लग जाता है)।

पर स्वरूप स्पष्ट होना बहुत आवश्यक है कि जो चैतन्य है वो केवल चिद्रूप चेतनारूप, चेतना सर्वस्व। चेतना जहाँ तक पसरी है बस उतना चैतन्य है। बाकी शेष सब सारे भाव राग-द्वेष-मोह आठ कर्म-नोकर्म सारा जगत - ये सब अचेतन हैं। उनमें आत्मा नहीं है। इस तरह आत्मा का स्पष्ट स्वरूप जाना। उसके आकार-प्रकार, उसकी पर्यायें वगैरह सब वो उससे बाहर हो गईं। पर्याय भी बाहर हो गई क्योंकि पर्याय भी उससे, आत्मद्रव्य से मेल नहीं खाती है। वो नित्य है (और) वो तो अक्षीण है बिल्कुल; विक्षीण हैं, प्रति समय जानेवाली (हैं)। और ये निर्विकारी है और वो विकारी भी हो जाती हैं।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- आत्मा की पर्याय वो तो विकारी भी हो जाती है, इसीलिए वो पर्याय भी उससे बाहर रही। तो ऐसी सत्ता का निश्चय किया और कृपा उसमें गुरु की, प्रसाद गुरु का है। ये सत्ता बताई कि एक ध्रुव जो शुद्ध है अत्यंत, ध्रुव होने के कारण आत्मा शुद्ध है। और अशुद्धि का जो अवकाश है, वो (तो) केवल दो विकल्प हैं उसके कि पदार्थ अगर अशुद्ध हो तो कैसे हो सकता है? कि एक तो उसमें परिणमन हो और एक किसी की मिलावट हो सके; और इन दोनों का निषेध है जगत में, छहों ही द्रव्यों में। सारे ही द्रव्य अपरिणामी हैं।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! ये क्या?

पूज्य बाबूजीः- अपरिणामी-अकर्ता और नित्य हैं सारे ही द्रव्य। और दूसरा किसी की मिलावट उनमें कभी होती नहीं है। जो विरुद्धभाव हैं, वे परस्पर भले ही उसकी पर्याय हो लेकिन वे मिलते नहीं हैं। इस तरह उस [25]अपरिणामी का ज्ञान हो, सही ज्ञान; और उसमें आकार-प्रकार की तलाश न करे कि कुछ तो दिखाई दे, परंतु दिखाई देना ये केवल चक्षु का धर्म है अकेला। तो पुद्गल में भी ऐसा स्वरूप है कि केवल वर्ण जो है वो चक्षु इंद्रिय का विषय बनता है। बाकी जो विषय हैं तो उनको कहाँ हम आँख से देखते हैं?

25 नास्तिक वास्तव में कौन हैं? - 21.11 Mins

जैसे रसना का विषय है, जीभ का। तो उस स्वाद को हम आँख से देखें तो कौनसा रंग होता है उसका? कि कौनसा वर्ण होता है? अथवा कितना वजन होता है? कितना भारी होता है? कितना हल्का होता है? क्या होता है? पता लगता है क्या? उस वस्तु को तो देखते हैं उसका रंग, लेकिन उसका जो स्वाद है वो केवल रसना से जाना जाता है और आँख से नहीं जाना जाता। इसी प्रकार घ्राण, कर्ण और मन इन सबके जो विषय हैं, तो वो चक्षु से नहीं जाने जाते। इसीलिए आत्मा को जो आँख से देखने की चेष्टा करता है वैज्ञानिकों की तरह, आज के वैज्ञानिकों की तरह laboratory में, प्रयोगशाला में उसका प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं कि - भाई! कुछ तो दिखाई देना चाहिए चिन्ह तो उसका, तो वो सब नास्तिक लोग हैं। उनकी नास्तिक संज्ञा है। असली नास्तिक संज्ञा ये है क्योंकि पुद्गल में जब ऐसी (वर्ण की) बात है तो वो तो आत्मा तो अमूर्त्त है बिल्कुल। (वो तो) पुद्गल से भी अन्य प्रकार का है (तो) आँख से दिखाई देने का कोई प्रश्न नहीं है।

और दूसरा ये कि जो आँख के बिना ही दिखाई दे उसे आँख से क्यों देखना? और उसको आँख से देखने की क्यों... माने व्यर्थ का आग्रह क्यों करना? जो बिना आँख के दिखाई देता है लेकिन वो आँख कोई दूसरे प्रकार की होती है, उसका नाम है ज्ञान। तो ज्ञान से दिखाई देता है आत्मा, अमूर्त्त होने पर भी।

हम लोग मुमुक्षुओं में भी ये होता है। कभी भ्रम होता है न जैसे किसी को! ध्यान करने बैठ जाता है और वो कुछ दिखा तो सफेद-सफेद सफेद-सफेद सा नजर आया (ऐसा) कहते हैं। सफेद-सफेद तो पुद्गल होता है (वर्ण गुण की पर्याय)। आत्मा तो सफेद होता ही नहीं है अथवा (उससे) कोई दूसरा (है)। क्योंकि भीतर से उसका आग्रह रहता है कि कोई तो रंग तो दिखाई देना चाहिए कि उसका पता चले कि वो है कोई चीज; तो वो ऐसे पता लगाना चाहता है। पर वो ये नहीं पता लगाना चाहता कि - ये जो नित्य हो रहा है, प्रति समय, जो मैं जो जान रहा हूँ, जो जानना हो रहा है और हर जीव ये जानता है कि मैं जानता हूँ, हर जीव इससे इनकार कभी नहीं करता। तो ये कौन है? क्योंकि जहाँ कार्य होता है तो वहाँ पर कारण अर्थात् वस्तु अवश्य होनी चाहिए। वरना कार्य कैसे होगा? अगर वस्तु (ही) नहीं होगी, सत्ता (ही) नहीं होगी कोई, तो वहाँ पर परिणाम भी नहीं होगा, पर्याय भी नहीं होगी, काम भी नहीं होगा। इसलिए ये ज्ञान की पर्याय जो हो रही है तो ये स्पष्ट है, सुख और दुख जो होता है तो वो स्पष्ट है कि यहाँ पर कोई इस पुद्गल से, कोई धर्म से, अधर्म से, आकाश से, काल से कोई न्यारा पदार्थ यहाँ (पर) विद्यमान है और वो ज्ञानवाला होता है, वो मैं हूँ। इस तरह निश्चय कर लेता है।

अब ये कहे कि उसका कोई आकार-वाकार, तो ये आकार तो एक पर्याय है। इसलिए आकार देखनेवाला (वो) पर्याय बुद्धिवाला अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि, आकार का आदर करने वाला। अब वो तो व्यंजन-पर्याय है केवल। अभी तो अनंत अर्थ पर्यायें हैं, सब हैं।

और दूसरा क्या है कि आत्मा की सत्ता को इस तरह स्वीकार कर ले कि वो तो मात्र ज्ञान और आनंद जैसी अनंत शक्तियों का एक कोष है, ऐसा स्वीकार कर ले और उसको महत्व आ जाए कि ऐसा तत्त्व मैं हूँ। तो स्वतः ही उसका ज्ञान उस तरफ (जाता है) जैसे ढाल बन जाता है - ढलान (slope) और ढलान (slope) में भले ही गाड़ी को बंद भी कर दे तो वो गाड़ी अपने-आप ही लुड़कती है। इस तरह वो ज्ञान अपने-आप लुढ़कता है शुद्धात्मा की तरफ, बिना पेट्रोल के, तब निर्विकल्प अनुभूति होती है।

तो ये अतीन्द्रियज्ञान का वास्तविक भेद है। और वो अतीन्द्रियज्ञान का मतलब इंद्रियज्ञान (है), उसका नाम अपन ने इंद्रियज्ञान (इसलिए) रखा (क्यों) कि वो केवल बाह्य पदार्थों में व्यवसाय करता है।

अनुभूति [26]स्वरूप माने वो प्रतिसमय चलनेवाली ज्ञान की पर्याय ये है लक्षण जिसका - ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा तो वो जानता है न कि ये अनुभूति जो है, वो ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय है। तो ज्ञान की पर्याय में 'मैं जाननेवाला हूँ' ऐसा हर आत्मा जानता है।

मुमुक्षुः- ज्ञान की पर्याय में 'मैं जाननेवाला हूँ'?

पूज्य बाबूजीः- 'मैं जाननेवाला हूँ, मैं जानता हूँ (और) मैं जानने वाला हूँ' - ये हर आत्मा जानता है।

मुमुक्षुः- हर आत्मा जानता है?

पूज्य बाबूजीः- हर आत्मा, निगोद का भी।

मुमुक्षुः- ये कैसे प्रभु?

पूज्य बाबूजीः- उसको सुख-दुख होता है न? दुख होता है न उसको निगोदिया जीव को? उसे जानता है कि नहीं? तो जानना स्वीकार किया कि नहीं उसने? माने उसके कोई ज़बान नहीं है कि बोले कि मैं जानता हूँ; तो उसका (ज़बान का) तो विषय है नहीं ये। लेकिन जानता है न भीतर से परिणति तो है न ऐसी कि मैं जाननेवाला हूँ - इतना (तो) जानता है। लेकिन जाननेवाला क्या होता है और कैसा होता है? और ज्ञान क्या होता है कैसा होता है? - तो इसका स्वरूप स्पष्ट विदित न होने के कारण वो अन्य का उसमें मिश्रण करके, अन्य से प्रतिबद्ध हो जाता है और अज्ञानी होता है।

और उस ज्ञान को शुद्ध मान ले कि ये ज्ञान में जो मोह-राग-द्वेष दिखाई देते हैं, तो ये परभाव हैं ज्ञान से बाहर के। ये ज्ञान के भीतर नहीं आते लेकिन ज्ञान में इनका स्वरूप मात्र भासित होता है। अज्ञानी जो है (वो) उस भासित होनेवाले मोह-राग-द्वेष के स्वरूप से ज्ञान को अर्थात् आत्मा को मोही-रागी-द्वेषी मान लेता है। ये प्रारंभ है, प्रारंभ एकदम आत्मानुभूति का (कि) कैसे प्रारंभ होती है।

26 आत्मानुभूति कैसे प्रारंभ होती है? - 26.16 Mins

जैसे मोह-राग-द्वेष से जो घबराया हुआ हो उसको आचार्य थपकी देते हैं एकदम सुख की कि मोह-राग-द्वेष से घबराए मत क्योंकि वो तेरे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुए और तेरी आत्मा में भी प्रविष्ट नहीं हुए। जब ज्ञान में ही प्रविष्ट नहीं हुए कि जो ज्ञान उनको जानता है, उसमें ही प्रविष्ट नहीं हुए तो आत्मा में प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि ज्ञान की तो पर्याय है वो तो (ये) कि जो मोह-राग-द्वेष को जानती है, जानने का काम करती है। तो उसमें ही प्रविष्ट नहीं हुए। तो इतना जाने वो कि ये मोह-राग-द्वेष का प्रतिभास वो सिर्फ मेरे ज्ञान में हो रहा है, उसके स्वरूपाकार मेरा ज्ञान (का) हो रहा है (बस) जानने रूप। मैं मोह-राग-द्वेष के स्वरूप को मात्र जानता हूँ। मोह-राग-द्वेष मेरे स्वरूप में, कभी मेरे ज्ञान में, मेरे ज्ञान की पर्याय में कभी नहीं आते। इस तरह मेरी ज्ञान की पर्याय अर्थात् ये अनुभूति.... शुद्धात्मानुभूति नहीं। ये जो चलनेवाली पर्याय है इसका नाम ज्ञान अर्थात् अनुभूति। ज्ञान का दूसरा नाम अनुभूति।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- तो वो जो अनुभूति है वो शुद्ध है, बस! ऐसा जानते ही मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ - इस तरह शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है। और आबाल-गोपाल सबके अनुभव में आया या नहीं कि मैं जाननेवाला हूँ? इतना तो सब जानते हैं। पर वो क्या है जाननेवाला कैसा होता है और जानना क्या और कैसा होता है - ये वो नहीं जानता तो अन्य के साथ प्रतिबद्ध हो जाता है। मैं अकेला निरालंब हूँ और जानना अर्थात् तीन लोक, तीन काल इतना जो अनंत है उसको भी एक समय में जान लेना ऐसी मेरी शक्ति (है) ऐसा मेरा स्वभाव है। ऐसा जाने तो मोह-राग-द्वेष की उपयोग के साथ, ज्ञान के साथ मिलावट नहीं करता अथवा आत्मा के साथ मिलावट नहीं करता।

ज्ञान शुद्ध ही है सचमुच देखा जाए तो। उसमें मोह-राग-द्वेष का और पर पदार्थ का तो प्रवेश हुआ ही नहीं; तो वो तो शुद्ध ही है। लेकिन वो जो प्रतिभास है अर्थात् मोह-राग-द्वेष के स्वरूप को जो जानता है, तो वो जानना ऐसा लगता है जैसे कि ये मोह-राग-द्वेष ही हों - ऐसा भ्रम उसमें पैदा होता है अज्ञानी को तो वो मोही-रागी-द्वेषी अपने आप को अनुभव करता है।

ज्ञान मोही-रागी-द्वेषी हुआ नहीं (है)। मोह-राग-द्वेष वो ज्ञान की पर्याय के बाहर ही रहे लेकिन उनका प्रतिभास अर्थात् उनके स्वरूप का जानना.... क्योंकि इधर मोह-राग-द्वेष हैं और ये ज्ञान (है)। ये तो ज्ञान-गंगा और ये इधर-उधर दोनों तरफ अटवी (जंगल) मोह-राग-द्वेष (की)। तो वो जो चल रहा है ज्ञान-गंगा की पगडंडी पर, तो उसको ये अटवी (जंगल) ज्ञात होती है कि नहीं? होती है। तो इसी तरह ये जो parallel समानांतर चलनेवाले मोह-राग-द्वेष, ज्ञान के समानांतर चलनेवाले (हैं) तो वो ज्ञान में भासमान होते हैं। अज्ञानी को भ्रम के कारण ऐसा लगता है, जैसे तोते को लगता है कि मुझे नली (pipe) ने... वो जो लकड़ी का एक बनाव है उसने मुझे पकड़ लिया। बंदर को भ्रम हो जाता है। इस तरह अनेक (उदाहरण) हैं - हाथी को भ्रम हो जाता है स्फटिक की शिला पर। स्फटिक की शिला के सामने जब हाथी होता है तो उसको दूसरा हाथी

दिखाई देता है, तो उसको भ्रम होता है कि ये कोई दूसरा हाथी मुझे मारने आ रहा है। तो वो टकराता है स्फटिक की शिला से और खून-खच्चर होकर मर जाता है। ये स्थिति है आत्मा की।

मुमुक्षु:- ये स्थिति (आत्मा की)?

पूज्य बाबूजी:- मोह-राग-द्वेष से टकराता है न! वो (तो) आए ही नहीं अंदर। आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप है केवल और पर्याय माने ज्ञानस्वरूप; और तो दूसरी इसकी पर्याय हैं ही नहीं। तो इतना ही है आत्मा तो (और) उससे बाहर सब अनात्मा हैं। ये मोह-राग-द्वेष अनात्मा हैं (और) अनात्मा को जान सके इतनी इसकी योग्यता है। इतनी इसकी शक्ति है, स्वभाव है पर्याय का भी; तो उनको जान लेता है। तो जानने में ठीक वैसा का वैसा होता है न। राग का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान में भासित होता है तो मान लेता है कि मैं रागी-मोही और द्वेषी हो गया।

मुमुक्षु[27]:- माने ये प्रतिभास से शुरू होवे तो तुरंत ही बात बन जाए।

पूज्य बाबूजी:- तुरंत बस! ये तो ज्ञान है; ज्ञान ही है और कुछ नहीं है। मेरे ज्ञान में किसी का प्रवेश होता ही नहीं है - ऐसा जान ले तो ज्ञान शुद्ध है। ज्ञान स्वच्छ था पहले तो। स्वच्छ में (मात्र) प्रतिभास होता था लेकिन इसको भ्रम के कारण मोह-राग-द्वेष लगता था। और अब जब इसने जाना कि मोह-राग-द्वेष तो न्यारे ही हैं और मैं मात्र सिर्फ जानन स्वभाववाला हूँ इसलिए ये जानने में आ जाते हैं। मुझे जानना भी नहीं है लेकिन ये जानने में आ जाते हैं। तो जानने में आ जाते हैं, तो ये जो जानने में आते हैं तो इनका स्वरूप जैसा जानने में आता है तो वो मोह-राग-द्वेष नहीं पर वो ज्ञान है। और ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ। इनसे क्यों टकराऊँ मैं? मैं अपने से टकराऊँ? माने स्फटिक की शिला से सिर फोड़ूँ? (ऐसे ज्ञान को स्वीकारे) तो अनुभूति हो जाती है माने शुद्ध अनुभूति हो जाती है। ये जो अनुभूति (अभी) है ये वास्तविक नहीं। ये वास्तविक नहीं।

आबाल-गोपाल सबके अनुभव में आ गया कि नहीं कि मैं जाननेवाला हूँ? बस इतना! इसका नाम आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा सर्वत्र सदैव (जानने में आ रहा है), ऐसा।

मुमुक्षु:- बाबूजी! जो समानांतर पटरी पर चलनेवाला राग (अर्थात् कि) जो मोह-राग-द्वेष का जो प्रतिभास है, वो भी जानन-भावरूप है न?

पूज्य बाबूजी:- जानन-भावरूप। हाँ! जानन-भाव तो ज्ञान है न?

मुमुक्षु:- ज्ञान है।

पूज्य बाबूजी:- ज्ञान है और क्या? प्रतिभास माने ज्ञान। बस! क्योंकि आ नहीं सकते हैं न वो। कुदरत की व्यवस्था, जो विश्व की व्यवस्था है उसी में निषेध है कि जो विजातीय तत्त्व हैं वो किसी दूसरे में प्रवेश नहीं करेंगे - अपने से जो विजातीय हैं; तो आत्मा (उनसे) विजातीय है (और) उधर मोह-राग-द्वेष आत्मा के विजातीय हैं। परस्पर विजातीय हैं तो वो प्रवेश नहीं करेंगे। यहाँ से प्रारंभ होता है अनुभूति का। अनुभव करने का जो व्यवसाय है वो यहाँ से होता है।

27 ज्ञान पहले स्वच्छ होता है फिर निर्मल होता है। - 33.22 Mins

खास तो ये घबराया हुआ होता है संसार से और और नरक-तिर्यंच-मनुष्य से और दुखों से, सुखों से और मोही-रागी-द्वेषी निरंतर होता रहा अनादि से हर समय, प्रति समय। बस! जिस क्षण सद्गुरु का प्रसाद मिला उसी समय जागा और जागकर देखा कि इनका प्रवेश अपने में होता ही नहीं है क्योंकि ये तो विजातीय हैं। और प्रतिभास होता है सिर्फ, माने जानना मात्र होता है, इतना। तो ठीक वैसा का वैसा जानना होता है न। जैसा राग है, मोह है, ठीक वैसा का वैसा जानना होता है तो वो मान लेता है कि ये ही है। जैसे उसने हाथी ने मान लिया कि ये जो है ये दूसरा हाथी है।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- ऐसा! इस तरह ये दूसरे हैं माने। ये जो ज्ञान है मेरा ये मोही-रागी-द्वेषी हो गया - ऐसा मान लेता है अर्थात् विजातीय का मेरे में प्रवेश हो गया। जैसे उस स्फटिक की शिला में दूसरा हाथी आ गया तो वो टकराता है। कुत्ता जैसे काँच के मंदिर में चला जाए तो वो टकराता है (और) भौं-भौं करता है क्योंकि (उसको) कुत्ते ही कुत्ते दिखाई देते हैं।

मुमुक्षुः- हाँ! और जोरों से करते हैं।

पूज्य बाबूजीः- बहुत जोरों से टकराता है। फिर वो ये जो घबराहट है न अनादिकाल की वो तो केवल इतने में ही समाप्त हो जाती है। विकल्प! सविकल्पदशा में ही।

मुमुक्षुः- ये भी सविकल्पदशा?

पूज्य बाबूजीः- ये सविकल्पदशा कि मोह-राग-द्वेष मेरे से कतई न्यारे ही हैं। सचमुच! पैदा हुए भले ही। पैदा तो, जैसे कोई खेत है तो उसमें चावल पैदा हुए। उसके साथ में झाड़ी भी पैदा होगी काँटों की। तो वो काँटों की झाड़ी चावल थोड़ी (न) बन गई। इस तरह ज्ञान इधर पैदा हुआ माने ज्ञान की पर्याय का उत्पाद, उधर मोह-राग-द्वेष का उत्पाद ये साथ ही साथ होता है, पर एक थोड़ी (न) हो गए। दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। ज्ञान में मोह-राग-द्वेष नहीं है और मोह-राग-द्वेष में ज्ञान नहीं है। तो यहाँ से, यूँ प्रारंभ होता है; क्योंकि घबराया हुआ होता है न कि उदय, कर्म का उदय, दर्शन-मोहनीय जैसा प्रबल शत्रु, अनंतानुबंधी जैसा महाबैरी - इनका उदय और मेरे भीतर मिथ्यात्व का भाव क्रोध-मान-माया-लोभ का भाव, कैसे नष्ट करूँ? कैसे टालूँ?

अरे! कुछ नहीं करना है। ये नाश करना ये आत्मा का काम थोड़े ही है।

मुमुक्षुः- अरे वाह रे वाह! वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजीः- किसी का नाश करना ये आत्मा का काम नहीं है। बस! सिर्फ इतना कि ये मैं नहीं हूँ (ये) मेरे नहीं हैं। अलग हैं! और अलग ही रहे हैं अनादि से, सदा।

मुमुक्षुः- किये नहीं हैं।

पूज्य बाबूजी:- और आगे भी अगर रहेंगे तो अलग ही रहेंगे इसलिए ये मात्र मेरे ज्ञेय तत्त्व हैं। ज्ञेय तत्त्व से विमुख हो जाता है। ज्ञेय जाना कि विमुख हुआ और स्वसन्मुख होकर अनुभव करने लगता है।

मुमुक्षु:- ज्ञेय जाना तुरंत ही...

पूज्य बाबूजी:- मुड़ जाता है। माने अपने हैं ही नहीं, मेरा परिवार ही नहीं है। मेरे सगे-संबंधी ही नहीं हैं। मेरा कोई कुटुंब ही नहीं ये, कोई पारिवारिक (संबंध) नहीं है ये मेरा। बस! मुड़ जाता है। जैसे पुद्गल से, देह से इत्यादि से मुड़ता है - ऐसे उनसे भी मुड़ जाता है। लौट जाता है ज्ञान और फिर तो एक वो ध्रुव ही रहता है बाकी। सारे विश्व में अब कौन बचा?

मुमुक्षु:- मैं।

पूज्य बाबूजी:- बस! मैं बचा।

मुमुक्षु:- माने कि ज्ञान की पर्याय का स्वच्छत्व से....

पूज्य बाबूजी:- निर्मल होती है फिर। अनुभूति होती है तो निर्मल हो जाती है; पहले स्वच्छ है।

मुमुक्षु:- कौन, ज्ञान की पर्याय?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञान की पर्याय। तो वो भासमान होते हैं; उनका जो स्वरूप है वो उसमें भासमान होता है, उसको प्रतिभास कहते हैं। ज्ञान की पर्याय का ही दूसरा नाम प्रतिभास है - साकार (अर्थात्) आकार सहित है। वो हमेशा होती है पर उसको फिर वो गौण कर देता है। कि ये क्या है? इसमें मेरा क्या है? इसमें मेरा क्या है? ज्ञान ही है (इन) सबका तो। कुछ विशेष हो तब तो जरूर मैं इसको देखूँ। भाई! इसमें कुछ विशेषता ही नहीं है तो उससे भी मुड़ जाता है।

मुमुक्षु:- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- अपनी ज्ञान की पर्याय से मुड़कर और ज्ञायक पर चला जाता है, केंद्रित हो जाता है। तो अनुभूति हो जाती है, सच्ची अनुभूति। अब सच्ची अनुभूति अब हुई। पहले जो अनुभूति शब्द है वो है प्रति समय चलनेवाली ज्ञान की पर्याय। सैनी पंचेन्द्रिय को होती है ये (पर्याय) मनवाले जीव को।

मुमुक्षु:- माने कि पर्याय का सामान्य स्वरूप कहा जावे?

पूज्य बाबूजी:- हाँ!

मुमुक्षु:- पर्याय का सामान्य स्वरूप। माने अनादि-अनंत सभी पर्यायों का सामान्य....

पूज्य बाबूजी:- नहीं! वो तो वो जो ज्ञान की पर्याय है, वो तो पाँच इंद्रिय और मनवाली है। पर है ज्ञान, ज्ञान ही है। मोह-राग-द्वेष तो नहीं है। मोह-राग-द्वेष न्यारे ही हैं और वो भी फिर जब ज्ञान में मोह-राग-द्वेष का प्रतिभास हुआ तो इसने अपने आपको मोही-रागी-द्वेषी (मान लिया)। क्योंकि ठीक वैसा का वैसा होता है न?

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- जैसे किसी व्यक्ति का जो आकार है, तो वो उसका जो फोटो बनाया गया तो ठीक वैसा का वैसा लगता है। ठीक वैसा लगता है, जरा भी फरक नहीं लगता। लेकिन वो फोटो है; अब उससे कोई पुत्र जो है वो पैसा माँगे कि पिताजी! पैसा दो। तो क्या देगा वो?

मुमुक्षुः- है ही नहीं।

पूज्य बाबूजीः- है नहीं।

मुमुक्षु[28]:- और मेरे ज्ञान ने मतलब बाबूजी को कभी जाना ही नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- जाना ही नहीं है।

मुमुक्षुः- बाबूजी के संबंध का जो ज्ञान है वो, वो मैं हूँ?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान ने सदा ज्ञान को ही जाना है।

मुमुक्षुः- आहाहा! अद्‌भुत! अद्‌भुत! अद्‌भुत!

पूज्य बाबूजीः- और उससे आगे कि ज्ञान ने सदा ध्रुव को ही जाना है (और) ध्रुव को ही जानता है। एक बार ध्रुव को जान लेने के बाद भले ही हट जाए, लेकिन हट जाए तो भी... जैसे वो मणिधर सर्प होता है तो वो जो है मणि को (बीच में) रख देता है और उस मणि के प्रकाश में वो घूमता है। तो वो बाहर भी जाता है तो वो उसके प्रकाश की सीमा में ही घूमता है। इस तरह ज्ञान बाहर भी चला जाता है तो परत्व लेकर जाता है। और स्वत्व जिसके साथ था, अपनापन जिसके साथ (एक बार) किया उसको कभी भूलता नहीं है और बार-बार याद भी नहीं करता।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! वाह रे वाह! वाह रे वाह! बार-बार याद भी नहीं करता।

पूज्य बाबूजीः- और भूलता भी नहीं है।

मुमुक्षुः- तो ये तो कैसी बात हो गई?

पूज्य बाबूजीः- ये तो रोज़ होती है। ये रोज़ होती है।

मुमुक्षुः- बाबूजी, यहाँ से राग और ज्ञान की भिन्नता भासती है?

पूज्य बाबूजीः- वो तो भास गई न, राग और ज्ञान की भिन्नता तो।

मुमुक्षुः- बाबूजी एक सवेरे बात आई थी कि अनुभूति स्वरूप; तो अनुभूति स्वरूप का अर्थ द्रव्यरूप से करना चाहिए, द्रव्य स्वभाव से करना चाहिए? उसका थोड़ा सा ज्यादा स्पष्टीकरण। क्योंकि....

पूज्य बाबूजीः- हो गया न स्पष्टीकरण कि वो द्रव्य उतना ही है। जो अनुभूति है वो शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है। लेकिन अनुभूति माने प्रति समय चलनेवाली ज्ञान की पर्याय इसका नाम अनुभूति है। इसका नाम अनुभूति है क्योंकि अनुभवरूप होती है न वो। किसी न किसी के

28 क्या मेरे ज्ञान ने बाबूजी को कभी जाना ही नहीं है? - 41.59 Mins

अनुभवरूप तो होती है, इसलिए अनुभूति (है)। लेकिन वो अनुभूति भी है आत्मा का लक्षण (है) और ये उसको मान लेता है रागी-द्वेषी-मोही।

मुमुक्षुः- ये क्या कहा? अनुभूति है ....

पूज्य बाबूजीः- है आत्मा का लक्षण और ये उसको रागी-द्वेषी और मोही, राग-द्वेष-मोह का मिश्रण करके रागी-द्वेषी-मोही मान लेता है, ऐसा।

मुमुक्षुः- ये जो सवेरे कहा था कि अनुभूति स्वरूप माने कारणशुद्धपर्याय से उसका अर्थ होता है, वो थोड़ा स्पष्टीकरण।

पूज्य बाबूजीः- वो नहीं, वो अनुभूति नहीं; वो अलग है न। वो तो द्रव्य के अर्थ में है, वो अनुभूति। तो वो विषयांतर हो जायेंगे न अपन, विषयांतर हो जायेंगे।

अभी तो ये विषय बहुत सुंदर है कि (अनुभव की प्रक्रिया को) प्रारंभ कैसे करें? (क्यों) कि हम तो घबराए हुए हैं। तो कहते हैं घबराओ मत, एक बात। ये तुम्हारे भीतर आए ही नहीं हैं। तुमसे हमेशा न्यारे ही रहे हैं। तो इसको एकदम प्रसन्नता होती है कि मेरे से न्यारे रहे हैं? और मेरे को छूते तक नहीं? और बिल्कुल विजातीय तत्त्व हैं पुद्गल हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं - ऐसा जाना तो जानते ही एकदम प्रसन्नता ज्ञान में होती है। और ध्रुव का स्वरूप गुरुदेव से सुना ही है (तो) ध्रुव के स्वरूप का चिंतन शुरू हो जाता है। तो (फिर) मोह-राग-द्वेष का देखना नहीं होता, तो ध्रुव का चिंतन प्रारंभ हो जाता है। और उस चिंतन में भी फिर माने धीमापन आता जाता है। पहले चिंतन ज़ोरों पर चलता है (और) फिर वो धीमा हो जाता है।

जैसे बर्फ है न, पानी था अब वो जमने लगा। तो जमने में समय लगता है। वो जो तरलता है वो जब तक रहती है तब तक उसमें वो संभावना रहती है हिलने की। और जब बर्फ बन जाता है तो एकदम घनत्व हो गया। इस तरह वो चिंतन चलते-चलते चिंतन रुका और अनुभूति का जो बर्फ का घनत्व है, वो प्रगट हो गया।

मुमुक्षुः- आहाहा! अनुभूति का बर्फ का घनत्व है वो प्रगट हो जाता है।

पूज्य बाबूजीः- प्रगट हो जाता है।

मुमुक्षुः- तो बाबूजी! मेरे ज्ञान में 'ये बाबूजी हैं' वो जो निर्णय आता है वो क्या है? मेरे ज्ञान में अभी हुआ था कि 'ये बाबूजी बैठे हैं, ये बाबूजी हैं' - वो क्या है?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान है, वो ज्ञान है।

मुमुक्षुः- तो बाबूजी, ये भ्रांति हो गई न मतलब ये जो माना कि 'ये बाबूजी हैं' - ये भ्रांति हो गई।

पूज्य बाबूजीः- भ्रांति है न ये हमेशा की। ये हमेशा की भ्रांति है न। ये ही भ्रांति है। इसी को तो तोड़ रहे हैं कि जो बाहर है तेरे वो तेरे भीतर आएगा कहाँ से? कि ये मुझे दिखाई देते हैं, ये भी झूठ है।

मुमुक्षुः- ये मुझे दिखाई देते हैं, ये झूठ है?

पूज्य बाबूजीः- झूठ है; आत्मा को देखे बिना। आत्मा को देखे बिना ऐसा बोले कि ये मुझे दिखाई देते हैं तो (ये) झूठ है। और आत्मदर्शन हो जाए और (फिर) ये बोले तो व्यवहारनय है।

मुमुक्षुः- बराबर! अद्‌भुत! अद्‌भुत! अद्‌भुत बाबूजी! बहुत स्पष्ट खुलासा।

पूज्य बाबूजीः- क्योंकि बोलना तो होता है, भाषा थोड़ी (न) बदल जाती है ज्ञानी की। अभी रोटी नहीं बनी क्या? देर बहुत हो गई, क्यों नहीं बनाई? जल्दी जाना है। ये सब नहीं होता ज्ञानी को? लड़ाई-झगड़ा, सब कुछ व्यवसाय।

मुमुक्षु[29]:- बाबूजी! ये चक्षु इंद्रिय के विषय को उसने जानना मान लिया - ऐसा हुआ न यही भ्रांति हुई?

पूज्य बाबूजीः- चक्षु से जानना मान लिया - ये भ्रांति।

मुमुक्षुः- चक्षु से जानना मान लिया।

पूज्य बाबूजीः- चक्षु तो जानने से शून्य है। तो जो ज्ञान-शून्य है, उससे ज्ञान पैदा होगा? या उसकी सहायता से ज्ञान पैदा होगा? कि क्या सहायता देगा वो? जो निरक्षर है, वो साक्षर बनाएगा किसी को?

मुमुक्षुः- तो चक्षु इंद्रिय का उघाड़ वो क्या है? ये द्रव्य चक्षु है, इसका उघाड़ उसको क्या बोलें?

पूज्य बाबूजीः- वो भावइंद्रिय (है) ज्ञान, उसका उघाड़ माने भावइंद्रिय। चक्षु तो केवल निमित्त है, माध्यम - ऐसा। क्योंकि वो तो कमजोरी है ज्ञान की। जैसे कमज़ोर आदमी कोई सहारा लेता है न? कोई व्यक्ति अपने पुत्र का सहारा लेकर चलता है, लकड़ी का सहारा लेकर चलता है। किसी का सहारा! सहारे का अर्थ ये कि वो सहारा दे रहा है, ऐसा नहीं। वह (तो) अपनी ही ताकत से चल रहा है। इधर अपनी ताकत और उधर लकड़ी का होना, दोनों साथ-साथ होते हैं। लेकिन उससे नहीं सहायता होती, अब उससे चला नहीं जाता। और मैं लकड़ी से चलता हूँ - ऐसा कहता है लेकिन मानता नहीं भीतर से कि जब टूट ही जायेंगे हाथ-पैर तो लकड़ी क्या करेगी? शक्ति ही नहीं रहेगी।

मुमुक्षुः- तो ये 'भावइंद्रिय' के लिए 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग क्यों किया? भावइंद्रियज्ञान मतलब?

पूज्य बाबूजीः- भावइंद्रिय माने इंद्रियों के माध्यम से होनेवाला जो ज्ञान है... द्रव्यइंद्रिय माने ये, ये पौद्गलिक। और भावइंद्रिय माने इनके निमित्त से जो ज्ञान होता है उसका नाम भावइंद्रिय। वो सब जड़ में डाला, पर में डाला। वो सब पर में डाला क्योंकि उसका व्यापार भी पर में होता रहा है सदा से।

29 चक्षु इंद्रिय का उघाड़ है वो क्या है? - 47.55 Mins

मुमुक्षुः- है तो ज्ञान पर, पर (द्रव्य) में डाल दिया क्योंकि पर का सहारा ले लिया।

पूज्य बाबूजी:- पर का ही है न। पर का ही है न सदा। वो पर में ही व्यवसाय करता है निरंतर और स्व में जिसने किया ही नहीं, जाना ही नहीं अपने आप को और अपने आप को पर का ज्ञाता मानता है, तो अपनी सत्ता ही स्वीकार नहीं की तो पर को क्या जानेगा? इसलिए वास्तव में तो वो जानता ही नहीं है ऐसा। आचार्यों का शब्द ऐसा है कि उसको ज्ञान भी नहीं है और उसको सुख भी नहीं है (कलश-टीका कलश १); है ही नहीं।

मुमुक्षुः- और आत्मज्ञान के बाद ज्ञान भी है और सुख भी है, दोनों हैं।

पूज्य बाबूजी:- उसके साथ राग पैदा होता है क्योंकि अनुभूति नहीं हुई। अनुभूति नहीं हुई तो ये ज्ञान का विकल्प है। और ज्ञान का विकल्प है इसलिए राग पैदा होता है। और ज्ञान जब निर्विकल्प होकर अनुभूतिरूप बन जाता है तो फिर राग का जन्म नहीं होकर सुख का ही जन्म होता है, अतीन्द्रिय आनंद का।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

जिनवाणी-स्तुति

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ४, तारीख २८-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

[30]मुमुक्षुः- अज्ञानी ध्यान किसे कहते हैं? आत्म-ध्यान की विधि क्या है? ध्यान किसे कहते हैं? आत्म-ध्यान की विधि क्या है? ध्यान के ध्येय का स्पष्टीकरण कीजिए?

पूज्य बाबूजीः- ध्यान किसे कहते हैं? आत्म-ध्यान की विधि क्या है? ध्यान के ध्येय का स्पष्टीकरण।

ध्यान का लक्षण है एकाग्र संचेतन लक्षण। **एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्** (मोक्षशास्त्र अधिकार ९, सूत्र २७) ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में (है) **एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्**। किसी एक पदार्थ अथवा उसकी अवस्था में उपयोग का एकाग्र होना - इसका नाम ध्यान है, अंतर्मुहूर्त पर्यंत। अंतर्मुहूर्त पर्यंत उपयोग का किसी एक भाव में, एक पदार्थ में, द्रव्य में, गुण में, पर्याय में किसी में एकाग्र होना - इसका नाम ध्यान है। अंतर्मुहूर्त पर्यंत! लक्षण तो सबमें यही घटित होता है। अब वो ध्यान शुभ और अशुभ ऐसा दो प्रकार का होता है - आर्तध्यान और रौद्रध्यान।

आर्तध्यान माने आर्तरूप परिणाम, आर्त परिणाम, दुखी परिणाम। तो आर्तध्यान - इसके हर एक (ध्यान) के चार भेद हैं न। **इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीड़ा चिंतन (रोग जनित) और निदानबंध (निदान जनित)** - ये तो आर्तध्यान के भेद (हुए)।

इष्ट वियोगज - इष्ट का वियोग हो तब उसमें शोक करना, विलाप करना अंतर्मुहूर्त (पर्यंत)। अंतर्मुहूर्त माने वो पूरा अंतर्मुहूर्त नहीं। अंतर्मुहूर्त के तीन भेद हैं - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। तो उसमें से मध्यम अंतर्मुहूर्त उसकी पीड़ा का चिंतन करना, शोक का, विरह का (अथवा) वियोग का, तो वो तो (है) इष्ट वियोगज। **अनिष्ट संयोगज -** जो अपने को अच्छा नहीं लगता हो ऐसे पदार्थ का चिंतन करना (कि) क्यों मिल गया? क्यों आया ये? इसे चला जाना चाहिए। ये मुझे नहीं चाहिए - इस तरह दुखी परिणाम करना वो अनिष्ट संयोगज। **पीड़ा चिंतन -** शरीर में पीड़ा होने पर, व्याधि होने पर, रोग होने पर इसी का चिंतन करना। अंतर्मुहूर्त सबमें लगाना, वो कितना ही चल सकता है आगे; तो वो अंतर्मुहूर्त, अंतर्मुहूर्त, अंतर्मुहूर्त इस तरह भी हो सकता है। और **निदानबंध -** आगामी काल के लिए भोगों की आकांक्षा करना, ये निदानबंध।

इसी तरह रौद्रध्यान, वो भी अशुभ होता है। **हिंसानंद, मृषानन्द, चौर्यानन्द (स्तेयानंद) और परिग्रहानन्द। हिंसानंद -** माने हिंसा करके और आनंदित होना। हिंसा का परिणाम करके

30 ध्यान का स्वरूप क्या है? आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भेद। - 0 Mins

अथवा उसके साथ में हो जाए तो द्रव्यहिंसा (भी) हो जाए। द्रव्यहिंसा तो ये नहीं करता (लेकिन) द्रव्यहिंसा का भाव करता है। तो द्रव्यहिंसा का भाव और उसके साथ द्रव्यहिंसा हो जाए, उसमें आनंद मानना। (यानि) जिसको ये नहीं चाहता है उसका नुकसान होना, कुछ भी मतलब बिगाड़ होना - उसका नाम हिंसानन्द (अर्थात्) हिंसा करके आनंदित होना। **मृषानन्द -** झूठ बोलकर आनंदित होना; झूठ बोलने से कोई वस्तु मिल जाए (वो) झूठ से तो मिली नहीं (बल्कि) पूर्व-योग से मिलती है। लेकिन वो झूठ बोलकर आनंदित होता है न व्यक्ति? व्यवसाय में कहीं भी अपने इष्ट के सिद्धि के लिए, किसी भी तरह (से)। **चौर्यानन्द -** चोरी करके आनंदित होना। और **परिग्रहानन्द -** परिग्रह का संचय जितना हो उससे और अधिक होता जाए उसमें आनंदित होना, ये परिग्रहानंद।

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ होते हैं। मुनिराज को रौद्रध्यान नहीं होता (परंतु) आर्तध्यान हो सकता है लेकिन वो भी शुभरूप होता है। जैसे संघ में किसी आचार्य का वियोग हो जाए तो मुनिराजों को उसमें दुख का वेदन होता है, लेकिन है वो शुभरूप। अथवा किसी मुनिराज का ही वियोग हो जाए तो उसमें आचार्य को भी विचार आवे, तो वो (आर्तध्यान) मुनिराज को भी होता है। पर निदानबंध मुनिराज को नहीं होता। चौथा जो भेद है आर्तध्यान का, वो मुनिराज को नहीं होता।

अब दूसरे जो शुभध्यान हैं, वो जो केवल आत्मा में एकाग्र संचेतन लक्षणवाले हैं, जिसमें आत्मा को अग्र करके माने एक मात्र आत्मा में उपयोग को लगाकर और जो अवस्था होती है, स्वसंवेदन रूप, निर्विकल्प समाधिरूप जो अवस्था होती है वो भी अंतर्मुहूर्त (के लिए होती है)। अंतर्मुहूर्त माने मध्यम (अंतर्मुहूर्त), उत्कृष्ट नहीं। जो उत्कृष्ट होता है तो केवलज्ञान हो जाता है। इसलिए मध्यम अंतर्मुहूर्त पर्यंत आत्मा का एकाग्र संचेतन माने शुद्धात्मा की अनुभूति, आनंदमय अनुभूति (होना).... उसमें आनंद होता है अतीन्द्रिय-वास्तविक, तो उसका नाम धर्मध्यान (है) और उसी का विशेष और अधिक तीव्रता से वेदन होना, तीव्र पुरुषार्थ से जिसमें (कि) कर्मों के जत्थे के जत्थे खिर जाते हैं अपने आप - ऐसा शुक्लध्यान; ये दो ध्यान शुभ होते हैं और दो ध्यान अशुभ होते हैं।

बस! अंतर्मुहूर्त होता है, माने एक मुहूर्त होता है ४८ मिनट का। तो ४८ मिनट से कम, माने ४८ मिनट में एक समय कम और आँवली से ऊपर - यह तो उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त हुआ। 'आँवली' माने ये करणानुयोग का शब्द है, समय का परिमाण (measurement) है एक। आँवली से ऊपर का जो समय है एक समय ऊपर, वो जघन्य अंतर्मुहूर्त (है)। इन दोनों (आँवली और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त) के बीच में.... माने ४८ मिनट से एक समय कम और आँवली के एक समय से और ऊपर (जो भी है) वो सब मध्यम अंतर्मुहूर्त के भेद (हैं)।

अब आँवली किसे कहते हैं? कि एक श्वास में संख्यात् आँवली होती हैं। अपन जो एक श्वास लेते है - श्वासोच्छवास, उसमें संख्यात् आँवली होती हैं। ये अपनी आगम की परिभाषा है। श्वासोच्छवास किसे कहते हैं? एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी जितने समय में एक बार चलती है उतने समय को श्वासोच्छवास कहते हैं। एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी जितने समय में एक बार चलती है उसको एक श्वासोच्छवास कहते हैं। और एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छवास होते हैं, 3773।

अंतर्मुहूर्त - आँवली से ऊपर के समय को, आँवली से ऊपर और (एक) मुहूर्त से कम समय को अंतर्मुहूर्त कहते हैं। आँवली से ऊपर माने एक समय (ऊपर)। एक श्वास में संख्यात् आँवली होती हैं। संख्यात्, असंख्यात् और अनंत - ये अपने यहाँ जैन-गणित (mathematics) के भेद हैं। संख्यात् माने जिसकी संख्या हो (और) असंख्यात् माने जो संख्या में नहीं आवें, और अनंत माने जिनका अंत न हो - ऐसा अनंत।

अब श्वासोच्छवास - एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी जितने समय में एक बार चलती है उसे एक श्वासोच्छवास कहते हैं। अब चौथा, एक मुहूर्त में ३७७३ (3773) श्वासोच्छवास होते हैं। तो अंतर्मुहूर्त में उससे कम होंगे। ३६८५ या कुछ ऐसा आता है अंतर्मुहूर्त (में)।

अब[31] दूसरा कि आत्म-ध्यान की विधि क्या है? आत्मानुभूति की जो विधि है वही आत्मध्यान की विधि है। क्योंकि ध्येय जो है वो ध्रुव होना चाहिए तो परिणति उसमें अचल रहेगी। और ध्येय यदि चल (चलित) होगा, जैसे (कि) पर्याय को ध्येय बनायेगा अथवा परपदार्थ की पर्याय को ध्येय बनायेगा तो परिणति चलायमान होगी। तो इसलिए ध्यान एकाग्र संचेतन.... है तो (शब्द) चिंता निरोध, लेकिन चिंता-निरोध का अर्थ वहाँ अनुभव (है)। **एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्** (एकाग्रचिंता का निरोध ध्यान है, अन्तर्मुहूर्त ध्यान का उत्कृष्ट काल है) अंतर्मुहूर्त पर्यंत। तो जो ध्रुव आत्मतत्त्व है उसमें एकाग्र होना ये अनुभूति की विधि (है), इसे अनुभूति कहते हैं। और जो अनुभूति है (वो) मध्यम अंतर्मुहूर्त की होती है और उसी को ध्यान कहते हैं।

क्या है कि अपनी जो परिणति है वो एक-एक समय की होती है, एक-एक समय की। तो एक समय की परिणति का नाम ध्यान नहीं होगा। वो एक ही परिणति अंतरर्मुहूर्त पर्यंत चले तो उसका नाम ध्यान हो जाएगा, उस परिणति का नाम। एक-एक समय की होगी तो उसका नाम परिणति, परिणाम, अनुभव, अनुभूति (है) और वही अनुभूति एक समय-समय करके और अंतरर्मुहूर्त पर्यंत हो ....तो अंतर्मुहूर्त पर्यंत तो होती ही है आत्मानुभूति, तो उसका नाम ध्यान है। इसलिए अनुभूति की जो विधि है कि आत्मा को जगत के सारे पदार्थ और अपनी समस्त पर्यायें उनसे खाली करके और एक मात्र उसमें ध्रुव की स्थापना करना - इसका नाम शुद्धात्मानुभूति है और उसमें आनंद का वेदन होना।

31 आत्म-ध्यान की विधि क्या है? - 12.19 Mins

सबसे खाली करे मन को, माने मनरूप जो ज्ञान है उसको, उपयोग को सर्व जगत से - सारे विकारी भाव, आठ प्रकार के कर्म और अपनी भी शुद्धाशुद्ध पर्यायें, उन सबसे खाली करके अकेले ध्रुव पर उपयोग को स्थापति करना और उसमें अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होना, इसका नाम ध्यान (है)। अतीन्द्रिय आनंद का जो अनुभव होता है तो वो ये करता नहीं है। ये तो करता है माने मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ - ये तो इतना करता है और जिस समय वो आनंद उत्पन्न होता है, उस समय भी वो अपने ध्रुव से स्खलित नहीं होता, वहाँ से उसका पतन नहीं होता तो उधर आनंद का जन्म होता रहता है। जहाँ ध्रुव से इसका उपयोग हटा तो वो आनंद कपूर हो जाता है, चला जाता है। लेकिन उसमें फर्क है कि, ये अनुभव के समय जो आनंद होता है वो तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान या स्वसंवेदन ज्ञान, उसके कारण जो आत्मा की समस्त पर्यायों में आंशिक शुद्धि प्रगट हुई.... माने श्रद्धा की पर्याय तो सम्पूर्ण शुद्ध हुई (और) ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध ही है। केवलज्ञान की अपेक्षा नहीं लें तो ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध ही है। और चारित्र में आंशिक परिणति माने आत्मा में स्थिरता-लीनता उसका नाम चारित्र, आचरण (है)। आचरण जिसे कहते हैं न तो आचरण माने चलना-फिरना नहीं। उसमें (आत्मा में) स्थिरता और लीनता उसका नाम चारित्र।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का जन्म एक समय में होता है। पर जो ध्याता है (अर्थात्) ध्यान करनेवाला, उसका ध्यान इनकी ओर नहीं जाता और इनसे उत्पन्न होनेवाले माने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय आनंद पर भी उसका ध्यान या उसका उपयोग नहीं जाता। केवल ध्रुव पर उसका उपयोग रहता है, तो उधर ये आनंद चलता रहता है। वो भी जानने में आता है लेकिन परतत्त्व के रूप में, स्वतत्त्व के रूप में नहीं। स्वात्मा के रूप में नहीं (बल्कि) परात्मा के रूप में जानने में आता है क्योंकि ज्ञान है; तो ये भीतर ही भीतर का स्वपरप्रकाशक हुआ।

मुमुक्षुः- वाह! ये क्या कहा प्रभु? भीतर ही भीतर....

पूज्य बाबूजीः- स्व तो है शुद्धात्मा और ये आनंद जो है पर्याय, तो ये हुई पर क्योंकि शुद्धात्मा से इसका मेल नहीं है। वो है नित्य और ये है अनित्य। वो है शुद्ध, पूरा शुद्ध, त्रैकालिक शुद्ध (और) ये है एक समय का शुद्ध। ये परिवर्तन पानेवाली है (और) वो अविनश्वर है; उत्पाद-व्ययवाली है ये। इसलिए इस पर उसका उपयोग नहीं जाता तो इसलिए परतत्त्व है ये क्योंकि शुद्धात्मा को स्व माना न। शुद्धात्मा जैसा जगत में और कोई नहीं है - इसकी पर्यायों समित, सिद्ध दशा समित और कोई नहीं (है) इसलिए वो सब परतत्त्व हैं। बल्कि आचार्यों ने तो कहा कि ये सब पुद्गल के परिणाम हैं सारे।

इसलिए ध्येय ध्यान का ध्रुव होता है, ध्रुव; तो लक्ष्य-वेध (निशाना लगाना) होता है। ध्रुव हो तो लक्ष्य-वेध होता है। अब कोई चीज जैसे यूँ फिर (घूम) रही हो और कोई उसका लक्ष्य-वेध करना चाहे तो नहीं होगा। और वो अगर एक स्थान पर है तो लक्ष्य-वेध हो जाएगा। तो ध्रुव तो

अचल है इसलिए उपयोग उसमें केंद्रित हो जाता है, जम जाता है। और अंतर्मुहूर्त वो अवस्था रहती है तो वो ध्यान नाम पाती है।

आनंद [32]सर्व गुणों की, सर्व गुणों की पर्यायों का निचोड़। है न? जैसे शरबत, ठंडाई वो कितनी ही चीजों की जो पर्यायें हैं, परिणाम हैं, उनका निचोड़ है न एक ...

मुमुक्षुः- सुख गुण की ....

पूज्य बाबूजीः- सुख गुण की कहते हैं, वैसे कह सकते हैं लेकिन ये एक अलग व्यवस्था है। जिस समय उपयोग शुद्धात्मा में लीन होता है, केंद्रित होता है तो उस समय ये जो आनंद होता है, ये ऐसा आनंद हर समय नहीं रहता। लेकिन उसी समय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जन्म और वो सुख की अवस्था (होती है) तो सुख की पर्याय में भी शुद्धि आती है; तो वो शुद्धि निरंतर रहती है, हर समय और उसके कारण हर समय सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है। शुद्धि में वृद्धि होती रहती है लेकिन फिर भी पाँचवा गुणस्थान नहीं आवे - इतनी भी अवस्था होती है, और शुद्धि में वृद्धि होती ही रहती है। और (निर्विकल्प) वेदन न हो, वेदन नहीं हो तो भी सुख गुण की जो निर्मल पर्याय हुई वो बाह्य पदार्थों में उपयोग के समय भी वो सुख गुण की पर्याय (तो) रहती है। तो सुख और दुख इनकी मिश्र पर्याय चलती है।

मुमुक्षुः- साधक हो (बाद में उसकी) सविकल्पदशा की बात है।

पूज्य बाबूजीः- सविकल्पदशा की, साधक (की)।

मुमुक्षुः- आनंद नहीं रहता है तब?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! आनंद उसको कहते हैं (कि) उपयोगात्मक जो है। उपयोग शुद्धात्मा में लीन हुआ और आनंद का जन्म हुआ तो वो सारी पर्यायों का एक निचोड़ है। तो ऐसा है न जैसे भोजन करते समय हमें आनंद होता है, और उसके बाद वो आनंद नहीं रहता लेकिन तृप्ति रहती है। वो तृप्ति (हुई यहाँ पर) सुख गुण की पर्याय।

मुमुक्षुः- बाबूजी! ये जो आनंद है उसको ज्ञान का आनंद बोल सकते हैं।

पूज्य बाबूजीः- नहीं! ज्ञान अलग चीज है। वो तो सारे गुणों की पर्यायों का, सारे गुणों की पर्यायों का (निचोड़ है)। ज्ञान तो वेदन करनेवाला है, जाननेवाला है, जाननेवाला।

हाँ! तो ध्यान का ध्येय ये हुआ। जो ध्रुव शुद्धात्मा है एक मात्र वही शुभ ध्यान का, सच्चे ध्यान का, सम्यक् ध्यान का ध्येय होता है; होता है और होना चाहिए। यदि ध्रुव न हो तो ध्यान शुभ नहीं होगा, सम्यक् नहीं होगा।

अब [33]ध्यान का स्वरूप जानना हो तो आज इस विषय को ही कर लें।

32 आनंद और सुख में अंतर - 19.22 Mins

33 ध्यान का स्वरूप - प्रवचनसार गाथा १९२ के आधार से - 22.30 Mins

एक तो अपने इसमें भी है प्रवचनसार में। देखो! एक तो शुद्धात्मा का स्वरूप है १९२वीं गाथा में। **એ રીતે જ્ઞાનાત્મક, દર્શનભૂત, અતીન્દ્રિય મહા પદાર્થ, ધ્રુવ, અચળ, નિરાલંબ અને શુદ્ધ માનું છું. मैं आत्मा को इसप्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।** ये तो आत्मा का स्वरूप हुआ, शुद्धात्मा का।

अब १९४ है यह गाथा प्रवचनसार (की)। इसमें देखिए **इस यथोक्त विधि के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, इस यथोक्त विधि के द्वारा** पहले जो विधि कही गई है, उस तरह जो आत्मा को शुद्ध जानता है, ध्रुव जानता है.... शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है। आत्मा शुद्ध है क्योंकि उसमें किसी का मेल नहीं है, मिश्रण नहीं है। तो **ध्रुव जानता है। उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा** उसको उसके उपयोग की, उसकी ज्ञान की उसी में प्रवृत्ति के द्वारा **शुद्धात्मत्व होता है;** शुद्धात्मत्व होता है माने शुद्धात्मा का वेदन होता है। **इसलिये** शुद्धात्मा का वेदन होता है इसलिए **अनन्तशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्रसंचेतन लक्षण ध्यान होता है;** इसलिए उसको अनंत शक्तिवाले चिन्मात्र **परम आत्मा का** परम आत्मा। क्योंकि आत्मा तो सभी को कहते हैं न अपन। मिथ्यादृष्टि तो सबको ही (आत्मा) कहता है। सम्यग्दृष्टि हो तो भी पर्याय भी आत्मा, गुण भी आत्मा सभी (को आत्मा कहता है) लेकिन परम आत्मा माने वो ध्रुव शुद्धात्मा।

आत्माका ध्यान होता है; और इसलिये (उस ध्यान के कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले को — दोनों को अविशेषरूप से एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से – अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रंथि (मोहकी दुष्टगाँठ) छूट जाती है। ये मिथ्यादर्शन (को) वो उधर कर्म की अपेक्षा (से) कहें तो दर्शनमोह और अनंतानुबंधी का अभाव हो जाता है **एकाग्रसंचेतन**। इसमें दो शब्द आए हैं - साकार उपयोगवाला और अनाकार उपयोगवाला; तो एक तो दर्शन और एक ज्ञान। अर्थात् उसका जो दर्शन है, दर्शन गुण जो निर्विकल्प होता है (वो) केवल सत्ता मात्र को स्वीकार करता है। जीव हूँ - ऐसा स्वीकार नहीं करता, सत्ता मात्र को स्वीकार करता है। लेकिन जिस समय जो उपयोग है ज्ञान, वो आत्मा के सन्मुख होनेवाला होता है, आत्मा का अनुभव करनेवाला होता है तो उसके पहले वो दर्शन की पर्याय भी आत्मा के सन्मुख हो जाती है।

मुमुक्षुः- उसके पहले।

पूज्य बाबूजीः- उसके पहले - सत्तावलोकनरूप, केवल सत्ता; और उसके बाद ये उपयोग माने जो ज्ञान है, ज्ञान उपयोग। उपयोग के ही भेद हैं दोनों - एक दर्शन उपयोग और एक ज्ञान उपयोग। तो लक्षण होता है ज्ञान उपयोग, दर्शन उपयोग लक्षण नहीं होता। तो उस निर्विकल्प दर्शन के अनंतर जो ज्ञान का परिणमन शुद्धात्मा में होता है, तो उसको ध्यान कहते हैं और उससे दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन समाप्त हो जाता है। यह ध्यान का (स्वरूप है)।

मुमुक्षुः- साकार और निराकार का अर्थ?

पूज्य बाबूजी:- साकार माने ज्ञान और अनाकार माने दर्शन। इसमें आचार्य जयसेन की टीका में इसमें और भी दिया है। साकार माने सागार अर्थात् गृहस्थ और निराकार माने मुनि - मुनि अनागार, ऐसा।

मुमुक्षु:- बाबूजी! कई लोग ऐसा महसूस (feel) करते हैं कि हम ध्यान में बैठते हैं। हमें बहुत आनंद की अनुभूति होती है, तो वो कौनसे प्रकार का ध्यान है?

पूज्य बाबूजी:- वो आर्तध्यान, रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि का। (वो) मिथ्यादृष्टि का आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, तो वो उसमें यही तो ध्यान होता है माने केवल पर्याय का ध्यान होता है। और पर्याय में भी जैसे आजकल जो ध्यान चले हैं - प्रेक्षा ध्यान, विपश्यना ध्यान - ये सब चले हैं न ध्यान। ये केवल शारीरिक हैं, शारीरिक। भाई, मन को एकाग्र कैसे करना? तो उनका जो होता है, स्वरूप होता है... तो वो कोई गए होंगे, अपने में से भी तो गए होंगे। बहुत से छुपे रुस्तम होते हैं।

मुमुक्षु:- यहाँ तो सही, रुस्तम के बिना वाले हैं।

पूज्य बाबूजी:- नहीं! जाये तो, देखा हो किसी ने। वो तो उनका यही होता है (कि) जो भी तुम्हारे परिणाम आयें, सुख-दुख के परिणाम, क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम, राग-द्वेष के परिणाम, ये परिणाम आवें तो तुम केवल जानते रहो। उसमें सुख-दुख का वेदन मत करो। ये उनका कहना होता है। लेकिन राग-द्वेष और क्रोध-मान-माया-लोभ का जानना इससे क्रोध-मान-माया-लोभ कैसे टूटेंगे? इतना है अवश्य (कि) जैसे क्रोध-मान-माया-लोभ ये आत्मा से अन्य वृत्तियाँ हैं, विजातीय वृत्तियाँ हैं। इसलिए ये मेरी नहीं है - ऐसा जानना, तो ये वो ज्ञेय हो गए। और ज्ञेय हो गए तो ज्ञेय से हटकर शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करना तब वो ध्यान होता है।

तो वहाँ केवल इतना ही हो जाता है कि तुम उनको देखते रहो। तो उनको देखने से वो मिटेंगे कैसे? शुद्ध को देखे बिना शुद्धानुभूति हो नहीं सकती। विकार का अनुभव करने से अर्थात् आत्मा को अशुद्ध जानने से कि ये मेरा क्रोध आया, ये मान आया, ये माया आई। भाई! इनसे तो तू न्यारा ही है इनका क्या ध्यान कर रहा है? इसलिए इनको ज्ञेय-कोटी में पुद्गल की तरह स्थापित करना और फिर उपयोग को मोड़कर शुद्धात्मा में ले जाना तो वो वास्तव में ध्यान होता है।

मुमुक्षु:- बाबूजी! मोड़कर मतलब?

पूज्य बाबूजी:- मोड़ा न उनकी तरफ से। राग-द्वेष की तरफ से मोड़कर माने पहले राग-द्वेष को ज्ञेय बनाया था (कि) ये तो मेरे आत्मा से न्यारे हैं, ये तो क्योंकि विकल्प दशा है। निर्विकल्पदशा नहीं है न। मेरी आत्मा से सर्वथा न्यारे हैं, अन्य प्रकार के हैं। जैसे पुद्गल आदिक न्यारे हैं, उसी तरह ये भी न्यारे हैं ऐसा जानकर उनसे टर्न (turn) लेना, मुड़ जाना और शुद्ध-ध्रुव में एकाग्र हो जाना तो वो ध्यान होता है।

मुमुक्षु:- उसके लिए पहले शुद्ध ध्रुव क्या है, उसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।

पूज्य बाबूजी:- वो तो आवश्यक है। सत्ता का निर्णय माने चैतन्य सत्ता का निर्णय वो तो आवश्यक है, तभी तो चैतन्य की परिणती होगी। अगर जाना ही नहीं कि आत्मा कैसा है तो फिर अनुभव में कैसे आएगा? अशुद्ध ही आएगा क्योंकि अशुद्ध अनुभव करता रहा। शुद्ध तो वर्तमान में हूँ नहीं। शुद्ध तो सिद्ध बनने पर हो जाऊँगा और वर्तमान में तो अशुद्ध हूँ। तो इस अशुद्धि को तप करके, ध्यान करके किसी भी तरह से टालूँगा और कर्मों की निर्जरा होगी तो फिर मोक्ष हो जाएगा - ये मानता है अज्ञानी। ये सर्वथा अज्ञान और मिथ्यादर्शन है।

अब [34]ध्यान की विधि सुनना है न अपने को। एक पंचास्तिकाय की गाथा है १४६ (और) आचार्य अमृतचंद्रदेव की टीका है। **निर्जरा का मुख्य हेतु ध्यान है।** निर्जरा का माने? अशुद्धि की हानी और शुद्धि की वृद्धि। और उधर जो कर्म हैं, जिनके जत्थे के जत्थे आत्मा के साथ पड़े हैं उनका खिरना, आत्मा से पृथक होना - उसका नाम निर्जरा।

अब ध्यान की विधि - **शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति सो वास्तव में ध्यान है।** शुद्धात्मा में अविचलित माने एकदम अकंप, निष्कंप परिणति उसका नाम ध्यान है। **सो वास्तव में ध्यान है** माने वास्तव में असली ध्यान तो वो है कि जो आनंद को जन्म देता है। **वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है; जब वास्तव में योगी,** योगी माने शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाला **जब वास्तव में योगी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गलकर्म होने से** दर्शनमोहनीय माने मिथ्यादर्शन - दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में होनेवाला मिथ्यादर्शन का भाव। तो एक तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक; दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक माने? दर्शनमोहनीय का विपाक - मिथ्यादर्शन का भाव और चारित्रमोहनीय का विपाक - राग-द्वेष के परिणाम। **होने से उस विपाक को** उस विपाक को माने उस अनुभाग को, उस फल को, वो जो पका है.... माने कर्म पकने से मिथ्यात्व और राग-द्वेष होते हैं ऐसा; माने सब पुद्गल के परिणाम (हैं) ऐसा। **उस विपाक को कर्मों में समेटकर** कि ये विपाक जो है वो कोई आत्मा का विपाक नहीं। आत्मा का परिपाक या आत्मा की अवस्था का परिपाक होकर और ये मिथ्यात्व प्रगट होता हो, ऐसा नहीं है। लेकिन वास्तव में कर्म का विपाक अर्थात् उसका अनुभाग, माने फल देना। विपाक माने उसका फल देना; तो फल तो कोई देता नहीं है लेकिन कहा जाता है कि उधर तो कर्म के खिरने की अवस्था हुई और इधर जो है आत्मा में मिथ्यादर्शन और राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम हुए। तो उस विपाक को आत्मा से भिन्न अचेतन होने से **कर्मों में समेटकर** आत्मा में मिलाकर नहीं **कर्मों में समेटकर, तदनुसार परिणति से** उसके अनुसार परिणति माने दर्शनमोहनीय के उदय (में) होनेवाला मिथ्यात्व का भाव और चारित्रमोहनीय के उदय में होनेवाले राग-द्वेष के परिणाम, इन **परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके** व्यावृत्त करके माने मोड़कर। **व्यावृत्त करके मोही, रागी और द्वेषी न**

34 ध्यान का स्वरूप - पंचास्तिकाय गाथा १४६ के आधार से - 32.17 Mins

होनेवाले मोही माने मिथ्यादृष्टि और **रागी और द्वेषी न होनेवाले ऐसे उस उपयोग को अत्यंत शुद्ध आत्मा में ही निष्कंपरूप से लीन करता है,** कितना स्पष्ट है न एकदम कि उस उपयोग को, ज्ञान को आत्मा में ही निष्कंपरूप से लीन करता है **तब उस योगी को - जो कि अपने निष्क्रिय, चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रांत है।** क्या कर रहा है? कि निष्क्रिय जो आत्मा है शुद्धात्मा, चैतन्य है उसमें जो विश्रांत है, उसमें जो आराम कर रहा है, उसमें जो स्थिर है (वो) **मन-वचन-काय को नहीं अनुभवता।** मन-वचन-काया के जो योग (हैं) उन योगों का जो कंपन (है) उसका भी अनुभव नहीं करता **और स्वकर्मों में** माने उदय में **व्यापार नहीं करता है** कि उदय जो हुआ कर्म का, तो उसके अनुसार उसकी परिणति या उसकी पर्याय नहीं होती है। **स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता है** कर्मों के उदय में उसके अनुसार परिणति नहीं होती है। इससे हो गया न स्पष्ट कि कर्म के उदय से आत्मा के भाव अवश्य-अवश्य होना ये बात बिल्कुल झूठ है, गलत है।

आत्मा अगर पुरुषार्थ करे तो कर्म का उदय होने पर भी वो कर्म बिना फल दिए चला जाता है। **उसे - सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से** सारे ही शुभाशुभकर्म को जलाने में वो ध्यान की परिणति समर्थ होती है, **होने से अग्निसमान ऐसा, परम पुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है। परम पुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत** माने परम सिद्धि का जो उपाय है अर्थात् मुक्ति का जो उपाय है - ऐसा **ध्यान प्रगट होता है।** वो ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान (है)। सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान और उससे आगे आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारंभ होता है।

और [35]देखना है? खूब अच्छी तरह देखें न एकदम! बहुत सुंदर है परिभाषा, बहुत सुंदर है। यह समयसार का है। २८५ गाथा आचार्य जयसेन की टीका है। **बन्ध के विनाश के लिए विशेष भावना कहते हैं।** तो बंध का विनाश माने आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष (हैं), ये हैं वास्तविक बंध। आत्मा का वास्तविक बंध ये हैं मोह-राग-द्वेष। तो इसका विनाश करने के लिए .... और उधर इसके साथ में कर्म भी अपने आप वैसे ही (same) खिरते हैं, चले जाते हैं। **तो विशेष भावना कहते हैं।** क्योंकि इसमें विशेष भावना होना, तब वो प्रगट होता है।

मैं सहजशुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ। मैं निरंजन निज शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुष्ठान रुप निश्चय रत्नत्रयात्मक, निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण से स्वसंवेदन ज्ञान से गम्य हूँ। कैसा है स्वसंवेदनज्ञान? आत्मा की अनुभूति के विशेषण देखे, अब दोबारा देखिए। **निरंजन निज शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुष्ठान रुप निश्चय रत्नत्रयात्मक** अनुभूति जो है वो है तो ज्ञान की पर्याय लेकिन उसके साथ निश्चय रत्नत्रय नियम से प्रगट होता है (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र। जैसे कहते हैं न (कि) चारित्र नहीं

35 ध्यान का स्वरूप - समयसार गाथा २८५ के आधार से - 39.01 Mins

होता बिल्कुल - वो है करणानुयोग की बात, वो करणानुयोग का कथन है। अध्यात्म का कथन है कि निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है वो स्वसंवेदन।

तो **निर्विकल्प समाधि से** निर्विकल्प समाधि माने जिसमें विकल्प नहीं है ऐसा संवस्थित जो शुद्धात्मा है उसमें लीन होकर, उसमें **निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप, सुखानुभूतिमात्र लक्षण जिसका** क्या लक्षण है उसका ध्यान का? कि **वीतराग सहजानन्द रूप** सहज आनंद की जो प्रगटता है और सुख का जो अनुभव है, वही है जिसका लक्षण (वो) ध्यान में ही होता। यानि ध्यान में कोई कष्ट नहीं पाता (है)। ध्यान को कष्ट कहते हैं न अपन। भई! तप जो है, उसमें बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है - वो बात जैनदर्शन की नहीं है। जैनदर्शन में तो तप से आनंद होता है क्योंकि इधर तो आत्मा के जो भावकर्म हैं उनका क्षय होता है और उधर जो द्रव्यकर्म हैं उनका भी क्षय होता है। इसलिए **वीतराग सहजानन्द रूप, सुखानुभूतिमात्र लक्षण जिसका** ये लक्षण हुआ उसका। अगर ये न हो तो समझना चाहिए कि आत्मानुभूति नहीं हुई। सहज सुखानुभूति नहीं हुई, सहज। माने ऐसा नहीं कि आनंद की ओर उपयोग लगा है और आनंद प्रगट होगा, प्रगट होगा, प्रगट होना चाहिए - इस तरह से उस आग्रह में लगा है, ऐसा नहीं। लेकिन शुद्ध ध्रुव का ध्यान कर रहा है तो इधर सहज ही वो आनंद प्रगट हो रहा है और इसके अनुभव में भी आ रहा है। अनुभव में माने ज्ञान में (अर्थात्) जानने में आ रहा है ज्ञेय बनकर।

मुमुक्षुः- वाह! ज्ञेय बनकर! ज्ञेय बनकर!

पूज्य बाबूजीः- ध्येय तो शुद्धात्मा है। **लक्षण जिसका** ऐसे **स्वसंवेदन ज्ञान से** इस स्वसंवेदन ज्ञान के विशेषण देखे? कितने adjective हैं! **भरित (परिपूर्ण) अवस्था वाला हूँ।** जैसे कलश हो न, वो पूरा भर दिया गया (हो) जल से पूरा, अभी एक बूँद का भी उसमें अवकाश नहीं है - इसका नाम (है) भरित अवस्था। इस तरह **भरित (परिपूर्ण) अवस्था** माने मेरे में कोई कमी नहीं है। मैं सब प्रकार से संपूर्ण हूँ। तो **भरित (परिपूर्ण) अवस्था वाला हूँ। मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रिय विषय व्यापार, मन वचन काय व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से मैं रहित हूँ। नोकर्म, ख्याति इत्यादि** ये आगे और है उसमें, पर ये मुख्य है। अब तो प्रश्न नहीं न ध्यान का कोई?

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ५, तारीख २९-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

[36]**मुमुक्षुः-** प्रश्न है बाबूजी! अज्ञानी व ज्ञानी को अपने क्षयोपशम ज्ञान में स्व और पर का प्रतिभास एक समय में एक ही पर्याय में चलता है? प्रश्न है कि अज्ञानी को अपने क्षयोपशम ज्ञान में स्व व पर का प्रतिभास (क्या) एक समय में एक ही पर्याय में चलता है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं चलता। अज्ञानी को भी नहीं चलता (और) ज्ञानी को भी नहीं चलता। अज्ञानी को तो एकांत पर में ही चलता है।

मुमुक्षुः- प्रतिभास?

पूज्य बाबूजीः- हाँ प्रतिभास! और ज्ञानी को अनुभूति के समय स्व में और अनुभूति से बाहर, जब बाह्य पदार्थों पर उपयोग होता है, तो फिर पर में चलता है। एक समय में एक पर, या तो स्व की अनुभूति या पर की अनुभूति।

मुमुक्षुः- बाबूजी! वो तो उपयोग की अपेक्षा (है) कि प्रतिभास की अपेक्षा (है)?

पूज्य बाबूजीः- उपयोग प्रतिभासात्मक तो होता ही है। उपयोग प्रतिभासरूप ही होता है हर समय। कोई न कोई तो जानने में आएगा; तो जानने में आएगा, तो वो ही प्रतिभास है। प्रतिबिम्ब जिसे कहते हैं - प्रतिभास।

मुमुक्षुः- बाबूजी! विशेष की बात हुई न ये? ये तो विशेष की बात हुई न? पर्याय के विशेष की बात हुई न?

पूज्य बाबूजीः- तो पर्याय की ही बात चल रही है।

मुमुक्षुः- तो जो प्रतिभास है वो सामान्य में नहीं होता है, पर्याय के सामान्य में?

पूज्य बाबूजीः- पर्याय के सामान्य में नहीं होता।

मुमुक्षुः- नहीं होता। बराबर!

पूज्य बाबूजीः- तो वो प्रतिभास ज्ञान ही है, इस तरह समझकर उस ज्ञान को सामान्य देखा जाता है। अर्थात् ये तो सब ज्ञान ही है - ये सामान्य हो गया, पर्याय का और ये विशेष है। तो उस समय भी प्रतिभास रहता है।

मुमुक्षुः- बराबर! बराबर!

36 अज्ञानी को अपने क्षयोपशम ज्ञान में स्व व पर का प्रतिभास (क्या) एक समय में एक ही पर्याय में चलता है? - 0 Mins

पूज्य बाबूजी:- तो प्रतिभास रहते समय ही वो ये करता है विचार कि ये प्रतिभास तो सम्पूर्णरूप से ज्ञान ही है अर्थात् मैं ही हूँ। इस तरह प्रतिभास को जानता हुआ, ज्ञानरूप जानता हुआ स्व पर चला जाता है और निर्विकल्प अनुभूति हो जाती है। पर ये बात हमेशा याद रखने की (है) कि एक समय में, ज्ञानी को.... आज्ञानी को तो पर में ही एकदम होता है (उपयोग)। वो तो मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का एकत्व लिए ही वर्तता है हर पदार्थ में; और जो ज्ञानी है, उसको जो प्रतिभास होता है तो वो उसको ज्ञेय समझता है। तो उसको (अज्ञानी को) तो संकल्प-विकल्प अनेक प्रकार के होते हैं - भय, चिंता, शोक, क्लेश इत्यादि।

ज्ञानी[37] को जो होता है, तो जैसे पहली बार उपशम सम्यक्त्व हुआ और आत्मा का वेदन हुआ तो उस समय पर जानने में नहीं आता। एक मात्र शुद्धत्मा ही जानने में आता है, अपनी पर्याय भी जानने में नहीं आती। शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाली जो अनुभूति की पर्याय है, वो भी जानने में नहीं आती। वो भी नहीं आती जानने में। जानने में नहीं आती अर्थात् वो उपयोगरूप से तो शुद्धात्मा को ही जानता है लेकिन अनुभूति जब होती है, तब जो आनंद आदि का जन्म होता है तो वो भी जानने में आ जाता है। इसका मन नहीं (है) जानने का क्योंकि ये तो उस शुद्धात्मा पर ही समर्पित हो चुका है, पूरी तरह से। इसका अन्य के साथ सारा का सारा ममत्व टूट गया है। उस आनंद के साथ भी इसका ममत्व टूटा हुआ है। स्वयं अनुभूति की पर्याय से भी ममत्व टूटा हुआ है। सम्यग्दर्शन का सम्यग्दर्शन के साथ ममत्व टूटा हुआ है।

मुमुक्षु:- आहाहा! खुद अनुभूति की पर्याय के साथ ममत्व टूटा हुआ है?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! सम्यग्दर्शन का सम्यग्दर्शन के साथ ममत्व नहीं (है)। मैं शुद्धात्मा हूँ चिन्मात्र हूँ - ये उसका स्वर होता है। जैसे सम्यग्दर्शन स्वयं द्रव्य बन गया हो। उसने अपने आप में सारे द्रव्य को पसार लिया और अपने लिए भी कोई कोना खाली नहीं रखा उसने; तो सम्यग्दर्शन मानो ज्ञायक बन गया। और होता सब पर्याय में है, द्रव्य ज्यों का त्यों अवस्थित रहता है।

मुमुक्षु:- प्रतिभास किसकी पर्याय है?

पूज्य बाबूजी:- प्रतिभास ज्ञान की पर्याय है।

मुमुक्षु:- स्वच्छत्व की नहीं है?

पूज्य बाबूजी:- वो सब ज्ञान के ही हैं - पहलू। स्वच्छत्व, प्रकाशकत्व इत्यादि जो हैं, सब ज्ञान के ही पहलू हैं लेकिन नियम कभी भंग नहीं होता। जैसे स्वच्छत्व में तो ऐसा है कि ज्ञान इतना स्वच्छ है जिसमें सारा लोकालोक दिखाई देता है - ये तो स्वच्छत्व शक्ति (है); है ज्ञान का ही परिणमन।

प्रकाश का ऐसा है कि ये सारे लोकालोक को प्रकाशित करता है, ऐसा। तो ऐसा लगता है मानो ज्ञान वहाँ व्याप्त हो गया हो। सारे जगत में व्याप्त हो गया है - ऐसा लगता है। लेकिन

37 अनुभूति की पर्याय के साथ ममत्व टूटा हुआ है। - 3.29 Mins

असलीयत ये है कि वो ज्ञान ही जानने में आता है; चाहे स्वच्छत्व हो, चाहे प्रकाशकत्व हो। ज्ञान सर्वगत है और सर्व पदार्थ आत्मगत हैं - ये दो प्रकार की बात। तो दोनों बातें व्यवहार हैं, निश्चय नहीं (हैं)।

निश्चय से वो शुद्धात्मा में ही अवस्थित रहता हुआ और वो ज्ञानमात्र ही है और मैं ज्ञानमात्र (हूँ) - यही अनुभव करता है और स्व को ही जानता है। स्व ही जानने में आता है हमेशा, ज्ञान ही जानने में आता है - पहली बात तो ये। पहला step तो ये, पहला चरण तो ये कि ये जो प्रतिभास है.... जो जिस समय सम्यग्ज्ञान ज्ञान हुआ, ज्ञान का उदय हुआ तो उस समय उसने भेदविज्ञान में जाना (कि) इस प्रतिभास को मैं अज्ञानदशा में जो ज्ञेय मानता रहा, तो ये ज्ञेय नहीं हैं (बल्कि) ये प्रतिभास ज्ञान ही है। इसलिए कौन जानने में आया? कि ज्ञेय जानने में नहीं आया। क्योंकि ज्ञेय मेरे में आया ही नहीं इसलिए जानने में कैसे आये? पर ज्ञेय जैसा जो प्रतिभास (है) - आकार (अर्थात्) उसका फोटो, तो वो जानने में आया; तो वो तो मैं ही हूँ। ज्ञान में तो ज्ञान ही रहता है और किसी के आने की गुंजाईश (तो) है ही नहीं। इसलिए ज्ञान ही जानने में आया।

अब इससे आगे बढ़ा कि ज्ञान ही जानने में आया अर्थात् ज्ञान ही है ये सब। सारे जितने अनंतानंत प्रतिभास हैं, उनकी एक संज्ञा सिर्फ ज्ञान है और वो ज्ञान मैं ही हूँ। तो इस तरह ज्ञायक का वेदन होने लगता है क्योंकि ये शुरू से ही उसने निर्णय में ये बात की है कि मैं तो एक मात्र ज्ञायक हूँ।

लेकिन फिर व्यवहार-निश्चय किस तरह चलते हैं? ये (है) व्यवहार सारा (कि) ज्ञान ही जानने में आता है (इसमें भी अनुभूति नहीं) हुई। अनुभूति नहीं हुई तो ये ज्ञान का विकल्प है। तो ज्ञान का विकल्प है इसलिए राग पैदा होता है। और ज्ञान जब निर्विकल्प होकर अनुभूतिरूप बन जाता है तो फिर राग का जन्म नहीं होकर सुख का जन्म होता है, अतीन्द्रिय आनंद का (जन्म होता है)।

मुमुक्षुः- ज्ञान जब निर्विकल्प होकर....

पूज्य बाबूजीः- अनुभूति में परिणत होता है, घनत्व में। ये तो तरलता थी और ये घनत्व है। तो ये घनत्व में जब परिणमित होता है तो फिर वो अन्य जो हैं वो जानने में नहीं आते और वो व्यवहार हो जाता है फिर। ज्ञान ही जानने में आता है ये व्यवहार में चला गया (और) ये परम निश्चय हो गया।

मुमुक्षुः- पर इसमें सुख होता है (और) वहाँ, पहले राग होता है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वहाँ राग होता है। दुख होता है, वहाँ राग का ही जन्म होता है; विकल्पात्मक दशा। अज्ञानदशा की भी अपन कर सकते हैं बात। अज्ञानदशा में भी ऐसा ही (है) क्योंकि निर्णय तो है ही सही कि ज्ञेय जानने में नहीं आता लेकिन ज्ञान ही जानने में आ रहा है। ज्ञान ही जानने में आ रहा है अर्थात् ये सब ज्ञान ही हैं सारे। इसका प्रतिभास मिलकर अगर उनको

एक नाम दें तो उसका नाम ज्ञान है। उन प्रतिभासों में विशेष-विशेष होने पर भी सचमुच देखा जाए तो कोई विशेषता नहीं (है) क्योंकि वो ज्ञानमात्र हैं। इस तरह मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञायक हूँ - ये अनुभूति हो जाती है क्योंकि प्रारंभ से ज्ञायक प्रिय था न उसे। इसलिए बीच में कैसे ठहर जायेगा? जिसे अपने गंतव्य पर पहुँचना है तो वृक्ष की छाया में ठहरा लेकिन उस वृक्ष की छाया में ही सो जाए वो कई दिनों तक - ऐसा संभव है क्या? वृक्ष की छाया में ठहरा है क्योंकि धूप से घबराया हुआ था। तो वृक्ष की छाया में ठहरा (और) फिर वापस चलना शुरू कर दिया। तो अंतिम जो गंतव्य (destination) है वहाँ तक पहुँचे तब अनुभूति होती है और वो ज्ञायकरूप होती है।

पहले से था ये निर्णय। इसीलिए ये भी (जो है वो) ज्ञान ही जानने में आता है - ये भी व्यवहार है और हेय है। ये हेय-कोटी का है। भई! अनुभूति ही हेय-कोटी की है तो इसमें क्या है? इसके साथ ब्याह कौन करेगा?

मुमुक्षुः- अनुभूति भी हेय-कोटी की है, एक समय की पर्याय है। अद्‌भुत!

पूज्य बाबूजीः- अनुभूति स्वयं अपने को कहाँ आगे करती है? अनुभूति तो अपनी गोदी में उसको (ज्ञायक को) पसार लेती है सारी की सारी। अनुभूति की जो शीतल गोदी है उसमें ज्ञायक प्रसर जाता है सारा और कोना-कोना उससे भर जाता है। तब अनुभूति कहाँ है? (कि वो तो) बाहर रह जाती है। और काम सब अनुभूति कर रही है। ये सब अध्यात्म की विलक्षणता है, सूक्ष्मता की।

मुमुक्षुः- अध्यात्म की विलक्षणता है।

पूज्य बाबूजीः- और अभेदता हुई न, वास्तविक अभेदता है ये। वास्तविक, द्रव्य-पर्याय की वास्तविक अभेदता (ये है) जिसमें एक गायब ही हो गया और एक ही रह गया।

मुमुक्षुः- द्रव्य-पर्याय की वास्तविक अभेदता!

पूज्य बाबूजीः- अभेदता की माने समर्पण की पराकाष्ठा - कि पर्याय ने अपने आपको इस तरह समर्पित किया कि वो स्वयं द्रव्य बन गई, स्वयं ज्ञायक बन गई और स्वयं गायब हो गई। अब गायब हो गई माने वहीं है, अभी इसी में सब हो रहा है। लेकिन गायब हो गई माने वो अपना नाम लेती ही नहीं है। उसने अपना नाम ही बदल दिया (और कहती है) कि मैं तो ज्ञायक हूँ; और उसका धर्म भी यही था क्योंकि ज्ञायक तो कभी अपना परिचय तो देता नहीं था। तो इसको, पर्याय को अपना धर्म निभाना चाहिए न। इसका धर्म ही यही था कि वो ज्ञायक का परिचय दे। तो परिचय कैसे दे? अपने को बड़ा करके परिचय दे या अपने को नीचे रखकर परिचय दे? मैं ज्ञायक हूँ, इस तरह से परिचय देती है।

मुमुक्षुः- पर्याय का धर्म ही यही था कि वो द्रव्य का परिचय दे।

पूज्य बाबूजीः- उसका हाँ! धर्म ही ये था।

मुमुक्षुः- परिचय कैसे दे कि मैं ज्ञायक हूँ।

पूज्य बाबूजी:- मैं ज्ञायक हूँ। हो गया न? अभी इतनी अभेदता हुई, अनन्यत्व इस तरह का हुआ कि इसमें ध्येय भी दिखाई नहीं देता। कौनसा द्रव्य और कौनसी पर्याय - ये भेद ही नहीं दिखाई देता। द्रव्य [38]तो अपन नाम लेते हैं, लेकिन द्रव्य के रूप में अनुभूति होती नहीं।

मुमुक्षु:- वाह रे वाह! ये क्या कहा प्रभु?

पूज्य बाबूजी:- चैतन्यमात्र! चिन्मात्र! ये (इस प्रकार) अनुभूति होती है (और) ये द्रव्य के रूप में नहीं होती है।

मुमुक्षु:- पर्याय तो गायब हो गई और द्रव्य के रूप में अनुभूति नहीं होती।

पूज्य बाबूजी:- नहीं होती है।

मुमुक्षु:- तो कैसे होती है?

पूज्य बाबूजी:- चिन्मात्र हूँ - जो (जैसा) स्वरूप है न वैसी अनुभूति होती है।

मुमुक्षु:- जब द्रव्य की अनुभूति होती है तो द्रव्य अंश कैसे है?

पूज्य बाबूजी:- कहते हैं न कि, द्रव्य की अनुभूति होती है लेकिन द्रव्य अंश है न। तो उसमें (क्या है कि दूसरे) अंश की याद आती है, साथ में। द्रव्य कहते ही पर्याय की याद आती है; और द्रव्य को अंश माना जाए तो भी अनुभूति नहीं होगी। क्योंकि जैसे पर्याय अंश था न तो पहले ये पर्यायमूढ़ कहलाता था। अब द्रव्यदृष्टि हुई तो वो द्रव्य का अनुभव कहलाता है, लेकिन द्रव्य का अनुभव भी अपन एकांत कहते हैं। तो उधर पर्याय का जो अनुभव था, पर्यायदृष्टि थी, पर्यायमूढ़ता थी कि मैं तो इतना ही हूँ, इतना मात्र हूँ - तो वो पर्यायमूढ़ता थी। अब द्रव्य का एकांत हुआ या नहीं हुआ? इसमें अनेकांत कहाँ रहा? अनेकांत है कि अपने आप को द्रव्यरूप में, माने सम्पूर्ण अनुभव करते हुए भी वो पर्याय से इनकार नहीं करता है। वो पर्याय जो है वो उसके क्षयोपशम में, गौणरूप में, लब्धिरूप में पड़ी है लेकिन उस समय उसका (कोई) काम नहीं है। उसका उस समय नाम भी ले तो काम बिगड़ता है, इसलिए अपने घर में भी लिहाज़ नहीं करना।

मुमुक्षु:- आहाहा! वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- परिवार में भी लिहाज़ नहीं करना। किसी विशेष काम के समय अगर किसी व्यक्ति को नहीं बुलाना है तो उसको नहीं बुलायेंगे अपन कि इस समय उसे मत बुलाओ, उसकी जरूरत नहीं है। भले ही वो परिवार का अभिन्न (अँग) है (फिर भी)। इस तरह उस समय पर्याय नहीं बुलाई जाती (बल्कि) भुलाई जाती है।

मुमुक्षु:- आहाहा! उसका नाम भी लें तो गड़बड़ हो जाती है।

पूज्य बाबूजी:- नाम लें तो बिगड़ जाता है काम।

मुमुक्षु:- हम द्रव्य के रूप न करें, पूर्ण के रूप में करें तो?

38 अनुभूति जो है वो द्रव्य के रूप में नहीं होती है - ऐसा क्यों? 13.52 Mins

पूज्य बाबूजी:- पूर्ण माने? पूर्ण क्या है? पूर्ण तो सभी हैं। चिन्मात्र; बस चिन्मात्र में पूर्ण आ गया। चैतन्यमात्र पूर्ण है वो। इसमें कसर क्या है? पूरा चेतन है। अब वो क्या है पूर्णता कैसे सिद्ध होती है? पूर्णता कैसे सिद्ध होती है इसमें? जैसे अपन एकांत की बात करते हैं न। तो वो जिस समय अज्ञानी था और उसे पर्यायमूढ़ता थी, तो इस पर्यायमूढ़ता में तो वो पर्याय जितना ही अपने आपको मानता था।

यहाँ जिस समय उस चिन्मात्र द्रव्य को जाना, तो वो द्रव्य को जानकर उसके साथ आत्मसात हुआ, एकाकार हुआ; और एकाकार (होकर) अपने आप को गौण करके (अपने आप को) मिटाकर, एकाकार हुआ तो ये तो द्रव्यदृष्टि हुई, द्रव्यार्थिकनय हुआ, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। अब पर्याय का क्या हुआ? (तो) कहते हैं (कि) पर्याय भी इसको स्वीकार है लेकिन वो उस समय इसकी लब्धि में पड़ी है; वो व्यवहारनय इसकी लब्धि में पड़ा है, पर्यायार्थिकनय इसकी लब्धि में पड़ा है। वो चक्षु उस समय खुला हुआ नहीं है। उस समय खुला हुआ नहीं है वो चक्षु इसलिए अनेकांत है। इसलिए यहाँ अनेकांत हो गया प्रगट और वहाँ एकांत था। वहाँ एकांत पर्यायरूप ही या पररूप ही स्वीकार करता था सारे आत्मा को, सम्पूर्ण आत्मतत्त्व को।

मुमुक्षु:- तो द्रव्य की अंशरूप में अनुभूति - ये पर्यायानुभूति ही है?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! ये पर्याय पर्याय की अनुभूति है, ये अशुद्ध है। अंशरूप में अनुभूति मिथ्यादर्शन है।

जैसे द्रव्य का अंश होते हुए भी अपन उसको पूर्ण कैसे मानते हैं? क्योंकि वास्तव में वो पूर्ण है। क्योंकि पर्याय का काम तो उसे सिर्फ जानना मात्र है, उसमें कुछ करना नहीं है। उसमें कुछ भी करने की बात हो तो अपूर्ण सिद्ध होता है वो। कि पर्याय ने अनुभूति की तो द्रव्य में कुछ हुआ? (तो कहें) कि कुछ नहीं हुआ। मिथ्यादर्शन ने अनुभूति नहीं की बल्कि इसे गालियाँ दीं तो क्या हुआ द्रव्य का? कि कुछ नहीं हुआ। इसलिए वो पूर्ण ही है उसका स्वरूप, त्रिकाल। त्रिकाल पूर्ण स्वरूप है उसका।

तो जैसे अपना भी आग्रह होता है कि द्रव्य-गुण-पर्यायवाला जो पदार्थ है, द्रव्य-पर्याय स्वरूप, तो उसको पूरा मिलाकर अनुभव करना चाहिए तब (तो) पूरे पदार्थ का अनुभव हुआ। तो पूरा मिलाकर (यदि) अनुभव करेंगे.... तो अज्ञानदशा से तो ये सब शुरू होता है - विचार। सद्गुरु के प्रसाद से जो देशना मिली और इसके वो समझ में आई एकदम स्पष्ट (clear); सिद्धांत (concept) स्पष्ट (clear) हो गया और इसका उत्साह बढ़ा। तो (अभी तो) अज्ञानदशा ही है, मिथ्यादर्शन भी है लेकिन अब ज्ञान ने अपनी राह बदल ली और ये ज्ञान जो है.... अज्ञान, है (तो) अज्ञान अभी लेकिन क्योंकि अब ये ज्ञान बन जानेवाला है, सम्यग्ज्ञान बन जानेवाला है इसलिए इसको ज्ञान के नाम से भी पुकार सकते हैं। (क्यों) कि इसने अज्ञान में ही अज्ञान से लड़ाई छेड़ दी कि तू मेरा कुछ नहीं लगता है अब। मिथ्यादर्शन (और) मोह मेरा कुछ नहीं लगता है और तू

मेरा कुछ नहीं लगता, मैं तो ज्ञायक हूँ - ये स्वर इसने बदल दिया अज्ञान ने। इस तरह पहले चिंतन में व्यस्त हुआ और चिंतन करते-करते फिर अनुभूति में पहुँच गया।

तो क्या है? कि जैसे मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय को अपन मिलाते हैं। मिलाने का आग्रह करते हैं न कि द्रव्य-पर्यायरूप पूरा पदार्थ है, तो पूरे पदार्थ की अनुभूति होना चाहिए (और) पूरे पदार्थ की श्रद्धा करना चाहिए। तो पहले शुरुआत में तो मिथ्यादर्शन और अज्ञान है, मिथ्याचारित्र है। तो उसको मिलायें अपन उसमें आत्मा में, तो कैसा लगेगा आत्मा? और विचार में भी कैसा अनुभव में आएगा? विचार में भी कैसा जानने में आएगा? कि जैसे दूध में राख मिला दी हो - ऐसा अनुभव में आएगा। तो वो तो इसके बिना ही है न! माने आत्मा अत्यंत शुद्ध है, अत्यंत परिशुद्ध है; तो उसको शुद्ध नहीं जानना इसका नाम मिथ्यादर्शन है। उसको अशुद्ध बनाना इसका नाम मिथ्यादर्शन नहीं है।

द्रव्य को अशुद्ध बनाना ये मिथ्यादर्शन नहीं। द्रव्य को अशुद्ध मानना और द्रव्य को अशुद्ध जानना - इसका नाम मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान (है)। तो ये तो इनके मानने की (बात) है, इससे द्रव्य का क्या बिगड़ा? तुम मेरे को कुछ भी मानो इससे मेरे चरित्र में क्या फरक पड़ता है? क्या अंतर पड़ता है? इसलिए पर्याय तो सिर्फ इतना काम करनेवाली है, लेकिन मूल सत्ता द्रव्य है और वो सम्पूर्ण है। तो संपूर्णता सिद्ध हुई न! माने मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय तो एक तरफ रही न बिल्कुल। और वो एक तरफ रही माने? - वहीं रही; जहाँ मिथ्यादर्शन है वहीं ज्ञायक है क्योंकि प्रदेश तो न्यारे-न्यारे होते नहीं (हैं)। लेकिन तो भी उस मिथ्यादर्शन की अशुद्धता से ज्ञायक अशुद्ध नहीं होता। ऐसा होता है कि नहीं होता है?

अगर ऐसा होने लग जाए तब तो जो शरीर के जो धातु हैं, वो भी आत्मा को लग जायेंगे। अगर आत्मा में ऐसा होने लग जाए कि मिथ्यादर्शन की पर्याय से ज्ञायक जो है (वो) अशुद्ध हो गया तो फिर ये नियम सारी श्रष्टि पर लागू करना पड़ेगा अपने को। और उससे फिर ये शरीर की धातुएँ आत्मा को लग जायेंगी और आत्मा लाल-लाल दिखने लगेगा, अगर मरेगा तो (जब) निकलेगा तो। वो नहीं (है) संभव (क्योंकि) वो दोनों विरुद्ध तत्त्व हैं। ये तो विपरीत ही हैं बिल्कुल - ज्ञायक और मिथ्यादर्शन विपरीत ही हैं। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय को तो कोई भी समझदार मिलाने को तैयार ही नहीं होगा कि इसको मिलाऊँ तो अनुभव कैसे आएगा? कैसा अनुभव में आएगा? जैसे ..... में कंकर और डाल दें, शक्कर के साथ में।

इसीलिए वो शुद्ध है, अकेला ही और पूर्ण है; उसमें एकांत नहीं है। एकांत की गंध आती है (क्यों) कि पर्याय नहीं है, वहाँ पर्याय नहीं है। अरे! पर्याय ही सारा काम कर रही है ये जानता है वो, लेकिन उस समय उसकी जरूरत नहीं है। उसका ख्याल करने की और उसका स्मरण करने की ही आवश्यकता नहीं है, पर्याय की। वरना काम पर्याय का ही बिगड़ जाता है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है। तो पर्याय का ही काम बिगड़ता है माने पर्याय में जो आनंद उत्पन्न होनेवाला है वो

नहीं होता और मिथ्यादर्शन जाता नहीं (है)। (काम) उसी का बिगड़ता है। उसी के हित के लिए ये सारा काम हो रहा है, पर्याय के हित के लिए।

मुमुक्षुः- सम्यग्दर्शन के काल में पर्याय को पर्याय की ही जरूरत नहीं होती है।

पूज्य बाबूजीः- नहीं होती है।

मुमुक्षुः- और याद आ गई तो उसी का काम बिगड़ता है।

पूज्य बाबूजीः- उसी का बिगड़ता है। पर्याय अपनी होने पर भी उस पर्याय का जो मोह है, वो निगोद का कारण है - ये भी बहुत विचारणीय प्रश्न है। अपनी, अपनी पर्याय का मोह वो निगोद का कारण है। ये समझ में आनेवाली है क्या बात?

मुमुक्षुः- चाहे वो शुद्ध हो (या) कोई भी (पर्याय) हो।

पूज्य बाबूजीः- अशुद्ध की बात करते हैं, शुद्ध तो ठीक ही है। लेकिन अशुद्ध पर्याय वो अपनी है। लेकिन उसका मोह अथवा शुद्ध पर्याय का भी मोह, कोई किसी का भी (मोह), तो वो मोह जो है वो निगोद (ले जाएगा)। माने मोक्ष का मोह भी निगोद है।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! वाह रे वाह! बराबर!

पूज्य बाबूजीः- मुझे मोक्ष जाना है - ऐसा जब तक अनुभूति नहीं हुई तब तक अगर ये विकल्प उसे पैदा होता है ज्ञान में.... राग के तो होते ही रहते हैं इस ही तरह के; लेकिन ज्ञान में (यदि) ये विकल्प पैदा होता है तो वो ज्ञान मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन है कि मुझे मोक्ष जाना है। ये मिथ्यादर्शन है - ठीक ऐसा ही (कि) जैसे शरीर मेरा है।

मुमुक्षुः- एक ही कोटी के?

पूज्य बाबूजीः- एक ही कोटी के।

मुमुक्षुः- अलिंगग्रहण के २० वें बोल में आया है कि आत्मा जो है ....

पूज्य बाबूजीः- हाँ! तो उसमें अंशों का ही निवारण किया है, अंशों का ही परिहार किया है। पहले पर्याय का परिहार किया, फिर गुणों का परिहार किया (और) फिर द्रव्य को अंशरूप में मानने का परिहार किया और फिर आत्मा को अनुभूतिमात्र सिद्ध किया।

मुमुक्षुः- द्रव्य को अंशरूप मानने का परिहार किया और फिर?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! अनुभूतिमात्र सिद्ध किया है। क्या है फिर आत्मा? कि ये जो अनुभूति है वो ही आत्मा है। यहाँ सिद्ध की बात है - शुद्धानुभूति।

[39]मुमुक्षुः- बाबूजी द्रव्य को अंश मानना मतलब निश्चय का पक्ष न? द्रव्य को अंश मानना मतलब निश्चय का पक्ष?

पूज्य बाबूजीः- द्रव्य को अंश मानना माने वो पर्याय का पक्ष है वो भी, क्योंकि अंश जो है (वो) पर्याय का विषय होता है। द्रव्य है पूर्ण; तो पूर्ण होने पर भी उसको अंश मानना - ये मिथ्याज्ञान

39 द्रव्य को अंश मानना ये पर्याय का पक्ष है। - 27.06 Mins

का विषय है। और अंश मानने पर अनुभूति इसीलिए नहीं होगी कि अंश को कोई भी नहीं चाहेगा। वो तो पूर्ण वस्तु को चाहता है।

जैसे कोई चाहे कि मुझे शक्कर से मिठास-मिठास मिल जाए तो ऐसा नहीं मिलने वाला। और आम से मुझे केवल रस-रस मिल जाए और मिठास-मिठास मिल जाए - ऐसा नहीं होगा। इसलिए अंश की जो दृष्टि है, अंश की जो श्रद्धा है वो भी मिथ्यादर्शन है। क्योंकि अंश में क्या मिलेगा? सम्पूर्ण मिलता है जो भी मिलता है। तो द्रव्य को सम्पूर्ण जानकर... माने न द्रव्य है न गुण है (और) न पर्याय है, वो तो एक निरंश तत्त्व है।

मुमुक्षुः- चिन्मात्र!

पूज्य बाबूजीः- चिन्मात्र - ऐसी अनुभूति।

मुमुक्षुः- न द्रव्य है, न गुण है?

पूज्य बाबूजीः- न गुण है, न पर्याय है। बस! निरंश चिन्मात्रतत्त्व है।

मुमुक्षुः- निरंश चिन्मात्रतत्त्व है।

पूज्य बाबूजीः- द्रव्य अंश नहीं (है) सम्पूर्ण है, सम्पूर्ण आत्मा है। माने वही आत्मा है, और (कुछ) आत्मा है ही नहीं। परम पारिणामिकभाव जिसे कहते हैं वही आत्मा है।

मुमुक्षुः- एक समय की अनुभूति में कैसे अनुभव में आता है? अनुभूतिमात्र है?

पूज्य बाबूजीः- एक समय की अनुभूति माने एक-एक समय अनुभूति चलती है। तो अनुभव में क्यों नहीं आएगा? अनुभूति पैदा हुई जिसके अवलंबन से तो तुरंत आनंद आएगा। फिर तो इसकी धरावाहिकता चलती है अंतर्मुहूर्त पर्यंत, मध्यम अंतर्मुहूर्त पर्यंत।

मुमुक्षुः- उसको अनुभूतिमात्र कहें?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! अनुभूतिमात्र कहा, माने अनुभूतिमात्र का अर्थ ही ये है कि अनुभूति स्वयं अपने को अनुभूति नहीं मानकर सम्पूर्ण आत्मा मानती है।

मुमुक्षुः- Masterpiece (उत्कृष्ट)!

पूज्य बाबूजीः- इसलिए अनुभूतिमात्र है।

मुमुक्षुः- ओहो! वाह रे वाह! अनुभूति अपने आप को अनुभूति नहीं मानकर अनुभूतिमात्र (मानती है)।

पूज्य बाबूजीः- सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण चैतन्य मानती है।

मुमुक्षुः- इसलिए अनुभूतिमात्र कहा।

पूज्य बाबूजीः- इसलिए अनुभूतिमात्र कहा और अंशों का परिहार किया। अंशों के अवलंबन से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का परिहार किया।

मुमुक्षुः- अंशों के अवलंबन से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का परिहार किया।

पूज्य बाबूजी:- परिहार किया। जैसे गुण-भेद होता है न, ऐसे ही ये द्रव्य को अंश मान लिया कि ये तो एक अंश है; पूरा पदार्थ तो द्रव्य-गुण-पर्यायवाला है। जहाँ ये बात सही है प्रमाण की ओर से लेकिन प्रमाण से (प्रयोजन की) सिद्धि नहीं होती। सिद्धि होती है शुद्धनय से, प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। इसलिए आगम का वचन तो ये (है) कि प्रमाण पूज्य नहीं है। तो प्रमाण की तो हम पूजा करते हैं, केवलज्ञान की पूजा करते हैं (मगर) वो पूजा नहीं है; माने वो उपादेय नहीं (है)। सम्माननीय नहीं (है) माने उपादेय नहीं है अर्थात् वो अहम् करने लायक नहीं है। माने मैं द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप हूँ - ऐसा नहीं, इस तरह अनुभूति नहीं होगी।

मुमुक्षु[40]:- मैं द्रव्य-पर्याय स्वरूप हूँ - ऐसे अनुभूति (नहीं होगी)?

पूज्य बाबूजी:- ऐसे अनुभूति नहीं होगी। वो द्रव्य-गुण-पर्याय सबको उसमें मिलाया और फिर अनुभूति का विषय बनाया तो वो नहीं होगा; नहीं होगा, क्योंकि ध्रुव का स्वरूप ही न्यारा है न। तो वो जो ध्रुव का जो ध्रुवत्व है अनादि-अनंत त्रैकालिक, तो वो तो ज्यों का त्यों रहता है।

जिस प्रयोग-पद्धति में हम जाते हैं तो हमने उन द्रव्य और पर्याय का इस तरह विश्लेषण किया कि अब क्या करना? द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप (वस्तु) है ये तो पहले हमने प्रमाण में जाना। ये तो जानना जरूरी है, माने आवश्यक है। लेकिन ऐसा जानने के बाद ये देखा कि इनमें से एक तो है क्षणिक और विकारी और दूसरा है नित्य और शुद्ध। अब दोनों में से अवलंबन किसका लेना? उपादेय किसको बनाना? अहम् किसमें करना? ये प्रश्न पैदा हुआ। अगर ये चतुर है, कुशल है और वास्तव में आत्मा को चाहता है तो इसको ये प्रश्न पैदा होगा कि अब ये तो दो विरुद्ध तत्त्व हैं और परस्पर विरुद्ध को एक ही साथ श्रद्धा का विषय बनाया नहीं जा सकता (और) बनायेंगे तो श्रद्धा मिथ्या होगी। इसलिए इनमें से उपादेय कौन है? तब उसने पर्याय की छानबीन की कि ये तो पकड़ने में आती ही नहीं है। अगर इसमें अहम् करूँ अर्थात् इसको सम्पूर्ण आत्मा मानूँ तो मैं इसके पीछे-पीछे कहाँ भागता फिरूँगा? ये तो चली जाएगी। फिर वापस आनेवाली नहीं है अनंतकाल में दोबारा। दोबारा अनंतकाल में भी वापस नहीं आएगी एक पर्याय जो गई वो तो। इसलिए ये जो ध्रुव है वो हमेशा उपलभ्यमान है। माने जब भी मैं चाहूँ तब ये उपलब्ध होता है। माने मैं कितनी ही गलती करूँ लेकिन ये मुझे क्षमा करता रहता है (और) मेरा साथ नहीं छोड़ता। और नरक में भी मेरा साथ इसने नहीं छोड़ा (ऐसा सोचकर) कि कहीं ये (भूला) जाग जाए और मुझे ढूँढने लगे, तो कहाँ ढूँढेगा? इसीलिए वो ध्रुव है और ध्रुवत्व ही अवलंबन के लायक, अहम् करने लायक होता है और वही उपलब्ध होता है।

'उपलभ्यमान' ऐसा शब्द आया है। उपलब्ध करने योग्य वो है - ध्रुव, क्योंकि वो वहाँ का वहाँ रहता है, जहाँ का तहाँ रहता है। जैसे अपने मकान में कोई खंबा है, स्तम्भ। तो उसे क्या उपलब्ध करना है? उसे तो कभी भी उपलब्ध कर लो (क्योंकि) जहाँ का तहाँ (है)। और जो

40 मैं द्रव्य-पर्याय स्वरूप हूँ - ऐसे में अनुभूति क्यों नहीं होगी? - 31.18 Mins

चलनेवाला चक्र है कोई, तो वो चक्र तो एक चक्र के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तो वो चक्र कहाँ आता है? कि वो तो गया, कभी आएगा नहीं। इसीलिए ये मैं हूँ - इस तरह से उसे अंतिमरूप में विकल्प चलते हैं। और यही ज्ञायक मैं हूँ तो फिर उसका गुणों से विचार करता हुआ अंत में स्थिर हो जाता है तो वास्तविक अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षुः- और द्रव्य अंशरूप नहीं दिखता? परिपूर्ण (दिखता है)?

पूज्य बाबूजीः- परिपूर्ण। अंशरूप नहीं। नय की जो परिभाषा है वो तो यही है कि वो किसी अंश को विषय करता है। लेकिन वहाँ अंश गायब हो जाता है क्योंकि वो तो सम्पूर्ण है। कि जो मिथ्यात्व दशा में भी जिसका कुछ नहीं बिगड़ा और सम्यग्दर्शन होने पर जिसमें कोई सुधार और शुद्धता नहीं आई - ऐसा वो अत्यंत शुद्ध-शुद्ध द्रव्य है, शुद्ध-शुद्ध वस्तु है वो। अब उसे कहें कुछ भी भले ही। द्रव्य कहें, अस्तिकाय के रूप में जीवस्तिकाय कहें, तत्त्व के रूप में जीव तत्त्व कहें, पदार्थ के रूप में आत्मपदार्थ कहें - कुछ भी कहें, नाम कुछ भी लें। लेकिन वो शुद्ध है और ध्रुव है और उपलब्ध करने लायक वही है और कोई नहीं है। जगत में भी द्रव्य हैं लेकिन वे तो हमारे हैं नहीं, इसलिए वो उपलब्ध करने लायक हैं ही नहीं। तो केवल यही उपलब्ध करने लायक है क्योंकि ये हर समय मिलता है। जैसे सातवें नरक में उसकी (अज्ञानी की) बुद्धि जागी, सुबुद्धि हुई और वो उसको आत्मा को ढूँढने लगे और वो (आत्मा) गायब हो जाए तो? तो किसका अनुभव करेगा?

मुमुक्षुः- मगर वो कभी धोखा नहीं देता।

पूज्य बाबूजीः- वो धोखा नहीं देता कभी भी। वो इसके साथ ही रहता है हमेशा कि जब भी... अभी ठीक है! इसका दिमाग खराब है अभी। लेकिन कभी सुधर जाए तो फिर मुझे कहाँ ढूँढेगा? इसलिए कभी साथ नहीं छोड़ता।

मुमुक्षुः- वो अपना बड़प्पन कभी नहीं छोड़ता।

पूज्य बाबूजीः- नहीं छोड़ता। हाँ! वो तो है ही ये पिता-पुत्र जैसा। भाई! इसको (पर्याय को) तो दिमागी बीमारी (mental ailment) है। तो ठीक है ये भी क्या करेगी? जब ये मिटेगा, ठीक होगा तब मेरी तरफ ही दौड़ेगी। तो मुझे उस समय उपलब्ध रहना चाहिए।

मुमुक्षुः- तो दौड़े न दौड़े मैं तो उपलभ्यमान हूँ।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! मैं तो उपलभ्यमान हूँ।

मुमुक्षुः- मतलब 'जागतो जीव उभो छे' (पूज्य बहनश्री चंपाबेन के बोल)?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वही होता है सब कुछ, सारा रूपांतर है। विद्यमान एकदम। प्रगट ही है, जो अनुभूति में आता है वो प्रगट है। प्रगट आता है। आँख बंद करके कुछ भी चीज खाएँ अथवा आँख खोलकर खाएँ तो कोई फरक थोड़ी (न) पड़ता है। स्वाद में थोड़ी, आनंद में थोड़ी (न) अंतर पड़ता है। कुछ अंतर नहीं पड़ता। इसलिए भले प्रदेश नहीं दिखाई देते आत्मा के (लेकिन) प्रदेश

नहीं दिखाई देने पर भी उसका स्वरूप जो निश्चित किया अपन ने ज्ञान में - निर्णयात्मक, तो वो स्वरूप जो हमने निश्चित किया है चिन्मात्र तत्त्व हूँ और ये अन्य सारे के सारे इसके अतिरिक्त जितने भी हैं मेरी पर्याय समुदाय से लगाकर सारा लोकालोक, ये अन्य सब के सब पर हैं और इनमें ध्रुवत्व का कुछ भी नहीं है; सर्वथा संबंध का निषेध है। तो ऐसा जाना तो एकदम उछलता है कि मैं असहाय निरालंब तत्त्व हूँ, अपने बल पर खड़ा हुआ। माने अनादि से अपने बल पर खड़ा हुआ (है) किसी की (भी) सहायता नहीं (है)। जैसे पर्याय में तो निमित्त आदि का सहयोग कहा जाता है लेकिन इसमें तो किसी निमित्त का (भी सहयोग) नहीं है, किसी कर्म के उदय का नहीं है। कैसा भी कर्म का उदय हुआ लेकिन शुद्धात्मा का कोई बिगाड़ नहीं हुआ और कर्म का क्षय हुआ तो शुद्धात्मा का सिद्ध दशा में (भी) कोई सुधार नहीं हुआ। कोई शुद्धता नहीं आई उसमें, इस तरह प्राचीनतम् शुद्ध है - पुरातन।

मुमुक्षुः- प्राचीनतम् शुद्ध है - पुरातन?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ऐसा शुद्ध तत्त्व मैं हूँ और सम्पूर्ण हूँ क्योंकि सम्पूर्ण अनंत गुणों को लेकर बैठा है। अनंत शक्तियों का पिटारा है एकदम! बस, प्रसन्नता ही प्रसन्नता है फिर।

किसी के पास पैसा होना, ये भी एक गुण माना जाता है कि नहीं? अब गुण (तो) क्या माना जाता है वो अपने आपको आसमान में मानता है। भले ही हस्ताक्षर भी नहीं करने आते हों। लेकिन गुण है कि नहीं एक तरह से? इसी तरह और कोई वकील (advocate) है कोई, कोई डॉक्टर है। तो वो उस विद्या में अगर पारंगत है, तो वो उसका गौरव करता है कि नहीं? तो जिसके पास ऐसे अनंत हों वो कैसा होगा?

मुमुक्षुः- Fantastic! (जबरदस्त!)

पूज्य बाबूजीः- और एक से एक विलक्षण, एक से एक विलक्षण स्वाद वाले। तो वो कैसा होगा? महान है। इसलिए गुण को ये नहीं समझना (कि) शक्ति है, शक्ति है, शक्ति है। वो तो सत् रूप है। जैसे द्रव्य सत् रूप है विद्यमान, इस तरह गुण भी सत् हैं विद्यमान एकदम। ज्ञान और आनंद से लबालब भरा हुआ। बस, केवल अनुभूति का बटन दबाया और वो फव्वारा चलने लगा।

मुमुक्षुः- द्रव्य को अंशरूप नहीं देखना, परिपूर्ण रूप देखना (है)?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! परिपूर्ण देखना, पूरा है वो। पूरा इसीलिए, उसमें कारण है न, हेतु है न। सुयुक्ति है कि द्रव्य और पर्याय दो ही तो हैं। अब दो मिलकर पूरा पदार्थ है - ये तो सही है बात। अब हमें तो अपना प्रयोजन सिद्ध करना है। तो द्रव्य और पर्याय दोनों को साथ लेकर प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए दोनों की हमने अपनी प्रयोगशाला (laboratory) में परीक्षा की। ये तो क्षणिक है और विकारी भी है। तो विकारी और क्षणिक ये मेरे काम का नहीं है। क्योंकि ये तो आज तक जो आकुलता रही उसका कारण ही यही है कि मैंने इसके (क्षणिक के) साथ मोह किया।

मुमुक्षुः- ओहोहो! तो घर का चोर पकड़ा गया।

पूज्य बाबूजीः- बस! वो पकड़ा गया। तो फिर वो द्रव्य पर (आ जाता है) क्योंकि ये है उपलब्ध करने लायक कि जो सदा उपलब्ध रहता है (अर्थात्) विद्यमान - तो ये निर्णय हो गया। तो वो अंश के रूप में नहीं हुआ क्योंकि जो श्रद्धा और ज्ञान है, उसने उसको अंश माना या पूर्ण माना? अगर अंश मानेंगे तो उधर जायेंगे ही नहीं। फिर हम क्या करेंगे टुकड़ों का? कि टुकड़ों का क्या करेंगे हम? हमें तो पूरा चाहिए। टुकड़ों का क्या करेंगे हम? जाएगा ही नहीं (क्योंकि) ये तो एक psychology (मनोविज्ञान) है अपनी भी कि हम टुकड़ों का क्या करेंगे? हमें तो पूर्ण चाहिए।

जैसे नोट का कोई एक टुकड़ा लाकर के अपने को दे दे तो अपन क्या करेंगे? चाहे वो १००० रुपये का (ही क्यों न) हो। (हमें तो) पूर्ण चाहिए। और पर्याय स्वयं अपना स्वरूप जानती है कि मुझे तो मात्र देखना है। दर्शन करना है मुझे तो और करना क्या है? उसकी रचना नहीं करना (है)। द्रव्य में रचना कभी नहीं होती और ज्ञान भी रचना करता हुआ नहीं पर रचना को दूर हटाता हुआ (जानता है)।

मुमुक्षुः- ये क्या कहा?

पूज्य बाबूजीः- कर्ता नहीं है न ज्ञान, ज्ञान कर्ता नहीं है। ज्ञान तो जो है वो जाननेवाला है न, ज्ञायक है न, तो इसलिए वो कर्ता नहीं है। तो अगर वो रचना करे तो कर्ता हो गया न। पर्याय अगर द्रव्य में कुछ रचना करे तो इसका अर्थ है कि वो अपूर्ण था। और यदि वो अनादि से ही अपूर्ण है तो पूर्ण हो नहीं सकता। और अपूर्ण कोई पदार्थ होता नहीं है क्योंकि आधा चेतन (और) आधा अचेतन कैसे होगा? उसका क्या स्वरूप होगा? इसलिए पूरा चेतन है।

मुमुक्षुः- न्यायों (logics) की बौछार लग गई है - एक के बाद एक, एक के बाद एक।

पूज्य बाबूजीः- पूरा चेतन है। पर्याय उसको पूरा देखती है। बस, हो गया ये। एक परिवार के दो सदस्य, धर्म पूरा हो गया दोनों का। उसका ज्यों का त्यों रहना और इसका उसको वरमाला पहनाना।

मुमुक्षुः- इसका ज्यों का त्यों रहना, द्रव्य का। और पर्याय का उसको वरमाला पहनाना।

पूज्य बाबूजीः- वरमाला पहनाना।

भई! पत्नी यही तो कहती है कि आप ही मेरे जीवन हैं। ये तो नहीं कहती है कि आधे तुम और आधी मैं। यद्यपि नाम उनके कुछ भी हों लेकिन ये ही कहती है न (कि) आप ही हैं मेरे जीवन तो।

मुमुक्षुः- बराबर!

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ६, तारीख ३०-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षु[41]:- प्रतिभास का अर्थ क्या है?

पूज्य बाबूजी:- प्रतिभास माने ज्ञेय जैसा ज्ञान का आकार उसका नाम प्रतिभास (है)। और वो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को हर समय होता है। अज्ञानी को क्योंकि परपदार्थों के साथ एकत्व है इसलिए अज्ञानी को तो एकांत परपदार्थ का ही प्रतिभास होता है। १७-१८ गाथा में जो कहा था उस पर चर्चा अपन कर चुके हैं। तो 'मैं जानता हूँ' - ये सब जीव स्वीकार करते हैं। जानने को सब जीव स्वीकार करते हैं कि 'जानता हूँ अर्थात् (मैं) जाननेवाला हूँ' - ये स्वीकार करते हुए भी जानना और जाननेवाला, उनका स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण वे पर के साथ एकत्व कर बैठते हैं। पर को आत्मा में मिला देते हैं। अनेक प्रकार हैं (जैसे) पर के साथ एकत्व करना, अहम् करना, पर को अपने में मिलाकर अनुभव करना, रागादि को अपने में मिलाकर अनुभव करना - ऐसा। तो उनको तो एकांत पर का ही प्रतिभास होता है, अज्ञानियों को।

ज्ञानी को जब स्वानुभूति होती है स्वसंवेदनज्ञान, निर्विकल्प समाधि जब होती है तो उस समय तो स्व का प्रतिभास होता है (अर्थात्) ज्ञायक का। चिन्मात्र जो चैतन्य तत्त्व है, उसका जो स्वरूप पहले विचार दशा में निश्चित किया था, निर्णय किया था और उस निर्णय में कोई (भी) किसी तरह की कसर नहीं थी (अर्थात्) अत्यंत स्पष्ट निर्णय था। तो वो निर्णय के बाद चिंतन चलते-चलते अंत में उसकी महिमा बढ़कर चिन्तन रुक जाता है और अनुभूति हो जाती है। तो उस समय तो अकेले स्व का ही प्रकाशन होता है। उस समय जो आनंद का जन्म होता है अतीन्द्रिय आनंद का, वो भी ज्ञान की सामर्थ्य से जानने में आ जाता है। इस तरह स्व और पर का प्रतिभास अनुभूति की दशा में होता है, ज्ञानी को।

और जिस समय ज्ञान स्वानुभूति में नहीं होता और उसका उपयोग बाह्य पदार्थों में होता है, तो बाह्य पदार्थों के साथ परत्व लिए पर का प्रतिभास होता है; स्व का प्रतिभास उस समय नहीं होता। इसलिए एक समय में एक का ही प्रतिभास, एक का ही जानना (होता है)।

मुमुक्षु:- प्रतिभास माने जानना।

पूज्य बाबूजी:- जानना। जानना ही है लेकिन वो आकार सहित (है) माने। आकार सहित अर्थात् जैसा उस स्वरूप का निर्णय किया (वैसा)। आत्मा के अमूर्त स्वभाव का और त्रैकालिक,

41 प्रतिभास का अर्थ क्या है? - 0.15 Mins

अविनाशी, अक्षय, अनन्त गुणात्मक ऐसा जो निर्णय किया, तो ठीक वैसा का वैसा चिन्मात्र तत्त्व ज्ञान में भासित होता है, उसको आकार कहते हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय को अर्थ कहते हैं और अर्थ के प्रतिभास को आकार कहते हैं। तो बाह्य पदार्थ में उपयोग के समय ज्ञानी को तो अकेले पर का ही प्रतिभास उन पदार्थों के साथ परत्व लिए हुए (होता है)।

मुमुक्षुः- ये परत्व लिए हुए माने क्या प्रभु?

पूज्य बाबूजीः- परत्व (लिए हुए) माने 'ये मेरे नहीं है' - ऐसा परत्व। ऐसा बोलना नहीं पड़ता, ऐसा विचार नहीं करना पड़ता लेकिन जिस समय अनुभूति हुई उस समय 'ये शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ' - बस इतना! अनुभूति में सिर्फ इतना कि 'शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ' - ये भी लंबी भाषा है, ये लंबी भाषा है। माने चिन्मात्र बस! वहाँ तो अनुभूति में तो ये होता है। और ये 'चिन्मात्र हूँ', तो चिन्मात्र से अन्य जितने भी हैं वे सब पराये हुए। माने अपनी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों सहित अन्य जितने भी हैं, वे सब पराये हुए।

तो जब उपयोग अनुभूति से बाहर जाता है बाह्य पदार्थों की ओर - ये व्यवहार भाषा में बोल रहे हैं। (बाहर) जाता है (तो) किस तरह जाता है, किस तरह जानता है - वो तो स्वपरप्रकाशक का प्रकरण न्यारा ही है। लेकिन जब उपयोग बाह्य पदार्थों की ओर होता है तो उस समय आत्मा की ओर उपयोग नहीं होता, तो उस समय अनुभव दशा नहीं होती, स्वसंवेदनदशा नहीं होती।

मुमुक्षुः- आनंद नहीं होता।

पूज्य बाबूजीः- आनंद नहीं होता, स्वसंवेदनदशा नहीं होती - ऐसा है।

मुमुक्षुः- बराबर! माने पर में परत्व लिए प्रतिभास होता है?

पूज्य बाबूजीः- पर में परत्व लिए होता है (और) अज्ञानी को पर में एकत्व लिए होता है। तो अज्ञानी को तो एकांत है कि स्व का प्रतिभास होता ही नहीं है, वास्तव में। क्योंकि स्व का वास्तविक प्रतिभास हो तो उसी का नाम अनुभूति है, उसी का नाम स्वसंवेदन है। और अज्ञानी को जो होता है तो एकांत पर का ही (प्रतिभास होता है)। पर का होता है, लेकिन पर को स्व मानकर होता है। स्व मानकर और स्व जानकर होता है अज्ञानी को।

और (वहीं) ज्ञानी को..... क्योंकि स्व-पर का विभाग वो (उसको) अनुभव में आ गया है अनुभूति के समय, तो इसलिए इस मेरे चिन्मात्रतत्त्व के अतिरिक्त जितने भी जगत के भाव हैं, भाव हैं.... भाव माने अस्तित्वरूप तत्त्व। तो अपनी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें कर्म-नोकर्म इत्यादि सारा जगत, सारा विश्व वो पर की कोटि में जाता है और उसका जानना परत्व लिए ही होता है, स्वतः ही। क्योंकि ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो गई है जो अज्ञानदशा में नहीं थी, स्व-पर के विभाग की। स्व-पर के विभाग की जो सामर्थ्य है क्षयोपशम ज्ञान में, वह अज्ञानदशा में नहीं थी। यद्यपि अज्ञानदशा से ही ये सारा कार्य प्रारंभ होता है और पर वो (फिर) पलट जाता है। अज्ञान भी करवट

ले लेता है और स्वयं अज्ञान का विरोधी हो जाता है। अज्ञानदशा से ज्ञान दशा में जब पहुँचा, तब तो ज्ञायक का अनुभव हुआ और ज्ञायकाकार वो पर्याय में (उसको) होता है प्रतिभास।

और वो कैसा होता है? कि जैसा उसने उस शुद्धात्मा का निश्चय किया था, चिन्मात्रतत्त्व का जैसा ज्ञान में निश्चय किया था, ठीक वैसा का वैसा प्रतिभास माने वैसा का वैसा ज्ञान अर्थात् वैसा का वैसा वेदन, स्वसंवेदन और वो आनंद लिए हुए होता है। उस समय स्व जो है वो तो शुद्धातम तत्त्व है। उसके अतिरिक्त अन्य सब पर हैं - ये उसने निश्चय कर ही लिया है। इसलिए जो आनंद दशा प्रगट हुई वो भी परतत्त्व है, परपदार्थ है, परद्रव्य है, पुद्गल द्रव्य है।

मुमुक्षु[42]:- आनंद दशा प्रगट हुई, वो पुद्गल द्रव्य है (अर्थात्) परद्रव्य है?

पूज्य बाबूजी:- वो पुद्गल द्रव्य है, परद्रव्य है। क्योंकि ऐसा वचन है आगम का कि शुद्ध जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के हैं। ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से जानता है वो अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है - ये तो ज्ञानी की बात है।

और ज्ञानी जब स्व में से हटकर.... क्योंकि कमजोरी है अभी। चारित्र की कमजोरी है न, तो अस्थिरता है। उस अस्थिरता के कारण स्व में टिक नहीं पाता यद्यपि मन वहीं रहता है। रहता है माने? मन वहीं लगा रहता है, यद्यपि पर की ओर चला गया पर फिर भी मन वहाँ से हटा नहीं (है) क्योंकि सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के पहले दर्शन हो चुके हैं। इसलिए मन में तो वो ही बसा है, कलेजे में तो वो ही बसा है लेकिन अस्थिरता के कारण ज्ञान पर में चला जाता है। तो वहाँ परत्व लिए (पर का) प्रतिभास होता है क्योंकि ज्ञान हमेशा ही हेय और उपादेयरूप परिणमन करता है। जो भी परिणाम होता है उसमें उपादेयत्व और हेयत्व रूप परिणमन होता है। तो हेयत्व को तो कहना नहीं पड़ता और उपादेयत्व तो है नहीं ज्ञानी को परपदार्थों में। इसलिए परपदार्थों के साथ हेयत्व लिए हर परिणमन होता है, परपदार्थों में उपयोग के समय। और स्व में उपादेयतारूप परिणमन होता है, स्वानुभूति के समय - ऐसा नियम है।

मुमुक्षु[43]:- स्व में उपादेयतारूप परिणमन होता है, स्वानुभूति के समय।

पूज्य बाबूजी:- स्वानुभूति के समय। उस समय परपदार्थ जानने में नहीं आते, परभाव जानने में नहीं आते, रागादि जानने में नहीं आते। अपनी शुद्ध पर्याय भी जानने में आती है तो वो आनंद के रूप में। जानने में आ जाती है, इसे जानना नहीं है (उसको); इसे तो केवल शुद्धतत्त्व को, शुद्धात्मतत्त्व को ही जानना है (और) उसी की ओर एकाग्र रहना है क्योंकि उसने उसी में अपनत्व स्थापित किया है, स्वत्व स्थापित किया (है), उपादेयता स्थापित की है। उसके अतिरिक्त उसके लिए अन्य सब मिट्टी हैं सारा जगत। अपनी शुद्धाशुद्ध पर्यायें भी उसके (चिन्मात्र के)

42 आनंद दशा प्रगट हुई, वो पुद्गल द्रव्य है (अर्थात्) परद्रव्य है? - 8.53 Mins

43 ज्ञानी की स्थिति। - 10.45 Mins

अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं रखतीं। एक मात्र वही सर्वोच्च स्थान पर है। इसलिए चित्त में तो वो बैठ गया है, ज्ञान में तो वो सदा के लिए बैठ गया है। पर अस्थिरता के कारण उपयोग बाहर चला जाता है।

जैसे गर्मी के दिन हों, बहुत गर्मी के और उस समय कोई व्यक्ति अपने वातानुकूलित ऐयर कन्डिशन्ड (Air Conditioned) कमरे मैं बैठा है। और उस समय बाहर से कोई आवाज देता है और अपना सुपरिचित है। तो इसको मन न होते हुए भी बिना मन के बाहर निकलकर जाना पड़ता है और उससे बातचीत करना पड़ता है। माने गर्मी में जाना पड़ता है उस शीतलता से निकलकर और बातचीत करना पड़ता है लेकिन मन शीतलता में ही बसा रहता है।

इसी तरह (ज्ञानी) अन्य को जानते समय कोई अन्य को जानने में अंतर्मग्न हो जाये - ऐसा कभी नहीं होता है। जानना भी उदासीनभाव से, उपेक्षित भाव से होता है (उसको)। एकदम उपेक्षित भाव से होता है। मन ऐसा कहता है कि ज्ञान इधर आवे ही नहीं और उसी आनंदघन तत्त्व में लगा रहे - ऐसा उसका मन बन गया है।

मुमुक्षु:- मन ये चाहता है कि ज्ञान इधर आवे ही नहीं, उसी ज्ञान तत्त्व में बँधा रहे।

पूज्य बाबूजी:- उसी में ज्ञानघन में, आनंदघन में लगा रहे, मन में तो ये बस गया है। वो बस गया है, मन में माने ज्ञान में। लेकिन (फिर भी) चला जाता है अस्थिरता के कारण। क्योंकि चारित्र की अभी अस्थिरता बाकी है, साधक दशा है, तो उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों दशायें एक साथ चलती हैं। एक ही पर्याय में शुद्धता और एक ही पर्याय में अशुद्धता। इस तरह दो विभाग होते हुए भी वे दोनों मिलकर चलते हैं लेकिन एक नहीं होते। एक पर्याय है लेकिन उसके दो विभाग हैं, एक शुद्ध अर्थात् सुखरूप और एक अशुद्ध अर्थात् दु:खरूप, रागादिरूप। ऐसी दो दशायें चारित्र की चलती हैं।

अनंतानुबंधी के जो रागादि हैं या क्रोध-मान-माया-लोभ हैं, वो तो रहे ही नहीं। अब तो शक्ति ही पूरी तरह से कषाय की टूट गई है। केवल इतना है कि जैसे किसी व्यक्ति के प्राण निकल गए हैं और उसे श्मशान में ले जाकर जलाना है। अब ऐसा राग रह गया है कि उसके प्राण तो निकल चुके हैं क्योंकि जड़ तो समाप्त हो गई है और अब केवल थोड़े समय के लिए वृक्ष हरा दिखाई देता है लेकिन वो निश्चितरूप में सूखेगा।

इसी तरह ज्ञानी को ये विश्वास है कि ये जो राग है, इससे घबराने की आवश्यकता नहीं। प्रथम तो यह मेरे में है ही नहीं; परतत्त्व है। और यदि ये रहता भी है तो मुझे कोई फिकर नहीं क्योंकि निश्चितरूप में इसका प्राणांत होनेवाला है। इसलिए घबराने की (बात नहीं)। और मुझे घबराने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं (क्यों) कि मेरा इससे कोई सबंध ही नहीं। मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, शुद्ध तत्त्व हूँ, सर्वोच्च हूँ। इस तरह अपने को मानता हुआ भीतर से सुखरूप परिणमन करता है और दु:खरूप भी परिणमन होता है। सुख और दु:ख दोनोंरूप परिणमन होता है।

मुमुक्षु:- भीतर से सुखरूप परिणमन होता है?

पूज्य बाबूजी:- सुखरूप माने जितना राग था और मिथ्यादर्शन था, तो उतना चला गया। तो उतनी जगह खाली हुई कि नहीं? तो वो जगह खाली थोड़ी रहेगी। वो शुद्ध पर्याय से भर गई। तो उतना शुद्ध अंश चारित्र में (विद्यमान है) और शेष रागादिरूप अशुद्ध अंश। ये चारित्र की पर्याय में चलता है।

इसी तरह सुख गुण की पर्याय.... सुख प्रगट हुआ। वो जो आनंद था न, उस समय सुख प्रगट हुआ। और अभी दु:ख भी बाकी है क्योंकि उपयोग बाहर जाता है, तो विविध प्रकार का अनुभव होता है। कषायरूप अनुभव होता है, तो उसके फल में दु:ख भी होता है और लौकिक सुख भी होता है - दोनों बात हैं। लौकिक सुख और दु:ख माने दु:ख; तो इस तरह मिश्र वेदन वहाँ पर चलता है। माने उतना सुख तो हो ही गया न सदा के लिए। जो स्वानुभूति में प्रगट हुआ था वो सुख तो सदा के लिए हो गया। और अब जो दु:ख बाकी है उसी में से टूटता जा रहा (है), उसी में से क्षीण होता है। पुनः पुनः आत्मा की ओर जाता है जैसी इसकी शक्ति है उस तरह (से), तो दु:ख टूटता है, कषाय टूटती है (और) राग टूटता है। राग का फल दु:ख है तो वो टूटता है। इस तरह राग टूटकर वीतरागता का जन्म चारित्र में (होता है) और उधर दु:ख टूटकर सुख का जन्म (होता है)। माने दोनों बढ़ते जाते हैं ये निर्जरा जिसको कहते हैं - शुद्धता में वृद्धि।

मुमुक्षु[44]:- बाबूजी कल जो स्वरूप के बारे में चर्चा चली थी तो उसमें एक प्रश्न ये था कि जैसे लोक में हमको अपनी बच्ची की शादी करनी है तो हम लोग कितना ढूँढते हैं। कैसा लड़का है? क्या करता है? उसकी आमदनी क्या है? कुटुम्ब कैसा है? और हर एक प्रकार का निर्णय करके बाद में हम नक्की करते हैं कि ये अपनी बच्ची के लिए योग्य है। (क्योंकि) इसको वो प्रगट है। लेकिन अपना जो ज्ञायकभाव (है) वो तो अप्रगट है। तो उसको किस तरह से खोजें? किस तरह से उसका निर्णय करें क्योंकि (वो तो) अप्रगट है? तो उसको किस तरह से अपने ज्ञान में उसके स्वरूप को बिठायें?

पूज्य बाबूजी:- सबसे बड़ी भूल तो पहले यही है कि वो अप्रगट है।

मुमुक्षु:- पर्याय में प्रगट है बाबूजी, पर्याय में प्रगट है।

पूज्य बाबूजी:- पर्याय में प्रगट है तो वो प्रगट है। लेकिन हम ये नहीं मानें ये दूसरी बात है न। लेकिन ज्ञान का कभी अंत नहीं होता, ज्ञान कभी अस्थिर नहीं होता। ज्ञान तो जितना भी है, जितना विकास है (उसका) उतना प्रति समय चलता है। चलता है न? तो ये जो ज्ञान चलता है ये कौन है?

पर्याय तब होती है जब उसके पीछे कोई वस्तु हो, तो पर्याय होती है। वस्तु ही अगर न हो तो परिणमन कैसे होगा? होगा? जैसे किसी का बच्चा ही नहीं हो तो वो स्कूल में प्रवेश

44 ज्ञायक तो अप्रगट है तो उसको कैसे ढूँढें? - 17.44 Mins

(admission) कैसे करायेगा? करवा देगा? तो यहाँ वस्तु ही न तो परिणमन कहाँ से होगा? तो यह जो ज्ञान है प्रति समय चलनेवाला, ये जगत के अचेतन पदार्थों से एक विलक्षण तत्त्व है, उससे विरुद्ध तत्त्व है। तो ये विरूद्ध तत्त्व है, तो ऐसा ही विरूद्ध तत्त्व एक द्रव्यरूप होना चाहिए, वस्तुरूप होना चाहिए। तो वो चिन्मात्रतत्त्व है, चैतन्यतत्त्व है। अब उसी की ये पर्याय है। भले ही ये पर्याय में इतना .... क्योंकि वो भी स्वतंत्र तत्त्व है (पर्याय) इसलिए विपरीत परिणमन होता है। उसको (पर्याय को) कहा जाए, समझाया जाए तो भी ना समझे। तीर्थंकर समझायें तो भी ना समझे। और एक सामान्य जो अनुभूति-सम्पन्न गृहस्थ है, उससे समझ जाए। उसे समझकर वो उस पर्याय का स्वयं (उसकी) होनहार, काललब्धि पर और पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। तो पुरूषार्थ से यदि वो समझ जाता है तो पलट जाता है (और) ज्ञान निर्मल हो जाता है। अनुभव दशा प्रगट हो जाती है।

इसलिए ये प्रगट है माने। आपकी जो अप्रगट की बात थी न, अप्रगट की.... तो वो पर्याय प्रगट है कि नहीं ज्ञान की पर्याय? माने ज्ञान की पर्याय प्रगट अर्थात् प्रति समय अपने अनुभव में आती है और दूसरे के भी अनुभव में आती है। अपनी ज्ञान की पर्याय अपने अनुभव में आती है और दूसरे के अनुभव में भी आती है। दूसरे के अनुभव में नहीं आये तो वो कैसे अपने से बातचीत करे? तो वो करता है न! जैसे एक प्रोफेसर है, वो बच्चों को पढ़ाता है। तो वो ये जानता है कि मैं तो ज्ञान में परिपूर्ण हूँ ही लेकिन ये भी ज्ञानवाले हैं इसलिए grasp (पकड़) कर गए हैं। तो अन्य के भी अनुभव में आता है और अपने अनुभव में तो आती है ज्ञान की पर्याय। अब ये ये निश्चय नहीं कर पाता (है) कि ज्ञान की जो पर्याय है, वही तो आत्मा है। क्योंकि आत्मा न हो तो वो ज्ञान कहाँ से आवे? तो इतने में तो निहाल हो जाये अगर इतना निश्चय कर ले (तो)। लेकिन ये निश्चय न करके वो पर में लुब्ध रहता है और पर में लुब्ध रहता है तो इसको कष्ट ही कष्ट होता है। और उसका कारण है क्योंकि जगत की जो (भी) सत्तायें हैं, वो हैं अत्यंत स्वतंत्र। इसलिए ये किसी भी सत्ता के साथ एकत्व करना (अथवा) अपना स्वामित्व घोषित करना - ये सबसे बड़ा अपराध है विश्व का। है न?

दो व्यक्ति हैं जैसे - एक है हिन्दुस्तानी Indian और एक है अंग्रेज। तो दोनों में झगड़ा हो जाये तो अदालत (court) चले जायेंगे और दोनों में से एक को सजा हो जाएगी; तो वो तो मामला निपट जाएगा। लेकिन अगर हिन्दुस्तान किसी दूसरे देश की एक इंच भूमि पर भी अधिकार करे तो वो मामला अदालत (court) में नहीं निपटेगा, वहाँ (तो) महायुद्ध होगा क्योंकि वो बड़ा अपराध है। दूसरे की एक इंच भूमि पर भी कब्ज़ा करना ये महान अपराध है। इसने सारे लोकालोक पर अपने मिथ्यादर्शन से कब्ज़ा माना है, मानने की चेष्टा की है। हुआ नहीं है कब्ज़ा, कब्ज़ा होता नहीं है कभी। लेकिन कब्ज़ा इसने घोषित किया है और माना है। तो इसकी जो नियत है वो महा-अपराधिनी नियत है। और सजा कार्य की नहीं होती, नियत की होती है। अभिप्राय (intention) की सजा होती है अदालत (court) में।

जैसे कोई मर जाए तो भी वो बरीह किया जाता है कि इसकी intention (अभिप्राय) नहीं थी। तो इसकी intention (अभिप्राय) खराब है सारे लोकालोक को हड़पने की। उस पर अपना स्वामित्व घोषित करता है। ये महान अपराध, ये केवल जैनदर्शन स्वीकार करता है। दूसरी जगह मिथ्यात्व नाम की चीज नहीं है।

मुमुक्षु[45]:- तो परिणमन से सत्ता मात्र का स्वीकार आ जाता है। वस्तु है तो परिणमन है।

पूज्य बाबूजी:- बिल्कुल आयेगा न, आयेगा न। हाँ!

अगर कोई जैसे आँखों से नहीं दिखता है, अँधा है और उसके मुँह में शक्कर रख दी गई तो वो कैसे जानेगा कि शक्कर है?

मुमुक्षुः- स्वाद से।

पूज्य बाबूजी:- मिठास से। मिठास का अनुभव होगा तो तुरंत जान लेगा कि शक्कर है मेरे मुँह में। तो मिठास जो परिणति है उसके साथ में शक्कर नाम का द्रव्य, वो पड़ा हुआ है। अगर वो न हो तो मिठास कहाँ से आएगी? दीपक न हो तो प्रकाश कहाँ से आएगा? इसलिए (वो) लक्षण है। हर पदार्थ के साथ उसका अपना-अपना लक्षण होता है। और उस लक्षण से वो पदार्थ पहचाना जाता है, उसको (उस पदार्थ को) लक्ष्य कहते हैं।

आत्मा के साथ ज्ञान है। तो ज्ञान (जो है) वो अपनी आत्मा को पहचानने के लिए है, दुनिया (को पहचानने) की बात दूसरे नंबर पर है। पर इसने दूसरे नंबर की बात को पहले नंबर पर अनादिकाल से रखा। तो अन्य को जानने का तो इसने अहम् किया। लेकिन सचमुच अन्य को भी नहीं जानता क्योंकि अन्य की गिनती करना और जानना - इसको से जानना नहीं कहते। तो जानने का जो मुख्य केंद्र है, मुख्य केंद्र-बिन्दु जानने का वो यह है कि उसे स्व-पर का विभाग है या नहीं।

जैसे एक व्यक्ति ये जानता है कि उसके मकान के सामने एक मकान है। तो उससे पूछा जाये कि ये क्या है? कि ये मकान है। लेकिन उसकी जो नियत है वो उस मकान को हड़पने की है। तो वो मकान कहता है - ये बात सच्ची? या हड़पना चाहता है - ये बात सच्ची? मकान कहता है वो उसे - ये ज्ञान सही है? या हड़पना चाहता है - ये ज्ञान सही है?

मुमुक्षुः- हड़पना चाहता है।

पूज्य बाबूजी:- हड़पना चाहता है - वो ज्ञान खोटा है। और मकान कहता है - उस ज्ञान की कोई कीमत नहीं। क्योंकि स्व-पर के विभागपूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति होना चाहिए, लोक में भी। इसी तरह स्व-पर के विभागपूर्वक इसकी प्रवृत्ति होती है।

और जिस तरह अगर कोई सज्जन व्यक्ति है, सदाचारी व्यक्ति है तो वो सारे शहर में घूमेगा। लेकिन परत्व लिए घूमता है, अपनत्व लिए नहीं घूमता है। तो उसे सब लोग सदाचारी और सज्जन कहते हैं। ऐसी (ही) स्थिति यहाँ है कि ये भले ही सारे लोकलोक को इसका ज्ञान जाने

45 परिणमन मात्र से सत्ता मात्र का स्वीकार आ जाता है। - 23.47 Mins

लेकिन ये जाने कि ये मेरे नहीं हैं। एक मात्र चैतन्य सत्ता माने मैं तो चैतन्यमात्र हूँ - बस इतना जाने। तो वो सज्जन है, सदाचारी है। यहाँ भी सदाचार है। सत् का आचरण उसको सदाचार कहते हैं।

मुमुक्षु[46]:- बराबर! सही बात है। सही बात है!

लब्ध व उपयोग में लब्ध द्रव्य शक्ति है या गुण शक्ति या पर्याय शक्ति?

पूज्य बाबूजी:- पर्याय शक्ति है - लब्धि; लब्धि और उपयोग। उपयोग माने प्रति समय जानन-क्रिया का होना। तो जानन-क्रिया में क्या है (कि) जैसे अपन सैनी पंचेद्रिय जीव हैं (अर्थात्) मनवाले और पाँच इन्द्रियवाले जीव हैं। तो अपने को जो जानना होता है वो एक बार में (किसी) एक इन्द्रिय का अवलंबन लेकर जानना होता है। और बाकी चार इन्द्रिय और मन (उनसे संबंधित) ज्ञान लब्धरूप में रहता है। लब्ध माने क्षयोपशम। तो उतना ज्ञान तो लब्धरूप में (यानि) क्षयोपशम के रूप में रहता है। और जितना ज्ञान प्रवर्त्तमान है तो वो किसी एक इन्द्रिय का होता है। स्पर्श का हो, रसना का हो - ये तो व्यवहार से कहना पड़ रहा है न, तभी समझ में आयेगी ये बात। वरना ज्ञान तो एक ही है (यदि) भीतर से देखा जाए तो। लेकिन घ्राण का हो, चक्षु का हो, कर्ण का हो अथवा मन का हो - इन छह में से एक बार में एक ही के अवलंबनवाला ज्ञान प्रवर्त्तमान होगा और शेष लब्धरूप। क्योंकि उसका जो विकास है वो तो ज्यादा है। विकास तो अधिक है लेकिन विकास के परिणमन की शर्त यह है कि सारा का सारा विकास एक ही समय में परणमित नहीं होगा। उसमें से एक-एक का विकास (हो) - इस तरह चलेगा, ऐसा।

मुमुक्षु:- अल्प पर्याय या पूर्ण पर्याय है?

पूज्य बाबूजी:- लब्ध जो है अल्प पर्याय है।

मुमुक्षु:- नहीं उपयोगरूप?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! तो ये जो लब्धिरूप उपयोग है ये तो क्षयोपशम ज्ञान में होता है। इसीलिए वो पर्याय अल्प पर्याय है (अर्थात्) कम विकासवाली पर्याय है। केवलज्ञान रूप नहीं है न इसलिए अल्प पर्याय है। कम विकासवाली कहें (उसको) कि विकास कम है।

जैसे चंद्रमा है, दूज का चंद्रमा..... तो बहुत थोड़ी चाँदनी (है)। फिर तृतीया का, चतुर्थी का..... तो ये चंद्रमा तो पूरा है कि नहीं इस समय? चंद्रमा तो इस समय पूर्ण है लेकिन पूर्ण होने पर भी उसका जो विकास है वो इस तरह चलता है। तो इस तरह ज्ञान छह प्रकार के क्षयोपशमवाला होने पर भी एक समय में केवल एक का ही सहारा लेकर के प्रवर्तित होता है, जाननेरूप।

तो पाँच इंद्रियाँ हैं, वो तो केवल पुद्गल में व्यवसाय करती हैं लेकिन वो भी एक-एक करके। स्पर्श को जाने, रस को जाने, गंध को जाने, वर्ण को जाने, एक समय में एक को (ही) जाने। और

46 लब्ध और उपयोग में लब्ध गुण शक्ति है या पर्याय शक्ति? - 27.07 Mins

मन जो हो वो मूर्त और अमूर्त, वो सब में व्यवसाय करता है। तो ये क्षयोपशम ज्ञान की दशा है और यही क्षयोपशम ज्ञान केवल मन का सहारा लेकर शुद्धात्मा के चिन्तन में लीन होता है और शुद्धात्मा की अनुभूति में पहुँच जाता है, ये क्षयोपशम (ज्ञान)।

तो फिर बाकी जो अन्य का जानना है न, बाकी जो दूसरे पदार्थों का जानना वो लब्धरूप रहता है और शुद्धात्मा का जानना उपयोगरूप होता है। और जिस समय बाह्य पदार्थों का जानना उपयोगरूप होता है तो उस समय शुद्धात्मा का जानना लब्धरूप होता है। एक समय में एक (ही) जानने में आता है।

मुमुक्षु:- तो ये मन और अमूर्त का संबंध किस तरह से होता है?

पूज्य बाबूजी:- मन जो है वो मूर्त और अमूर्त दोनों को जानता है। और इंद्रियाँ जो हैं पाँच, वो केवल पुद्गल मूर्त द्रव्य में उनका व्यवसाय होता है, केवल पुद्गल में; और मन का व्यवसाय दोनों में होता है। मन आत्मा के स्वरूप को जानता है कि नहीं? ये मन का ही तो सारा काम है। मन नहीं होता तो आत्मानुभूति नहीं होगी मन अगर ना होता। तो पाँच इंद्रियाँ केवल पुद्गल में जाननरूप व्यवसाय करती हैं।

मुमुक्षु[47]:- बाबूजी! आत्मानुभूति मन में होती है कि उपयोग में होती है?

पूज्य बाबूजी:- मन और उपयोग एक ही बात है (क्योंकि) वो मन वाला उपयोग (है)।

मुमुक्षु:- भावश्रुतज्ञान जो होता है न तो.....

पूज्य बाबूजी:- भावश्रुतज्ञान माने शुद्धानुभूति, वो मन के अवलंबन से (होती है)। मन का अवलंबन माने वो मन के अवलंबन के बिना होती है, ये बात अधिक कही जाती है। मन के अवलंबन से होती है ये बात गौण है, क्योंकि मन के अवलंबन से (तो) विकल्प होते हैं, विचार होते हैं, तरंगे होती हैं और ये (आत्मानुभूति तो) स्थिरतारूप है। इसलिए वहाँ मन रहता है तो अनुभूति होती है। क्योंकि पहले मन के द्वारा ही सारा चिंतन किया था न आत्मा का। आत्मा अमूर्त होने पर भी मन से उसका चिंतन किया न, उसके स्वरूप का और उसी (मन) में निश्चय किया था। निश्चय के बाद जब महिमा जागी तो वो धारा (अर्थात्) चिंतन-धारा चल पड़ी और चिंतन-धारा चलते - चलते, शिथिल होते-होते अंत में पूरी रूक गई (और) अनुभूति प्रगट हो गई, शुद्धात्मानुभूति प्रगट हो गई - ऐसा होता है। तो एक समय में एक का ही जानना होता है।

मुमुक्षु:- मन पावै विश्राम - वो आता है न?

पूज्य बाबूजी:- 'मन पावै विश्राम' - उसका अर्थ बताया न कि अधिकता से तो ये कहा जाता है कि उस समय मन की परिणति नहीं होती। लेकिन मन होता है, द्रव्यमन होता है तभी तो भावमन होता है, भावमन की प्रवृत्ति होती है। दोनों में कोई कर्ता-कर्म भाव नहीं है, सम्बन्ध भी

47 आत्मानुभूति मन में होती है कि उपयोग में होती है? - 32.04 Mins

नहीं है। केवल उसका (मन का) होना, केवल उसका होना - ऐसा। द्रव्यमन है न यहाँ। यहाँ जो वक्षस्थल है इसमें आठ पँखुड़ी के कमल के आकाररूप बहुत सूक्ष्म..

जैसे ये अन्य इंद्रियाँ हैं न जो स्पर्श इन्द्रिय, तो यहाँ हमने कोई गरम चीज लगाई। वो गरम चीज़ यहाँ लगाते ही..... नहीं लगावें तो नहीं होगा न ज्ञान। तो यहाँ लगाते ही तुरंत ज्ञान होता है। यहाँ लगती है वो (वस्तु) माने उसका स्पर्श। गर्मी पड़े यदि तो गर्मी का स्पर्श यहाँ होता है न, तो उसको तुरंत ज्ञान होता है। तो इससे ज्ञान हुआ वो बात नहीं हैं लेकिन केवल इसका होना (आवश्यक है)।

जैसे एक व्यक्ति गाता है लेकिन सितार के बिना नहीं गाता, पर सितार से नहीं गाता है। सितार गाना नहीं सिखाती है। पर अगर वो गाता है तो वहाँ पर सितार होती है और सितारपूर्वक ही वो गाता है। सितार कोई गाना नहीं सिखाती है, गाता (तो) वो स्वयं है। वो स्वयं (गाता है) उसी का गौरव है वो। तो इस (ही) तरह इंद्रियाँ होती हैं।

निमित्त अनेक होते हैं न जगत में। जैसे किसी व्यक्ति को देखकर किसी को क्रोध आया (तो) ये निमित्तता ही है। लेकिन मूल निमित्त जो है वो कर्म है मूल निमित्त और इनको नोकर्म कहते हैं, बाह्य पदार्थों को।

मुमुक्षुः- भावमन और ज्ञान दोनों एक ही हुआ कि....?

पूज्य बाबूजीः- भावमन ज्ञान की पर्याय है। भावमन ज्ञान की पर्याय, स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञान की पर्याय, रसना इन्द्रिय ज्ञान की पर्याय। इन्द्रिय नाम है क्योंकि वो इन पूर्वक होता है न। ये नहीं हों तो नहीं होता; लेकिन ये हों तो ही हो ऐसा आवश्यक नहीं (है) क्योंकि ये तो होती हैं। और केवल प्रवृत्ति एक ज्ञानरूप होती है। ये तो सब पड़े रहते हैं.....छहों पड़े रहते हैं (और) उनमें से (किसी) एक की प्रवृत्ति होती है।

इसका उदाहरण दिया न मोक्षमार्ग-प्रकाशक में जैसे किसी व्यक्ति को गाँव जाना है (तो) शर्त ये है कि वो इस तरह जाए। चार आदमी को साथ लेकर जाए और वो आदमी रूठ जायें तो वो नहीं जा सकता। इसी तरह इंद्रिय रूठ जाये तो फिर ज्ञान भी नहीं होता। अँधा हो जाए कोई तो दिखता नहीं (मगर उस रूप) क्षयोपशम तो रहता है। तो क्षयोपशम होने पर भी, लब्धरूप होने पर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती (अर्थात् उसकी) पर्याय नहीं होती। माने अँधा हो जाने पर चक्षु से देखनेवाला जो विकास था, विकास का अंश, वो ज्ञान में से निकल नहीं जाता। लेकिन वो प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए उसे लब्ध कहते हैं।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- एक विद्यार्थी है देखो! तो उसको एक कविता (poetry) की पुस्तक है वो पूरी याद है। कविता की पुस्तक पूरी याद है। अब उसको कहते हैं कि तुम्हें पूरी पुस्तक याद है? कि हाँ! पूरी याद है। तो कहते हैं (कि) सारी सुनाओ। तो सारी (तो) नहीं सुना सकता, एक-एक

पृष्ठ करके सुनाऊँगा, एक-एक कविता (poetry) करके सुनाऊँगा। क्यों ऐसा क्यों है जब सारी याद हैं (तो)? तो एक कविता (poem) जिस समय सुना रहा है तो उस समय उसको सारी याद हैं या नहीं? हैं या नहीं? हैं! सारी याद हैं लेकिन (उन बाकी में) प्रवृत्ति नहीं हो रही। प्रवृत्ति नहीं हो रही। वो सारी उसके भंडार (stock) में पड़ी हैं। इस तरह ज्ञान भंडार (stock) में पड़ा है और उसका जो परिणमन है वो एक-एक का अवलंबन लेकर होता है।

प्रमाण चाहिए क्या? नहीं! नहीं! इसमें बहुत भ्रम है कि वो दोनों साथ होते हैं - ऐसा भ्रम है। क्योंकि वो १७वीं गाथा का जो अर्थ होता है न १७-१८ (गाथा का) उसमें हम थोड़ा भूल जाते हैं, गलती कर बैठते हैं। तो उसमें ऐसा लगता है कि वो तो ज्ञायक का तो हर समय प्रतिभास हो रहा है। वो गलत है बात, सही नहीं है।

'हर समय प्रतिभास हो रहा है' - (यदि) हर समय प्रतिभास हो तो अंतर्मुहूर्त में तो केवलज्ञान होता है। तो कितना विरोध आता है आगम से। उसका (अगर) प्रतिभास हो तो वो तो अनुभूति हुई। और ज्ञान के दो टुकड़े (तो) होते नहीं है कि कुछ ज्ञान तो भीतर ही भीतर चलता रहता हो और कुछ ज्ञान जो है वो बाहर चलता हो। तो भीतर ही भीतर चलता नहीं है, वो लब्धरूप माने क्षयोपशमरूप रहता है। और प्रवृत्ति होती है वो पर्याय कहलाती है, उपयोग कहलाती है। ये बहुत अच्छी तरह समझने की बात है।

इसमें बहुत भूल है (कि) एक समय में स्व और पर दोनों जानने में आते हैं - ये भूल है, ये। ये भूल है, ये। उपयोग एक समय में या तो आत्मा पर रहता है या वो परपदार्थ पर रहता है। क्षयोपशम ज्ञान, क्षयोपशम। केवलज्ञान की बात नहीं है।

मुमुक्षु[48]:- प्रतिभास सामर्थ्यरूप नहीं है न बाबूजी? प्रतिभास को सामर्थ्यरूप नहीं लेना?

पूज्य बाबूजी:- सामर्थ्यरूप नहीं! नहीं! सामर्थ्यरूप नहीं! प्रतिभास जो है वो परिणमनरूप है। प्रतिभास तो तभी होगा कि जब ज्ञान का परिणमन होगा। तभी तो उसमें तस्वीर दिखाई देगी। अन्यथा कहाँ से होगा बिना परिणमन के? फिर तो अगर सामर्थ्यरूप लें तो सारे लोकालोक का (प्रतिभास) होगा।

देखो ये है। धवला का है, सर्वोत्कृष्ट। तो पहले तो प्रश्न किया कि **शंका:- अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है?** जैसे अपन लोग जो शंका करते हैं न, ठीक वैसी की वैसी शंका है। कि अगर आत्मा का वेदन नहीं है तो फिर वो आत्मा की उपलब्धि कहाँ रही उसको? आत्मा के वेदन से वो बाहर चला गया तो उसे आत्मा की उपलब्धि कहाँ रही? वो तो आत्मा को छोड़ गया। ऐसी शंका होती है तो उसका उत्तर देते हैं कि नहीं! उसे आत्मा उपलब्ध है। उपलब्ध होने पर भी उसमें परिणति नहीं है उपयोग की। उसमें उपयोग उसकी ओर नहीं है, परपदार्थों की ओर है लेकिन (फिर भी) आत्मा उसको उपलब्ध है। तो

48 प्रतिभास सामर्थ्यरूप नहीं है क्या? - 39.28 Mins

उपलब्ध क्यों है? क्योंकि पहले अज्ञानदशा में तो अपने क्षयोपशम में आत्मा उपलब्ध नहीं था। अपने ज्ञान का जो विकास था न (वो) केवल परपदार्थों को जानने जितना था। अब क्या है कि उसमें ये और जुड़ गया शुद्धात्मा। तो ये सबसे ऊँचे सिंहासन पर बैठ गया, सर्वोच्च सिंहासन पर। तो वो तो रहेगा, वो लब्ध (रूप) तो रहेगा न। जो जाना है वो तो नहीं चला जाएगा न। लेकिन उसको जानने की जो परणति है उपयोग की, वो हर समय नहीं रहती क्योंकि चारित्र में कमजोरी है (और) इसलिए वो फिसल जाता है।

वो है न जैसे एयर कन्डिशन (AC) का उदाहरण। कि उसे जाना पड़ेगा कि नहीं बाहर? नहीं तो वो (व्यक्ति) झगड़ा करेगा कि इतना घमण्ड है क्या तेरे को, एयरकन्डिशन्ड (वातानुकूलित) का?

मुमुक्षु:- मिलने भी नहीं आया बाहर?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! बाहर बात ही नहीं कर सका दो मिनट के लिए। तो इसी तरह आत्मा का (है कि) वो रहना आत्मा में ही चाहता है - ये तो पहली बात। पर आत्मा में रहना चाहने पर भी अभी कमजोरी इतनी है कि वो बाह्य पदार्थों में (उसका) उपयोग चला जाता है। उस समय बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है लेकिन परत्व लिए हुए होता है। अपनत्व लिए हुए नहीं होता।

यहाँ जो प्रश्न किया हुआ है वो अपन लोगों की जो शंका होती है कि स्व और पर एक साथ जानने में आते हैं, वो है यहाँ पर। **अपने आपके संवेदनसे रहित** माने अपने संवेदन से माने आत्मानुभूति से रहित, **आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है?** स्वसंवेदन हो तभी हम आत्मा की उपलब्धि मानेंगे और स्वसंवेदन नहीं हो तो आत्मा तो छूट गया वो। तो कहते हैं (कि) ऐसा नहीं है - उसका उत्तर देते हैं। (ये तो) धवला है माने सर्वोत्कृष्ट, जिसको कोई challenge (चुनौती) नहीं कर सकता।

समाधान:- नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अंतरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है। फिर से। उत्तर है कि **नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप** उपयोग जब बहिरंग बाह्य पदार्थों में हो तब उपयोगरूप अवस्था में **अंतरंग पदार्थ** माने शुद्धात्मा, उसका उपयोग नहीं पाया जाता है अर्थात् उसका वेदन स्वसंवेदन नहीं पाया जाता। धवला का है, note (लिखना) करना हो किसी को (तो) **धवला (पुस्तक १) १, १, १३३. (पृष्ठ) ३८६।**

मुमुक्षु:- प्रवृत्ति एक समय में एक में ही होगी।

पूज्य बाबूजी:- एक में ही, स्व या पर - ऐसा। दो विभाग करना - स्व या पर, ऐसा।

मुमुक्षु:- बहिर्मुख प्रवृत्ति के समय उसको हम 'ज्ञानी' नाम किस अपेक्षा से देंगे?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञानदशा हो चुकी है उसे; और क्योंकि अब स्व और पर का जो विभाग है वो हो चुका है। तो जिसके ज्ञान में स्व और पर का विभाग निश्चित होकर स्वानुभूति हो चुकी है

और उस स्वानुभूति में उसने जाना कि यही मैं हूँ, अन्य मैं नहीं हूँ - इस तरह स्व-पर का विभाग निश्चित हो गया न, तो ज्ञानी है वो। वो (विभाग) सदा रहता है, हमेशा रहता है।

हम बाजार में चलते हैं तो हर एक मकान को पहले यूँ कहते हैं (कि) ये दूसरे का है। कि मैं इसको दूसरे का ही जानता हूँ - ऐसी पागलपन की भाषा बोलते हैं क्या? बस देखते हैं, तो दूसरे का है पड़ा है वो तो भीतर। क्योंकि जो अपना बंगला है उसके प्रति अपनत्व पड़ा है तो दूसरे के लिए परत्व हो गया। उसमें कहने की या विचार (करने) की आवश्यकता नहीं होती। वो परत्व लिए हुए ही होता है। ज्ञान की सामर्थ्य ऐसी है न कि उसमें स्वत्व और परत्व आ गया है। इसलिए वो परत्व लिए हुए ही प्रवर्तित होता है। (उसमें) विचार की जरूरत नहीं आती।

मुमुक्षुः- लब्ध सामर्थ्य की अपेक्षा?

पूज्य बाबूजीः- लब्ध माने सामर्थ्य, लब्ध माने सामर्थ्य।

मुमुक्षु[49]:- ज्ञान जिस समय ज्ञेयाकार है उस समय ज्ञानाकार भी है न?

पूज्य बाबूजीः- वो ज्ञानाकार ही है वो। ज्ञानाकार है माने क्या? वो तो ज्ञेयाकार जिसे कहते हैं वो वास्तव में ज्ञेय का आकार नहीं पर वो ज्ञान का ही आकार है। ज्ञान का ही आकार माने वो ज्ञान ही है। उसमें ज्ञेय का (अंश) बिल्कुल भी नहीं, कुछ भी। थोड़ा भी कुछ नहीं है। थोड़ा भी कुछ भी हो अगर उसे उसमें ..... ज्ञेय का आकार जिसे कहते हैं.... उसमें थोड़ी भी विशेषता (यदि) उसे लगे, थोड़ी भी विशेषता लगे तो वो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

मुमुक्षुः- तो फिर स्व-पर आकार नहीं रहवे? ज्ञान स्व का आकार - ऐसा ही रहा न?

पूज्य बाबूजीः- अनुभूति के समय एक स्व का आकार और वो जो आनंद आया....

मुमुक्षुः- जो सामान्य लक्षण उपयोग ज्ञान है, वो कैसे आया?

पूज्य बाबूजीः- बस! ये ज्ञान जो चलता है प्रतिसमय जाननभाव, प्रतिभासरूप है वो भी।

मुमुक्षुः- विशेषरूप ज्ञान?

पूज्य बाबूजीः- वो भी प्रतिभासरूप है। विशेष ही तो है (क्यों) कि सामान्य तो गुण होता है। सामान्यज्ञान माने ज्ञान गुण, ज्ञान शक्ति। और दूसरा पर्याय का सामान्य और विशेष। एक तो पर्याय में हमेशा विशेष ही होता है। ये बात याद रखनी (है) कि उसमें किसी न किसी का प्रतिभास अवश्य होगा, स्व का अथवा पर का। अब वो जो प्रतिभास है वो जिस पदार्थ जैसा प्रतिभास है, वो पदार्थ वहाँ नहीं (है) लेकिन वहाँ ज्ञान ही है। इसलिए वो कुल मिलाकर वो सारे प्रतिभास एक ज्ञान (ही) है (अर्थात्) सामान्य। ये पर्याय का सामान्य है।

मुमुक्षुः- स्व-पर दोनों आ गये। प्रतिभास दोनों का होता है (तो) ऐसा समझना कि ज्ञान में स्वपरप्रकाशक शक्ति है तो स्व और पर..... स्वच्छत्व होने से स्व और पर दोनों का प्रतिभास?

49 ज्ञान जिस समय ज्ञेयाकार है उस समय ज्ञानाकार भी है न? - 45.41 Mins

पूज्य बाबूजी:- वो अलग बात है। उसमें क्या है कि वो पर का तो प्रतिभास.... पर का प्रतिभास होता है - ऐसा कहा जाता है। पर का प्रतिभास नहीं है वो, वो तो ज्ञानाकार ही है। इसलिए एक मात्र ज्ञान ही जानने में आता है।

लेकिन व्यवहार जो दशा है, उस व्यवहार दशा में व्यवहार के बिना नहीं समझा जा सकता। ये जो आकार हैं ज्ञान में, तो ये क्यों बनते जा रहे हैं? क्योंकि ज्ञान को तो एक मात्र सपाट होना चाहिए - ज्ञानमात्र। जैसे हमारा दर्पण है। तो हम चाहें कि दर्पण में कोई न आवे, तो ऐसा होगा क्या? उसमें तो कोई न कोई पदार्थ प्रति समय दिखाई देगा ही देगा। तो इस तरह ज्ञान में कोई न कोई ज्ञेय, स्व अथवा पर - वो भास्यमान होता ही है और उसका आकार द्रव्य-गुण-पर्याय सहित होता ही है। तो उसको कहते हैं प्रतिभास और वो प्रतिभास ज्ञान ही है (अर्थात्) ज्ञानाकार ही है, और ज्ञानाकार वो ज्ञान ही है; और जो ज्ञान है वो ज्ञायक ही है, आत्मा ही है। इस तरह अनुभूति होती है।

मुमुक्षु[50]:- वो ऐसे कह रहे हैं कि प्रतिभास दो का होता है और जानना एक का होता है? लक्ष!

पूज्य बाबूजी:- गलत है वो, कि वो गलत है। दो का प्रतिभास होता है वो गलत है। प्रतिभास (है) ज्ञान की पर्याय, ज्ञान की पर्याय है प्रतिभास स्वयं। इसलिए प्रतिभास दो का हो और ज्ञान एक का हो, ऐसा अगर माना जाए तो प्रतिभास एक अलग किसी दूसरे गुण की पर्याय हुई; लेकिन प्रतिभास (तो) ज्ञान की पर्याय है।

मुमुक्षु:- वो लक्ष की बात है। प्रतिभास दो का और लक्ष एक का - ऐसा कुछ?

पूज्य बाबूजी:- नहीं! नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है। प्रतिभास ज्ञान है, सबसे पहले यह निश्चय करिये। प्रतिभास ज्ञान है और दर्शन है। तो दर्शन की तो अपन चर्चा कर नहीं रहे हैं। वो तो निर्विकल्प होता है। लेकिन ये साकार ज्ञान की बात अपन कर रहे हैं, प्रतिभासरूप जिसमें ज्ञेयाकार जैसे ज्ञानाकार होते हैं। वो ज्ञान है प्रतिभास - ये पहले निश्चय कीजिये। प्रतिभास ज्ञान से कोई दूसरी चीज नहीं है - ऐसा।

अर्थ-विकल्प को प्रतिभास कहते हैं। बताऊँ? (प्रवचनसार) १२४ गाथा है। देखिये ये है। **अर्थविकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थोंका भिन्नतापूर्वकयुगपत् अवभासन) [ज्ञानं] वह ज्ञान है; [जीवेन] जीवके द्वारा [यत् समारब्धं] जो किया जा रहा हो [कर्म] वह कर्म है, [तद् अनेकविधं] वह अनेक प्रकारका है; [सौख्यं वा दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [फलं इति भणितम्] वह कर्मफल कहा गया है ॥१२४॥**

अब उसकी **टीका:- प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। वहाँ, अर्थ क्या है? स्व-परकेविभागपूर्वक अवस्थित विश्व वह अर्थ है।** स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित जो विश्व है,

50 प्रतिभास दो का होता है और जानना एक का होता है? - 48.47 Mins

स्व और पर का विभाग जिसमें स्वतः है अर्थात् जो पर है, वो पर है। वो पर है माने अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य अनंत आत्मायें और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश और काल ये सब पर और अपना जो निजात्मा है वो स्व। इस प्रकार ये विश्व अवस्थित है, इसतरह (से)। ये विषय है सम्यग्दर्शन का क्योंकि स्व-पर का ही विभाग किया है इसमें। छह पदार्थरूप नहीं किया, छह द्रव्यरूप नहीं किया। **उसके आकारोंका अवभासन वह विकल्प है।**

मुमुक्षुः- बाबूजी स्पष्ट कीजिए आकारों का अवभासन...

पूज्य बाबूजीः- सुनिए पहले खूब अच्छी तरह से, ध्यान से। **प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है।** अर्थ का विकल्प वो ज्ञान है। अर्थ का माने पदार्थ का जानना, वो ज्ञान है।

अर्थ क्या है? स्व-परकेविभागपूर्वक अवस्थित विश्व वह अर्थ है। उसके आकारोंका अवभासन वह विकल्प है। तो ये पहले ज्ञान कह दिया न - ये ध्यान में रखने की बात (है)। **प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है।** अब अर्थ-विकल्प का अर्थ करते हैं कि **अर्थ** माने तो पदार्थ और **विकल्प** माने उनका प्रतिभास। तो दूसरा प्रतिभास कहाँ से लायेंगे हम ज्ञान के अतिरिक्त? उसके अतिरिक्त दूसरा प्रतिभास नहीं होता है। और जो स्वच्छत्व-प्रकाशकत्व जो शक्ति है, वो भी ज्ञान के ही विकल्प हैं सारे, ज्ञान के भेद माने।

और दर्पणके निज विस्तारकी भाँति (अर्थात् जैसे दर्पणके निज विस्तारमें स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है। ये केवलज्ञान की अपेक्षा लिया है। ये केवलज्ञान की अपेक्षा लिया है क्योंकि केवल यही कह देते कि एक में प्रतिभास हो तो वहाँ केवलज्ञान की परिहार हो जाता है। केवलज्ञान में तो सब स्व और पर एक ही साथ प्रतिभासित होते हैं।

विश्व है न, विश्व। विश्व तो केवलज्ञान का विषय होगा न, सारा ही। ये समस्त पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय - ये विश्व। लब्धि का भी जो अपन सोचते हैं न प्रायः सुनने में भी आता है कि लब्ध पर्याय अलग चलती है। जो लब्धि और उपयोग है - वो सब पर्याय के ही धर्म हैं दोनों। लेकिन अगर पर्यायरूप हो तो फिर वो लब्ध में और उपयोग में फरक ही नहीं रहता है। क्योंकि उपयोग तो परिणमनरूप चलता है और जो लब्ध है वो भंडार (stock) में पड़ा रहता है। वो भंडार (stock) में पड़ा रहता है। तो फिर भेद कहाँ रहा अगर लब्ध की भी पर्याय चलती हो?

मुमुक्षुः- तो फिर उसमें और लब्धि में फेर कहाँ रहा?

पूज्य बाबूजीः- लेकिन उपयोग में जैसे लब्ध अर्थात् क्षयोपशम (है), तो वो तो बहुत है। और जानना बहुत कम पदार्थ का माने एक-एक के सहारे जानना होता है। लेकिन वो (जो) पूरे ज्ञान की प्रवृत्ति है वो उपयोग (है)। ऐसा नहीं है कि वो केवल स्पर्शन इन्द्रिय का ही एक अंशरूप ज्ञान प्रगट हो रहा है और बाकी लब्ध है - ऐसा नहीं है। वो पूरे ज्ञान की प्रवृत्ति है, पूरे ज्ञान की

प्रवृत्ति है। जितना विकास है न तो वो पूरा ज्ञान केवल उस समय एक को, स्व को या पर को जाननेरूप प्रवर्त हो रहा है - ऐसा। इसका कोई अलग अंश पड़ा हो ज्ञान का और उसमें से थोड़ा सा अंश जाननेरूप अर्थात् पर्यायरूप परणमित हो रहा हो - ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु:- पूरा ज्ञान! माने एक इन्द्रिय का व्यापार जब चलता हो तो पूरा ज्ञान का...

पूज्य बाबूजी:- पूरा ज्ञान, पूरा ज्ञान।

जैसे वो जो विद्यार्थी (student) है, तो वो कविता (poem) सुनाता है। तो वो बाकी ज्ञान उसने धर रखा है क्या भंडार (stock) में? बाकी पुस्तक की बाकी जो कविताएँ (poems) हैं, उसका ज्ञान उसने भंडार (stock) में रख रखा है और थोड़े ज्ञान से वो प्रवृत्ति कर रहा है - ऐसा नहीं। पूरे ज्ञान से वो एक कविता (poem) सुना रहा है। तो दूसरी कविता (poem) भी पूरे ज्ञान से सुनायेगा। फिर तीसरी भी पूरे ज्ञान से सुनायेगा - इस तरह।

मुमुक्षु:- बाबूजी! जो सामान्य ज्ञानस्वभाव जो आता है तो उसमें स्व-पर का प्रतिभास (यदि) नहीं, तो स्व की संवेदन शक्ति कैसे रहेगी फिर, एक समय जो?

पूज्य बाबूजी:- यही तो अभी प्रश्न था और उसी का उत्तर था कि संवेदन हर समय नहीं रहता। संवेदन तो जिस समय स्व की ओर उपयोग हो उस समय संवेदन होता है, स्वसंवेदन। और जिस समय पर की ओर उपयोग हो तो उस समय स्व का वेदन नहीं होता है। तो उस समय वो आनंद नहीं होता है। उस समय दु:खरूप भी दशा होती है - लौकिक दु:खरूप और लौकिक सुखरूप; और एक अतीन्द्रिय सुखरूप भी चलती है, चला करती है उधर। तो उतना दु:ख कम हो गया। कहना चाहिए कि दु:ख की तो जड़ ही उखड़ गई।

मुमुक्षु[51]:- बराबर! गुरुदेव कहते हैं राग और ज्ञान भिन्न है। तो राग में मन की अवस्था लेना या ज्ञान दोनों एक साथ में चल रहे हैं? राग किसमें होता है फिर? जिस समय ज्ञान हो रहा है उस समय राग भी हो रहा है, तो राग मन में होता है कि किसमें (होता है)?

पूज्य बाबूजी:- राग मन में नहीं होता। राग तो सारे जगत के जीवों को होता है - राग और द्वेष। वो तो एक इन्द्रिय जीव को भी होता है, उसके मन कहाँ है? मन (भावमन) तो ज्ञान की पर्याय है। और राग जो है वो चारित्र का विकल्प है, चारित्र का विकारी भाव है।

मुमुक्षु:- चारित्र का?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! राग। इसमें बहुत फरक है। दोनों के स्वरूप में बहुत अंतर है। ये जो राग है वो परस्पर भिन्न पदार्थों को जोड़ता हुआ प्रगट होता है (और जो) ज्ञान है वो परस्पर अभिन्न किये हुए (अर्थात्) अज्ञान में अभिन्न किये हुए पदार्थों को तोड़ता हुआ प्रवर्तित होता है - सम्यग्ज्ञान।

मुमुक्षु:- आहाहा! राग दोनों को जोड़ता हुआ और ज्ञान दोनों को तोड़ता हुआ प्रगट होता है।

51 राग किसमें होता है? - 56.59 Mins

पूज्य बाबूजी:- हाँ! ये मेरा है, अच्छा है, बुरा है - ये विकल्प हैं न। ये विकल्प राग-द्वेष हैं या नहीं? बुरा है - ये विकल्प द्वेष, अच्छा है - ये विकल्प, ये तो राग है। ये अच्छा और बुरा है - उसने जोड़ा न पर को अपने साथ? भले ही वो चला गया हो, मिथ्यादर्शन चला गया हो तो भी राग का काम (तो) यही है; कि राग की कोई भाषा बदलेगी नहीं। राग की तो भाषा ही यही है। मूर्ख है वो (राग)। उसमें ज्ञान नहीं है, राग में। इसलिए वो तो मूर्खता की बातें करता है, चाहे ज्ञानी का हो तो भी। पर अपन हैं तो कहते हैं कि ज्ञानी को राग होता ही नहीं क्योंकि वो तो उसने पर मान लिया। लेकिन कदाचित् राग को वो स्वीकार किए बैठा है तो वो जो राग है उसमें ज्ञान नहीं है। तो वो तो मूर्ख है। तो वो जो भी उसकी पर्याय होगी वो सारी ऐसी ही होगी, पर के साथ संबंधरूप। लेकिन भीतर से संबंध से इनकार है ज्ञानी (को); और जो अज्ञानी है वो तो एकाकार है, पर के साथ।

मुमुक्षु:- भीतर से जो इनकार है वो ज्ञान में है। भीतर से इनकार हो रहा है वो ज्ञान में है। और जो राग हो रहा (है) वो मन में नहीं लेकिन वो चारित्र गुण का परिणमन है?

पूज्य बाबूजी:- राग तो चारित्र गुण की विकारी पर्याय है।

मुमुक्षु:- वो मन में नहीं है?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! जिस समय अज्ञानदशा है तो राग चारित्र गुण की मिथ्या पर्याय है, मिथ्याचारित्र है। और वो चले जाने पर, मिथ्यात्व चले जाने पर वो (राग) चारित्र गुण की कमजोरी के कारण विकारी पर्याय है - विकार है, कमजोरी है। राग जो है वो (भाव) मन में जाना जाता है, (भाव) मन में आता नहीं (है)। (भाव) मन माने ज्ञान - वो ज्ञान तो सदा ही राग रहित है। राग रहित है न ज्ञान तो। जब तक (ज्ञान) मिथ्या है तब तक तो राग के साथ जुड़ा हुआ है, राग के साथ एकाकार है; लेकिन फिर भी, वो एकाकार होने पर भी एकाकार (दिखता है, एकाकार) हो नहीं जाता। ज्ञान ज्ञान रहता है और राग राग रहता है और राग का प्रतिभास ज्ञान में होता है। राग का प्रतिभास माने ज्ञान, राग नहीं।

मुमुक्षु:- राग माने राग और राग का प्रतिभास माने ज्ञान? राग का जानना? राग अपने को भी नहीं जानता (और) पर को भी नहीं जानता। उसमें ज्ञान ही नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! नहीं है। सारे ही जो पाप और पुण्य के परिणाम हैं उनमें ज्ञान नहीं है। उनमें तो ज्ञान नहीं है लेकिन ज्ञान के अतिरिक्त जितने गुण हैं उनमें (भी) ज्ञान नहीं है। श्रद्धा में ज्ञान नहीं है, चारित्र में ज्ञान नहीं है, सुख में ज्ञान नहीं है और जितने (भी) अनंत गुण हैं, उनमें किसी में ज्ञान नहीं है। (और) क्यों हो? विभाग इतना सुंदर है न।

ये जो Office है, ये जो कार्यालय है, इस कार्यालय में हर एक अपना-अपना काम इतनी चतुराई से करता है कि वो अपने कार्य को कभी छोड़ता ही नहीं (और) कार्य सारा पूरा होता है। इस तरह का विभाग है - स्वयं सिद्ध।

मुमुक्षु[52]:- बाबूजी! मन का मर जाना किसे कहते हैं?

पूज्य बाबूजी:- मन का मर जाना माने (मन के) जो विकल्प होते थे, उनका टूट जाना। मन में जो विकल्प (अर्थात्) ज्ञान के विकल्प होते हैं और उधर जो राग के विकल्प होते हैं.... तो मन के विकल्पों का तो टूट जाना और राग के जो विकल्प हैं, उनका जानने में नहीं आना और केवल शुद्धात्मा में लग जाना। उस समय राग के विकल्प हैं लेकिन जानने में नहीं आते। क्योंकि राग कहाँ चला जायेगा? पूरा रीता (खाली) तो नहीं हुआ अभी। इसलिए राग की परणति होती है उस समय और राग की ओर उपयोग है ही नहीं। तो वो जो राग है वो जानने में नहीं आता और परपदार्थ जानने में नहीं आते; केवल शुद्धात्मा ही जानने में आता है।

मुमुक्षु:- इसलिए वो ..... कहते हैं उसको .....

पूज्य बाबूजी:- ..... कह दो। कुछ भी कह दो उसमें क्या है? वो मन जो चंचलता वाला है, विचार दशा में है, वो मन वहाँ पर (अनुभूति के समय में) नहीं है। इसलिए मन मर गया है - ऐसा कहते हैं। मन को कहते हैं न कि मन की गति है वो सीमातीत है। वो अभी अलोकाकाश में पहुँच जाए।

मुमुक्षु:- अभी आलोकाकाश में पहुँच जाये। बराबर!

पूज्य बाबूजी:- (तो) पहुँच नहीं जाता है लेकिन है अलोकाकाश में। अलोकाकाश है - ऐसा ज्ञान में आता है कि नहीं जिनवाणी के आधार पर?

मुमुक्षु:- मन में विकल्पों का नहीं होना और राग होने पर भी..

पूज्य बाबूजी:- मन में ज्ञान के विकल्प नहीं होना और राग (लब्धरूप) साथ रहता है लेकिन उसका जानने में नहीं आना - दोनों बातें हो तो स्वानुभूति हुई।

मुमुक्षु:- तो स्वानुभूति हुई।

पूज्य बाबूजी:- शुद्धात्मा की ओर ही एकाग्र होना और (यदि) वो अंतर्मुहूर्त हो जाए तो उसका नाम ध्यान; परिणति अंतर्मुहूर्त हो। अंतर्मुहूर्त होती ही है, एक समय की थोड़ी (ना) होती है अनुभूति। वो तो अंतर्मुहूर्त की होती है, मध्यम अंतर्मुहूर्त की - उसका नाम ध्यान। **एकाग्र चिंता निरोधो** (ध्यानम् - मोक्षशास्त्र अधिकार ९, सूत्र २७) जिसको कहते हैं। एकाग्र चिंता - चिंता का अर्थ चिन्तवन नहीं! चिंता का अर्थ - ज्ञान का एकाग्र होना एक वस्तु में। तो एक वस्तु में यहाँ तो सम्यक् ध्यान की बात है। तो सम्यक् ध्यान में शुद्धात्मा में एकाग्र होना (होता है)। और जो दुर्ध्यान हैं - आर्त और रौद्र, उनमें पर में एकाग्र होना (होता है)।

मुमुक्षु:- बहिर्मुख ज्ञान मतलब इन्द्रियज्ञान, बराबर? तो उसको भ्रांति बोला जाता है?

पूज्य बाबूजी:- नहीं! भ्रांति नहीं बोला जाता। भ्रांति टूट जाये तो भी होता है वो तो (क्योंकि) ज्ञानी को भी होता है। पहले तो, प्रथम बात तो ये है कि ये इन्द्रियज्ञान होता ही नहीं है। क्योंकि

52 मन का मर जाना किसे कहते हैं? - 1.01 Hour

ज्ञान की इन्द्रिय कहाँ है? इसलिए हर ज्ञान, निगोद से लगाकर केवलज्ञान तक (जो भी है) वो इंद्रियातीत है ज्ञान। लेकिन उस इंद्रियातीत ज्ञान के दो भेद - एक इन्द्रियज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान। एक तो जो पर में प्रवर्त (रहा) है वो इन्द्रियज्ञान। (जो) शुद्धात्मा में प्रवर्त (रहा) है वो अतीन्द्रियज्ञान।

मुमुक्षुः- इंद्रियातीत ज्ञान के दो भेद हैं?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! अतीन्द्रियज्ञान के दो भेद।

मुमुक्षुः- हाँ! अतीन्द्रियज्ञान के दो भेद। बराबर!

पूज्य बाबूजीः- हाँ! एक इन्द्रियज्ञान (और) एक अतीन्द्रियज्ञान। तो इन्द्रियज्ञान तो कहा जाता है - उसका नाम व्यवहार है। जैसे सितार वाला आदमी, ऐसा।

कुछ प्रश्न अच्छे-अच्छे लाया करो तो उतनी चर्चा अच्छी होगी।

मुमुक्षुः- बहुत होती है बाबूजी! इसमें मूलभूत स्वरूप का पूरा सत्व आ जाता है, बाबूजी!

पूज्य बाबूजीः- पूरी आ जाती है। जिनवाणी जो है वो logic (तर्क) के बिना चलती नहीं है। अपने स्व-पर के संबंध में बिना logic (तर्क) के नहीं चलती है ये चीज। जितने भी हैं स्वतत्त्व और परतत्त्व, उसमें बिना logic (तर्क) के जिनवाणी नहीं चलती है। जहाँ उनके जानने में वो प्रवर्त होता है तो उसमें हर बात में logic (तर्क) होता है। बिना logic (तर्क) के आत्मानुभूति होती ही नहीं है। सुयुक्ति कहा न इसलिए? मैं अपने स्वरूप को दर्शाऊँगा (समयसार गाथा ५)। तो आचार्य ने उसमें युक्ति का अवलंबन लिया या नहीं, स्वरूप को दर्शाने में?

मुमुक्षुः- बाबूजी! ये पहली बार हमने सुना कि अतीन्द्रियज्ञान के दो भेद हैं। ये पहली बार आज हमने सुना।

पूज्य बाबूजीः- वैसे अतीन्द्रिय संज्ञा शुद्धात्मानुभूति की ही है। लेकिन फिर भी इन्द्रिय जो है वो कोई ज्ञान नहीं है। वो तो जड़ है। इसलिए ज्ञान तो एकेन्द्रिय को भी, निगोदिया को भी होता है तो निरपेक्ष होता है। इंद्रिय से निरपेक्ष।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ७, तारीख ३१-०१-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षुः- [53]गुरुदेव के प्रवचन ३२० गाथा, उसमें ऐसे लफ़्ज़ आए हैं कि ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया..... तो ध्रुव का प्रतिभास ध्रुव में कैसे होता है? कृपया स्पष्टीकरण कीजिए। ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया.... ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! यह उसी अपेक्षा (से) है वो जो पर्याय है अनुभूति की पर्याय, वो अनुभूति की पर्याय अपने को अनुभूति नहीं जानती हुई (अपने को) ध्रुव ज्ञायक जानती है। उपयोग की पर्याय जो शुद्धात्मा की ओर ढली तो ये निर्णय (तो) पहले से ही था कि मैं ध्रुव हूँ, ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र तत्त्व हूँ - ऐसा उस पर्याय को था न निर्णय। विकल्पदशा में भी यही थी बात कि ध्रुव का ही आविर्भाव था और अन्य सब वो जो विचारश्रेणी, चिंतन-श्रृंखला जो थी उसका तिरोभाव था।

तो वो जो पर्याय है वो स्वयं अपने आप को अनुभूति नहीं मानती, संवेदन नहीं मानती पर ध्रुव मानती है। इस प्रकार पर्याय जो है वो ध्रुव हो गई। ध्रुव के लक्ष से पर्याय ध्रुवत्व का अनुभव करती हुई ध्रुव हो गई है तो ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया। है पर्याय में प्रतिभास। पर्याय कोई ध्रुव नहीं बनती लेकिन पर्याय ने अपना गोत्र बदल लिया। गोत्र जानते हो? सरनेम (Surname), वो बदल लिया। पहले उसका नाम पर्याय था, अब उसका नाम द्रव्य हो गया। क्योंकि पर्याय है ही नहीं वहाँ (वो तो) बाहर निकल गई और सारा ध्रुव (उसने) अपने में पसार लिया।

मुमुक्षुः- पर्यायपना छोड़ दिया अपना? अपना पर्यायत्व (छोड़ दिया)।

पूज्य बाबूजीः- पर्यायत्व (से) विसर गई।

मुमुक्षुः- विसर गई। तो दूसरा प्रश्न है कि ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास कैसे होता है?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! एसे हुआ न! ऐसे हो गया न (कि) वो जो उपयोग है अपना, उसने पहले जो सद्गुरु से शुद्धात्मा का, चैतन्य का, ध्रुव का, ज्ञायक का प्रतिपादन सुना और उसने स्वीकार किया हृदय से, बड़े प्रमुदितभाव से स्वीकार किया कि यही सर्वोच्च है और ये तू ही है। तो उसकी चिंतनधारा महिमापूर्वक चल पड़ी और अंत में उस चिंतन को विराम देकर अनूभूति प्रगट हुई। वो जो अनुभूति है कि वह भी स्वयं अपने आपको अनुभूति नहीं जानती।

शुरू में जो ज्ञान विचारात्मक था, वो विचारात्मक ज्ञान भी अपने आपको विचार नहीं जानता था लेकिन ध्रुव के लक्ष से ध्रुव का ही वेदन हो रहा था (कि) 'मैं ज्ञायक हूँ, मैं चिन्मात्र हूँ'।

[53] ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास कैसे होता है? - 0.15 Mins

ऐसा (कि) 'मैं विचार कर रहा हूँ' - ऐसा थोड़े ही होता था। 'मैं ध्रुव का विचार कर रहा हूँ' - ऐसा नहीं होता था। इसलिये उसको सविकल्प संवेदन कहा। क्योंकि वो जो निर्विकल्प स्वसंवेदन होता है, वो होता (तो) ठीक उसी ढंग का है लेकिन यहाँ विकल्पात्मक है (और) वहाँ निर्विकल्प होता है। लेकिन होता इसीरूप में है (कि) मैं ध्रुव हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं परमानन्द स्वरूप हूँ इत्यादि; इत्यादि जो आत्मा के विशेष हैं उनको लेकर वो उस ज्ञायक का ही विचार करता है। मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ - ऐसा विचार करता है। तो विचार को जब विराम मिला तो उसकी दिशा कोई दूसरी थोड़े ही हो जाएगी। अनुभूति में भी वो का वो ही हुआ। तो जैसे विचार अपने आपको ध्रुव जानता था, उसी तरह अनुभूति अपने आपको ध्रुव जानती है - तो ये तो पर्याय का ध्रुवत्व हो गया। अब इस ध्रुव में ही उस ध्रुव का, ज्ञायक का जो (कि) वास्तव में ध्रुव है, उसका प्रतिभास हो गया और अनुभूति हो गई।

मुमुक्षुः- माने पर्याय शुरू (से) विचार से ही ध्रुवत्व को स्वीकृत करती हुई चली?

पूज्य बाबूजीः- ध्रुवत्व को स्वीकार करती हुई ही चल रही है वो, उसकी चिंतनधारा। तभी तो सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं उसको, क्योंकि वह उस जैसा ही है न।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- उसका जो विषय है वो वैसा ही है। और उसकी जो चिंतनधारा है, उसका जो स्वर है वो भी अनुभूति जैसा ही स्वर है। लेकिन चूँकि यहाँ चिंतन है, तरलता है, चंचलता है इसलिए इसे वास्तविक संवेदन नहीं कहते। पर विकल्पदशा का संवेदन वो निर्विकल्पदशा के संवेदन से मिलता-जुलता सा होता है। मिलता-जुलता सा!

मुमुक्षुः- मिलता-जुलता सा! मिलता-जुलता नहीं होता?

पूज्य बाबूजीः- मिलता-जुलता नहीं होता है। वो वास्तविक है (और) ये अवास्तविक।

मुमुक्षुः- तो विचारधारा में स्वसंवेदन होने पर भी ध्रुव का ध्रुव में प्रतिभास नहीं होता था?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! नहीं होता था। विषय था वो, वो विषय था। अभी अनुभूति ने भी उसी को विषय बनाया लेकिन इस रूप में बनाया (कि) अपना (सर्वस्व) समर्पण करके, अपने को अदृश्य करके, अपने को अत्यंत तिरोभूत करके और ध्रुव को आविर्भूत करके अपनी गोदी में पसार लिया, पूरी तरह से। वहाँ अनुभूति रही ही नहीं उस समय। अनुभूति की पर्याय में अनुभूति के लिए स्थान नहीं रहा, उसमें ज्ञायक फैल गया। उसका कोना-कोना ज्ञायक से भर गया, अनुभूति की पर्याय (का)। ये अभेदता है - अनन्यत्व।

मुमुक्षुः- वाह! ये अभेदता है, ये अनन्यत्व है। माने अनुभूति की पर्याय में अनुभूति के लिए स्थान ही नहीं रहा तब अनन्यत्व बन गया।

पूज्य बाबूजीः- नहीं रहा, तब अनन्यत्व हो गया। ये पराकाष्ठा, अनन्यत्व की पराकाष्ठा (कि) जहाँ दो में से एक रह जाये - ऐसा अर्थ।

मुमुक्षुः- तभी आनंद का जन्म होता है?

पूज्य बाबूजीः- तब आनंद का जन्म होता है। क्योंकि ये घनत्व हो गया है न एकदम! अब इससे आगे कोई चरण (step) नहीं। ये पराकाष्ठा!

मुमुक्षुः- तो बाबूजी! सविकल्प स्वसंवेदन और निर्विकल्प (स्वसंवेदन) दोनों में फर्क इतना है कि वहाँ आनंद का वेदन नहीं है और यहाँ आनंद का वेदन है। वो ही फर्क न?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वो ही फर्क (है)। वो चंचल है, स्थिर नहीं है। ध्रुव में उसकी स्थिरता नहीं है एकदम। वो तो होता है न जैसे अपन विचार करते हैं किसी कार्य के लिए। तो विचार तो चलता हुआ है। उसका मार्ग जो है वो चक्रीय होता है, चक्रीय। चक्र जैसे चलता है, उस तरह का विचार का मार्ग चक्रीय होता है। तो उसमें गति (Speed) तो बहुत होती है लेकिन गन्तव्य (Destination) नहीं होता।

मुमुक्षुः- आहाहा! अद्‌भूत! अद्‌भूत!

पूज्य बाबूजीः- विचार से नहीं मिलता है वो (शुद्धात्मा); विचार का विराम होता है और अनुभूति का जन्म होता है। जब महिमा की पराकाष्ठा हो जाती है और वो जो ज्ञान के विकल्प हैं वो अत्यंत शिथिल हो जाते हैं, अत्यंत शिथिल। तो अत्यंत शिथिल होकर फिर वो समाप्त हो जाते हैं, तब अनुभूति का जन्म होता है। तो अनुभूति भी, जैसा विचार (कि) मैं ध्रुव हूँ - इस तरह किया जा रहा था न! तो अनुभूति भी 'मैं ध्रुव हूँ' - इस तरह का (ही) विचार करती है। इस तरह का वेदन करती है। विचार नहीं करती, वेदन करती है। गलत हो गया वो (कि) विचार करती है। वेदन करती है; तो वेदन इसरूप में होता है - 'मैं चिन्मात्र ज्ञायक तत्त्व हूँ, चैतन्य हूँ'। इसलिए दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) लगाए हैं उसमें।

मुमुक्षुः- हाँ! दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) लगाए हैं। ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास ....

पूज्य बाबूजीः- नहीं! पुस्तक में दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) हैं। इसमें नहीं हैं। **ध्रुव मैं ध्रुव का प्रतिभास हो गया यह आश्चर्य की बात है** - ऐसा। माने पर्याय कोई ध्रुव नहीं हो गई न लेकिन पर्याय अपने आपको ध्रुव अनुभव न करे, तब तक अभेदता और अनन्यता नहीं होती। तब तक अनुभूति नहीं होती है।

मुमुक्षुः- आश्चर्य चिन्ह (!) दो लिखे हैं।

पूज्य बाबूजीः- दो का एक हो जाता है, ऐसी अभेदता हो जाती है।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- होते दो हैं (लेकिन) दिखाई एक देता है।

मुमुक्षुः- भेद दिखता ही नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- भेद नहीं दिखता द्रव्य और पर्याय का। वो भेद अस्त हो गया है।

मुमुक्षुः-[54] बाबूजी! जैसे चार द्रव्य हैं - धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, उनका स्वाभाविक परिणमन है। पुद्गल का भी, वैसे पुद्गल (को) परमाणु की अपेक्षा से देखें तो स्वाभाविक परिणमन है। स्कन्ध की अपेक्षा से देखें तो वो विशेष है। इसी तरह जीव द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन की स्थिति कौनसी है?

पूज्य बाबूजीः- ये ही है, जो अभी अपन ने अभी बातचीत की। जो उसका स्वभाव है, बस उस स्वभाव का परिणमन; जैसा स्वाभाव है, शक्तियाँ हैं, गुण हैं। तो जैसे गुण हैं शुद्ध (और) निर्मल, ठीक वैसा का वैसा उसका परिणमन। जैसे सुख गुण है, तो सुख गुण में ये अनुभव करे (कि) मैं सुखी हूँ, मैं सुखमात्र हूँ, मैं आनंदमात्र हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ - ऐसा अनुभव करे तो वो परिणमन हो गया। तो वो परिणमन उसके अनुरूप हुआ न। जैसा सुख (गुण) है शुद्ध, वैसा शुद्ध परिणमन पर्याय में हुआ - इसे स्वाभाविक कहते हैं। इसके विपरीत जो होगा वो विकारी होगा।

मुमुक्षुः- अच्छा! मतलब क्या स्वाभाविक परिणमन हर समय की स्थिति नहीं है?

पूज्य बाबूजीः- स्वभाव का अनुशीलन करनेवाला परिणमन। स्वभाव को ध्येय बनाकर उसका अनुशीलन करनेवाला परिणमन। स्वभाव जैसे शुद्ध है, तो वैसे ही अपने स्वर में शुद्ध ही बोलनेवाला (परिणाम कि) मैं शुद्ध हूँ - ऐसा बोलनेवाला (परिणाम), वो स्वाभाविक परिणमन (है)। श्रद्धा भी शुद्ध बोलती है, ज्ञान भी शुद्ध बोलता है और चारित्र का भी अपने ढंग से शुद्ध ही बोलना है। माने सिद्धों की हर पर्याय अपने आप को शुद्ध बोलती है। वो सारी जो अनंत पर्यायें हैं, वो केवल एक ही द्रव्य में जाकर समुद्र की नदियों की तरह उसमें समाहित हो जाती हैं। अनंत गुणों की अनंत पर्यायें, सिर्फ़ ज्ञान (की) नहीं पर अनंत पर्यायें ही उस द्रव्य में जाकर, मिलकर (के) द्रव्य के साथ अनुभूति की तरह, द्रव्य पर समर्पित होकर (उसमें) एकाकार होकर (के) और (फिर) एक अनुभूति होती है (कि) चिन्मात्र हूँ। क्योंकि सारे गुण चिन्मात्र हैं, चैतन्य सब में पसरा है। इसलिए एक अनुभूति, सिर्फ (एक)। अलग-अलग अनुभूति तो होती नहीं (है)। पर्यायें भी, गुण तो रहते ही हैं लेकिन पर्यायें भी सारी की सारी उस ज्ञानसागर में जाकर एक हो जाती हैं। अब उसको नदियाँ कौन कहेगा? समुद्र में जो मिली तो नदी कौन कहेगा उसे? (वो तो) सागर हो गया।

मुमुक्षुः- पहचान खो गई (Identity is Lost)।

पूज्य बाबूजीः- और उसमें है नदियों का अलग-अलग जल। नदियों का अलग-अलग जल है उसमें। ऐसा होने पर भी वो सागर हो गया। माने सागर की हर बिंदु अपने में सिंधु का अनुभव करे, तब तो वो सुखी रहेगी। सुखी रहेगी माने? तब तो वो बूँद बनी रहेगी सागर में। और अगर वो अपने आपको बूँद अनुभव करे तो वो भाप बनकर उड़ जाएगी, खतम हो जाएगी। इसलिए हर बिंदु सिंधु का अनुभव करे।

[54] जीव द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन की स्थिति कौनसी है? - 10.03 Mins

परिवार के पाँच सदस्य हैं, उसमें से हर सदस्य बोलता है (कि) मैं करोड़पति हूँ। दूसरे से पूछो तो मैं करोड़पति हूँ। तीसरे से पूछो तो मैं करोड़पति हूँ। हर सदस्य बोलता है कि मैं करोड़पति हूँ। रुपया एक (ही) करोड़ है; बोलते पाँच हैं एक करोड़। तो पाँच करोड़ नहीं हैं, एक ही करोड़ है लेकिन सबका है। इस तरह सारी पर्यायें उसमें समाहित होती हैं, ज्ञायक में।

मुमुक्षुः- तो स्वानुभूति के समय भी कहा जाता है कि ये जीव का स्वाभाविक परिणमन है?

पूज्य बाबूजीः- किस समय?

मुमुक्षुः- स्वानुभूति के समय ही न?

पूज्य बाबूजीः- स्वानुभूति के समय, नहीं! ऐसा नहीं। स्वानुभूति के समय भी कहा जाता है और जो पर्यायें शुद्ध हो चुकीं तो उनका सदैव स्वाभाविक परिणमन ही रहता है, जो शुद्ध हो चुकी हैं (उनका)। श्रद्धा की पर्याय सम्यग्दर्शन - वो शुद्ध हो चुका। उसका स्वाभाविक परिणमन (हुआ)। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो उसका अनंतानन्त काल तक स्वाभाविक परिणमन रहेगा। ज्ञान का (भी) स्वाभाविक परिणमन, चारित्र के जितने अंश हैं उनका स्वाभाविक परिणमन, जितनी पर्यायों में शुद्धता आयी उनका स्वाभाविक परिणमन और पूर्णता हो जाने पर पूरा स्वाभाविक परिणमन।

मुमुक्षुः- [55]तो 'ये ज्ञायकपने प्रसिद्ध है' वो कौनसी स्थिति है? 'ज्ञायकपने प्रसिद्ध है' (ऐसा) छठवीं गाथा में जो भाव लिया है 'ज्ञेयाकार होने से उस भाव को ज्ञायकपना प्रसिद्ध है'; तो ये 'ज्ञायकपने प्रसिद्ध है' - वो कौनसी स्थिति है?

पूज्य बाबूजीः- वो उसको समझने की बात है कि उसको ज्ञायक क्यों कहते हैं? क्योंकि वो ज्ञेयाकार होता है इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं - ऐसा, उसका अर्थ ऐसा (है)। ज्ञेयाकार होने से उसको ज्ञायकता प्रसिद्ध है। उसका अर्थ कि वो ज्ञेयाकार होता है इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं। माने ज्ञेयाकार होकर अर्थात् ज्ञानाकार होकर वो सारे जगत को जान लेता है। क्योंकि सारे जगत का प्रतिभास उस ज्ञानाकार में है, इसलिए उसने सारे जगत को जान लिया। तो परप्रकाशक हो गया कि नहीं? कि कहीं भाग गया परप्रकाशक? किसी भी तरह जाना हमने, घर में बैठकर जाना या बाहर निकलकर जाना - जान लिया न। तो इसने अपने घर में बैठकर जान लिया। बाहर निकलने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। जब घर में बैठकर जानने में आ जाए तो बाहर निकालने वाला पागल है। केवलज्ञान की एक ही पर्याय में सारा लोकालोक, वो प्रतिभास्यमान है। अलग-अलग भी (है) और शामिल भी (है)।

मुमुक्षुः- ये क्या कहा?

पूज्य बाबूजीः- क्योंकि केवलज्ञान की एक पर्याय है न? तो एक ही पर्याय में सब हैं। तो एक ही पर्याय, हर पदार्थ को एक ही पर्याय जानती है, वो पूरा जानती है। तो इसी तरह (से) जितने

[55] समयसार गाथा 6 चर्चा। - 15.04 Mins

भी अनंत पदार्थ हैं उनको वो एक ही पर्याय, सारा के सारा उनके आकारों सहित जानती है द्रव्य-गुण-पर्याय सहित। तो सब उस एक में ही शामिल हो गए न? मिल भी गए है और बिल्कुल न्यारे-न्यारे भी हैं। अलग-अलग होकर भी एक और एक होकर भी अलग-अलग। क्योंकि सब एक हो जायें ऐसा संभव नहीं है। लेकिन चूँकि एक ही पर्याय है तो एक ही पर्याय में सारा मेला लगा है जैसे।

और अलग-अलग नहीं। अलग-अलग स्थान नहीं कि कोई इस स्थान पर जाना जा रहा है, केवलज्ञान के इस प्रदेश में (और) कोई उस प्रदेश में - ऐसा नहीं (है)। संपूर्ण! केवलज्ञान जो है वो सारा असंख्य प्रदेशी है। तो असंख्य प्रदेशों से जानता है पूरा और उसमें (भी) संपूर्ण प्रतिभास। बल्कि जो बीत चुकी हैं और जो आनेवाली हैं उन पर्यायों का भी प्रतिभास - ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य (है)। अनंतानंत पर्यायें आगे पड़ीं हैं, अनंतानंत। उनका सबका बिल्कुल स्पष्ट प्रतिभास ज्ञान में है - ऐसी ज्ञान की अद्‌भुत सामर्थ्य है। वर्तमान में असत् होने पर भी वो उनको सत् रूप जानती है। सत् रूप जानती है माने जानने में जो परिणमन हो रहा है वो ज्ञान का सत् रूप (परिणमन) है। वो पर्याय तो असत् है। वो जानता उस ही तरह है कि उस समय होगी वो पर्याय - केवलज्ञान जानता तो यही है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सब से जानता है न! तो वो पर्याय कब होनेवाली है - ये सारे विशेष उस ज्ञान में भास रहे हैं।

मुमुक्षुः- वो पर्याय कब होनेवाली है, वो सारे विषेश उसमें भास रहे हैं?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान में भास रहे हैं।

मुमुक्षुः- प्रत्यक्षवत्!

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान में प्रत्यक्षवत् हो गया न!

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान जान रहा है न उस आगे की पर्याय को तो ज्ञान में तो वर्तमान में ही प्रत्यक्ष हो रहा है। लेकिन वर्तमान में प्रत्यक्ष होने का अर्थ ये नहीं कि वो पर्याय वर्तमान में है - ऐसा नहीं है।

मुमुक्षुः- Fantastic! बहुत सुंदर! बराबर!

पूज्य बाबूजीः- वो पर्याय तो (जब) है, तब ही है। मगर ज्ञान में वर्तमान में प्रत्यक्ष है जानने में।

मुमुक्षुः- वर्तमानवत् जाने। पर वर्तमान में है - ऐसा कैसे जाने?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वर्तमानवत् जानेगा तो वो वर्तमान में ही जान लेता है। होने वाली आगे है लेकिन वर्तमान में ही जान लेता है। अपना श्रुतज्ञान जानता है कि नहीं? कुछ आगे-पीछे की बातें जानता है कि नहीं श्रुतज्ञान? जैसे जातिस्मरण में आ जाती हैं पहले की बातें, आगे की बातें

भी जानता है बहुत सारी, ऐसी विलक्षण सामर्थ्य होती है तो। तो श्रुतज्ञान जानता है न! तो केवलज्ञान नहीं जानेगा संपूर्ण (को) नहीं जानेगा? हम कुछ जानेंगे, तो जब ज्ञान पूरा हो जाएगा तो सब जानेगा।

इसलिए जितना कुछ सत्-असत् रूप ज्ञेय है.... असत् रूप माने जो पर्यायें अभी आईं नहीं और चली गईं हैं, वह सब वर्तमान में असत् रुप ज्ञेय। तो उस असत् को भी सत् जैसा जानता है। ज्ञान में सत् जैसा, ज्ञान (में)।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- वो सत् नहीं हो जाता है उस समय। वो तो उसी समय आनेवाली है। तो उस समय वो वर्तमान जानी जाएगी, जिस समय आएगी उस समय। ऐसा विलक्षण (है)। केवलज्ञान की कुछ असीम सामर्थ्य है, असीम सामर्थ्य है। लेकिन उसकी विधि नहीं भूलना चाहिए (कि) केवलज्ञान का स्वरूप क्या है? कैसा है? कि एक पर्याय, जैसे अपनी श्रुतज्ञान की एक पर्याय (है)। तो उसमें सारे के सारे जितने कुछ अनंत ज्ञेय हैं वे सब अपने-अपने को उसमें पटक देते हैं, समर्पित कर देते हैं जैसे। समर्पित करते हैं तो वो केवलज्ञान की एक ही पर्याय अपने पूरे ज्ञान में सबको पसारती है। परमाणु भी उसी तरह पसरा है जैसे (कि) सुमेरु पर्वत।

मुमुक्षुः- वाह! बराबर!

पूज्य बाबूजीः- परमाणु को जाना तो वो (पर्याय) जानती है कि परमाणु इतना है। तो ये पूरी पर्याय ने केवलज्ञान में ऐसा जाना। वहाँ परमाणु नहीं पसरता। परमाणु पसरे तो कितनी बाधा आती है। ज्ञेय ज्ञान में जानने में आता है इसमें बाधा कितनी आती है? कि परमाणु की जो काय है, वो तो है एक प्रदेशी, छोटी सी है। तो वो अगर केवलज्ञान में आवे तो वो तो जरा सी जगह में बैठ जाएगी।

मुमुक्षुः- बराबर! जरा सी जगह चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- उसको तो जरा सी जगह चाहिए अगर आवे तो। पर आती नहीं (है)। वहाँ सिर्फ़ ज्ञान ही वर्तन करता है कि ये परमाणु है, एक प्रदेशी। बस! हो गया उसका आकार-प्रकार, द्रव्य-गुण-पार्यय सब जान लिया।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- तो इसी तरह सब सारा (है)। सुमेरू को जानेगा तो सुमेरू इतना है। अब ज्ञान तो सुमेरू जितना होता ही नहीं (है); कभी भी नहीं होता किसी का भी ज्ञान। ५२५ धनुष से बड़ी तो काया होती नहीं है (किसी की), वो भी बाहुबली की थी; बाकी सबकी ५००-५०० धनुष की (थीं)। तो उससे बड़ी नहीं होती है न! और सुमेरू (है) १००,००० योजन (तो) कैसे जानेगा ज्ञान? अगर वो (सुमेरु) उसके ज्ञान के भीतर आएगा, तो कैसे आएगा?

मुमुक्षुः- जगह ही नहीं (है)।

पूज्य बाबूजीः- जगह ही नहीं है ज्ञेय अगर आयेगा तो।

लेकिन ज्ञान कैसे जानता है कि एक लाख (योजन) ऊँचा है। एक लाख योजन ऊँचा है, बस हो गया। उतना का उतना जान लिया।

मुमुक्षुः- वो जाननभावरुप है?

पूज्य बाबूजीः- जाननभावरुप!

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- सिर्फ जाननभावरुप! सारे ज्ञेय ज्ञान बन जाते हैं, ज्ञान में आकर।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! वाह रे वाह! सारे ज्ञेय ज्ञान बन जाते हैं।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान में आकर।

मुमुक्षुः- उसी समय वो पर्याय आत्मलीन कैसे है?

पूज्य बाबूजीः- है आत्मलीन वो पर्याय सारी। उसमें क्या है कि वो सारे जितने भी विशेष हैं, वो सारे विशेष तो गौण होते हैं सदा से ही, पहले से ही, हमेशा से ही क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। इसलिये उनको गौण करके वो तो ज्ञान ही है, 'ज्ञान ही हूँ मैं तो' - ऐसा निश्चय किया था न। तो 'ज्ञान ही हूँ मैं' - ऐसा जो निर्णय हुआ तो वो निर्णय केवलज्ञान तक पहुँचता है। और केवलज्ञान तक पहुँचता है क्योंकि सारा ज्ञान ही है तो वो डुबकी अपने में ही लगाए रहता है। ये तो ज्ञान ही है। कुछ नहीं है ज्ञेय का इसमें। प्रतिभास हैं वो भी मेरे ही हैं, तो मेरे को उनसे भी मतलब नहीं है। मतलब हो जाये तो मिथ्यादर्शन हो जाये।

प्रतिभासों के साथ कोई मतलब हो जाये तो मिथ्यादर्शन हो जाएगा, क्योंकि विशेषता जान लेगा वो उनमें (प्रतिभासों में) सामान्य होने पर भी। ज्ञानमात्र होने पर भी वो उसमें कोई विशेषता देखी (तो) भगवान सिद्ध भी नीचे आ जाएँगे अगर ऐसा हो जाये तो। लिहाज़ नहीं है किसी का।

मुमुक्षुः- एक समय में चला गया न वो।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! विशेषता लगी उसको वहाँ। जब वो ज्ञानमात्र है सारा का सारा तो उसको ज्ञान से अधिक कुछ नहीं लगना चाहिये। और अगर वो उसमें रुका और उसमें (ज्ञेय में) कुछ अधिकता देखकर उसको विस्मय हुआ, आश्चर्य हुआ, उसको कुछ प्रसन्नता हुई (तो) इसका अर्थ है कि ये (इस) आकार जैसा जो पदार्थ है, उसमें निष्ठा है उसकी (अर्थात्) ज्ञेयनिष्ठ है वो।

मुमुक्षुः- Fantastic! बहुत सुंदर! बहुत सुंदर! एकदम स्पष्ट।

माने ज्ञान में ज्ञान के ही विशेषों की अगर कुछ अधिकता हो गई, तो ज्ञेयनिष्ठ बन गया?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उसको अगर वर्चस्व दे दिया (तो), उसको अगर अधिकता दे दी (तो)। उसको विशेषता लगी उसमेंल तो विशेषता लगी तो विशेषता तो ज्ञान से अधिक तो कुछ है ही नहीं। ये तो ज्ञान ही है न सामान्य और उसने ज्ञान से अधिक देखा उसे। तो ज्ञान से अधिक देखा इसका अर्थ (कि) ज्ञेय देखा क्योंकि ज्ञान से अधिक तो बाहर वही है। ज्ञान से बाहर तो ज्ञेय ही पड़ा है, इसलिए उसने उसको ज्ञान जान लिया।

मुमुक्षुः- माने ज्ञान-सामान्य से अधिक अगर ज्ञान में ज्ञान का ही विशेष ज्ञात हुआ, तो ज्ञेयनिष्ठ हो गया?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ज्ञेयनिष्ठ हो गया वो। क्योंकि ज्ञान तो जितना है उतना ही है। अब इसमें बाक़ी जोड़ा, विशेषता (जोड़ी) उसमें। विशेषता जोड़ी न तो वो किसकी जोड़ी? वो तो अन्य पदार्थ की जुड़ी न? (क्योंकि) ये तो इतना ही था पूरा आत्मा, वो तो अन्य पदार्थ की जुड़ी। तो अन्य पदार्थ की जुड़ी तो वो ज्ञेयनिष्ठ हो गया वो, उसकी निष्ठा ज्ञेय में हो गई। उसने ज्ञेय का अस्तित्व अपने भीतर मान लिया, उसकी विशेषता में।

ये रागी-द्वेषी अज्ञानी जीवों के कर्म हैं कि जो कभी तो उनको (ज्ञेय को) बुलाना चाहते हैं और कभी उनको निकालना चाहते हैं, कि अच्छी-अच्छी चीज़ें आवें और जो खोटी-खोटी हैं वो नहीं आवें। और आई हों (तो) चली जायें, तो निकालने की कोशिश करता है। जब निकालने की कोशिश करता है तो खुद की मौत हो जाती है क्योंकि वो ज्ञान को निकालता है वो। वहाँ ज्ञेय तो था ही नहीं।

मुमुक्षुः- आए ही नहीं। ज्ञानाकारों की निष्ठा?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञानाकारों की निष्ठा क्यों करेगा? अभी पर्यायों से मोह नहीं छूटा क्या जो ज्ञानाकारों की निष्ठा करेगा? शुरू से ही जो लक्ष बनाकर चला है ये, जब तक वहाँ नहीं पहुँचेगा तब तक बीच में रुकेगा नहीं। रुकेगा तो भी मन वहाँ (ज्ञायक पर) रहेगा।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! कहाँ मन रहेगा?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञायक, ज्ञायक पर। ध्येय पर मन रहेगा।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! रुकेगा फिर भी..... तो ये रुकना कैसा होगा बाबूजी?

पूज्य बाबूजीः- रुकना ये ही विचार में, ये विचार की रुकावट ही तो है। बीच का जो रास्ता है ये, ये वास्तव में साधक नहीं है बाधक है। कहा साधक जाता है उसका नाम व्यवहारनय। ये साधक कहा जाता है कि जब तक ये विचार नहीं आयेंगे तब तक अनुभूति नहीं होगी। लेकिन (वास्तव में) ये विचार आते रहेंगे तो अनुभूति नहीं होगी। और जब इनको साधन मान लेगा तो ये विचार आते ही रहेंगे और अनुभूति होगी नहीं।

मुमुक्षुः- बराबर! और बाधक मान लिया तो?

पूज्य बाबूजीः- वास्तव में बाधक मानता है और साधक जानता है (अर्थात् मात्र) कहता है। जानता है माने कहता है। कहता है अर्थात् भीतर से जानता है (उनको) गौणभाव से, तो उसका नाम व्यवहारनय। साधक कहता है - इसका नाम व्यवहारनय। है वास्तव में बाधक - इसका नाम निश्चयनय। क्योंकि बीच का अंतराय है न वो तो। इधर तो ध्येय पड़ा है और इधर जो है वहाँ से शुरू किया उसने चलना। तो ये बीच का मार्ग जो है वो व्यवधान है कि नहीं, अनुभूति का? अगर ये कट हो जाए और वो सीधा अनुभूति में पहुँच जाए तो उसका मन तो ऐसा है (कि ऐसा हो जाये)

लेकिन ये (विचार) आए बिना रहता नहीं। बीच के स्टेशन आए बिना रहते ही नहीं हैं। ये बीच के स्टेशन हैं। तो वो घबराता नहीं है क्योंकि ये तो आने ही वाले हैं। ये अपना स्थान कहाँ छोड़ेंगे? इसलिए बिल्कुल निश्चिंत रहता है और प्रसन्नता से बढ़ता रहता है।

मुमुक्षु:- क्योंकि शुरू से उसने चिन्मात्र मैं हूँ - ऐसा लिया है इसलिए?

पूज्य बाबूजी:- ऐसा लिया (है) शुरू से। निर्णय में फर्क हो तो फिर आगे बीच में कहीं न कहीं झगड़ा पड़ ही जाएगा क्योंकि वो पक्ष में अटक जाएगा। पक्ष में अटक जाएगा।

मुमुक्षु:- माने कौनसा निर्णय होना चाहिए जिस निर्णय में पक्ष नहीं होगा?

पूज्य बाबूजी:- निर्णय ये कि मैं चिन्मात्र ज्ञायक हूँ। बस! और कुछ नहीं माने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। न इसमें कुछ जोड़ना और न इसमें से कुछ घटाना (minus) करना। कुछ घटाना नहीं - ऐसा। इतना ध्रुव एकदम त्रैकालिक और संपूर्ण, अनंतशक्तिमय।

अनंतशक्तिमय जहाँ ये कहता है वहाँ तो उछल पड़ता है असमान में। धरती पर पैर ही नहीं रहते फिर। अनंतशक्ति और वो भी अचिंत्य! एक-एक शक्ति अनंत! अनंतकाल की अपेक्षा नहीं, भाव की अपेक्षा। काल की अपेक्षा तो है ही सही, भाव की अपेक्षा भी अनंत।

ज्ञान कितना? सुख कितना? अपार ..... बेहद है।

मुमुक्षु:- तो बाबूजी जो ज्ञेयाकारों की निष्ठा (है) वो ज्ञेय की लुब्धता (है)? ज्ञानाकारों की निष्ठा वो पर्यायों की लुब्धता?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञानाकारों की लुब्धता, वो ज्ञेयनिष्ठ। ज्ञेयाकारों की (लुब्धता) तो वो तो ज्ञेय की (निष्ठा) है ही सही। लेकिन यहाँ ज्ञानाकारों में भी अगर वो लुब्ध है, तो (वो भी) ज्ञेयाकार में और ज्ञेय में लुब्ध है वो। ज्ञेयनिष्ठ है वो। अज्ञानी है वो तो, अज्ञानी हो गया।

यद्यपि अज्ञान अभी भी चल रहा है, अभी भी ज्ञान नहीं है, लेकिन ज्ञान ने करवट बदल ली है और संकल्प लिया है कि उसको लेकर रहूँगा, पाकर रहूँगा। ऐसे दो रूप उस अज्ञान के ही बन जाते है। तब हमें उसको, अज्ञान को अज्ञान कहने में शर्म लगती है। क्योंकि वो जात्यान्तर होने जा रहा है न, जात्यान्तर होने जा रहा है न, तो शर्म लगती है।

भाई! (जो) दूल्हा बनने जा रहा है तो (उसको) 'ओ लड़के', 'ओ लड़के', 'ओ छोरे' - ऐसा कौन बोलता है? 'दूल्हे-राज' 'दूल्हे-राजा' (ऐसे पुकारते हैं)। अभी विवाह नहीं हुआ, फिर भी। लेकिन (जल्द ही) होनेवाला है।

मुमुक्षु:- अज्ञान ने करवट बदल ली प्रभु!

पूज्य बाबूजी:- हाँ! करवट बदल ली।

मुमुक्षु:- अब ज्ञान होने जा रहा है तो उसे अज्ञान कहने में अपने आप में ही शर्म आती है।

पूज्य बाबूजी:- अज्ञान कहने में शर्म लगती है; है अज्ञान जरूर।

मुमुक्षु:- बराबर! सही बात है! सविकल्प स्वसंवेदन।

पूज्य बाबूजी:- इसलिए सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं आचार्य (अर्थात्) स्वसंवेदन जैसा ही।

मुमुक्षु:-[56] जाननेवाला और जानने में आनेवाला - ये दो पर्याय हैं या एक ही पर्याय है?

पूज्य बाबूजी:- एक ही पर्याय स्वयं क्योंकि वहाँ दूसरा कोई नहीं है। तो एक ही पर्याय में जब वो जाननेवाला है तो फिर यहाँ जानने में आनेवाला भी तो होना चाहिए न! तो जाननेवाला दूसरा तो है नहीं और दूसरी पर्याय भी नहीं आ सकती है वहाँ, दूसरे पदार्थ की बात तो बहुत दूर रही।

मुमुक्षु:- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- दूसरी पर्याय भी नहीं आ सकती। इसलिए वो पर्याय ही जाननेवाली है (और) वही जानने में आनेवाली (है)। तो इस विकल्प..... कहते हैं, आचार्य ने तो कहा इस क्लिष्ट कल्पना से भी क्या साध्य है?

मुमुक्षु:- क्लिष्ट कल्पना है!

पूज्य बाबूजी:- क्लिष्ट कल्पना से भी क्या साध्य है? मैं ज्ञायक हूँ!

मुमुक्षु:- वाह रे वाह! मगर वहाँ तो चिन्मात्र ही अनुभव में आ रहा है।

पूज्य बाबूजी:- नहीं! नाम कुछ भी दे सोचने में क्योंकि नाम तो सब हैं उसके, लेकिन उसके भाव में फर्क़ नहीं पड़ना चाहिए। भाव माने चिन्मात्र। चाहे जीवतत्त्व कहो, जीवास्तिकाय कहो, जीव पदार्थ कहो - कुछ भी कहो, लेकिन है वो चिन्मात्र।

मुमुक्षु:- और वो जो जाननेवाला है वो सामान्य है। वो पर्याय का सामान्य है - ऐसा लेना (है)?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! पर्याय का सामान्य (माने) वो सामान्य बना ली उसने, तो सामान्य हो गया। माने विशेष का तिरोभाव कर दिया तो फिर सामान्य हो गई पर्याय, माने ज्ञान (ही) हो गई। ज्ञानाकार हो गई अर्थात् ज्ञान ही रह गया; ज्ञान रह गया माने आत्मा ही रह गया। अंश में नहीं अटकता है ये। इसकी तो तूफ़ानी चाल है। तो जो-जो हेय हैं, उन सबको छोड़ता जा रहा है। स्वयं पुरुषार्थपूर्वक ये सारा कार्य हो रहा है लेकिन इसमें भी हेयबुद्धि (है)।

मुमुक्षु:- ये क्या कहा प्रभु?

पूज्य बाबूजी:- स्वयं पुरुषार्थपूर्वक ये कार्य, ध्येय की ओर जाने का हो रहा है, लेकिन इसमें भी उसे हेयबुद्धि है क्योंकि उपादेय तो वहाँ पड़ा है। और उनसे ये मिलता नहीं है क्योंकि इसमें चंचलता है और वो अकंप है, निष्कंप है। इसलिए ये इनमें मिलान नहीं है। और इसने उसको (चिन्मात्र को) अपनत्व दिया है तो इनको अपनत्व नहीं दे सकता। जिनको अपनत्व नहीं देगा वो सब हेय हैं।

[56] जाननेवाला और जानने में आने वाला - ये दो पर्याय हैं या एक ही पर्याय है? - 31.58 Mins

मुमुक्षुः- माने पुरुषार्थ पुरुषार्थ को अपनत्व नहीं दे सकता?

पूज्य बाबूजीः- नहीं दे सकता।

मुमुक्षुः- वो तो उपादेय में अपनत्व है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वो (अपनत्व) पर्याय मात्र में ही नहीं है। पर ये जो धारा है इसमें भी हेय-उपादेय (है) कि ये जो धारा चल रही है, सारी हेय-धारा है ये।

मुमुक्षुः- आहाहा! उसमें उसका वीर्य उल्लसित नहीं होता?

पूज्य बाबूजीः- नहीं होता।

अनुयोगों [57]की अपेक्षा अपन कहें, अनुयोगों की अपेक्षा.... बात तो बहुत बड़ी हो जाती है। लेकिन चार अनुयोगों की अपेक्षा तीन अनुयोग हेय तत्त्व हैं और एक केवल द्रव्यानुयोग उपादेय है और भगवान की वाणी है। द्रव्यानुयोग का आत्मा!

मुमुक्षुः- द्रव्यानुयोग का आत्मतत्त्व।

पूज्य बाबूजीः- द्रव्यानुयोग ही उसे कहते हैं जो द्रव्य में सौदा (deal) करता है, जिसकी dealing (सौदेबाज़ी) ही द्रव्य में होती है।

जैसे तत्त्व समझ में आवे तो उसमें साहस भी होता है ऊँची-ऊँची, बड़ी-बड़ी बातें बोलने में। भाई! भगवान आपकी (ही) तो वाणी है, इसमें क्या है?

मुमुक्षुः- आप ही के ..... के नीचे तो चल रहे हैं।

पूज्य बाबूजीः- आप से अन्यथा तो एक शब्द ही हम नहीं बोलते हैं। हम तो आपके चरण-चंचरीक हैं। ऐसा कैसे हो सकता है कि आप को बदनाम कर दें किसी तरह? अथवा अपने आपको हम आपसे बड़ा मान लें (ये) कैसे हो सकता है? (वो) तो चरणों का दास होता है, तो उसमें भी इतनी हिम्मत होती है।

मुमुक्षुः- विधि-निषेध कर-करके आगे बढ़ जाता है (और) ध्येय तक पहुँच जाता है?

पूज्य बाबूजीः- [58]द्रव्य-भक्ति होती है, उसमें भी जो उपासक है वो उपास्य बन जाता है।

मुमुक्षुः- ये क्या कहा?

पूज्य बाबूजीः- और उपासक जो है वो प्रलीन हो जाता है, वो अदृश्य हो जाता है द्रव्य-भक्ति में। वो तो विकल्पात्मक होती है। उसमें तो भेद होता है उपासक और उपास्य का।

यहाँ तो उपासक-उपास्य का भेद नहीं था, जो भाव-भक्ति है ये। ये भाव-भक्ति (है) जो शुद्धात्मा (की) अनुभूति; तो वो अनुभूति भी जो है (वो) ध्रुव होकर ध्रुव का प्रतिभास करने लगी - ऐसी अभेदता हो गई। ये (है) वास्तविक भाव-भक्ति। लेकिन द्रव्य-भक्ति में भी ऐसा होता है, ऐसा

[57] चार अनुयोगों में तीन अनुयोग हेय तत्त्व हैं और एक केवल द्रव्यानुयोग उपादेय है। - 34.56 Mins

[58] द्रव्य और भाव भक्ति की चर्चा। - 36.21 Mins

ही होता है कि जैसे अरिहंत का चिंतन कर रहा है। ध्यान में आता है न जैसे पदस्थ, रूपातीत वगैरह। तो अरिहंत का चिंतन कर रहा है। तो मैं अरिहंत हूँ, बस ऐसा। बस! जैसे मैं कोई पुरुष हूँ, ऐसा हूँ। मेरा नाम ये है अथवा (तो) मैं कोई बहुत गरीब हूँ। 'मैं अरिहंत' - ऐसा उस ज्ञान में प्रतिभास होता है। तो ये तो (हुई) द्रव्य-भक्ति जो मोक्ष की कारण नहीं है (बल्कि) मोक्ष की बाधक (है)।

मुमुक्षुः- मोक्ष की बाधक। बराबर!

पूज्य बाबूजीः- भाव-भक्ति की तो, उसकी तो महिमा ही कितनी है! वो तो वास्तविक है।

मुमुक्षुः- तो-तो फिर मंदिर से छुट्टी? तो फिर तो मंदिर से छुट्टी।

पूज्य बाबूजीः- मंदिर से छुट्टी तो इसलिए नहीं ले सकता क्योंकि वहाँ गए बिना तो काम होता ही नहीं है, इसलिए नहीं ले सकता। जब मिला है मंदिर और सम्यग्दर्शन का साधन मिला है, तो फिर जो सम्यग्दर्शन और उस शुद्धात्मा को प्राप्त करना चाहे तो वो मंदिर से (यदि) छुट्टी ले ले, तो वो तो नरकगामी है। क्योंकि उसे साक्षात् साधन मिला है, वो उससे दूर रहना चाहता है - इसका मतलब वो संसार में रहना चाहता है वो। तो रह ले अभी आराम से क्योंकि फिर वहाँ से आना तो होता नहीं है वापस। इसलिए कई लोग ऐसे होते हैं कि जल्दी क्यों करें? वापस तो आते हैं नहीं वहाँ से, इसलिए यहाँ का भोग लें पहले।

मुमुक्षु तो उसे कहते हैं जिसको इसी समय कह दिया जाये (कि) तैयार हो? (तो कहे) कि हाँ! तैयार हैं। ऐसा नहीं है कि घर होकर आता हूँ (और) बोले अब तुम सब सुखी रहना बाल-बच्चे सब। और वो इतने काम बाक़ी हैं जो (वो) कर लेना, मैं जा रहा हूँ। तो भगवान कहते हैं (कि) इतनी फुर्सत नहीं है। तेरे को अभी चलता हो तो मेरे साथ चल।

मुमुक्षुः- आहाहा! इतनी तड़पन होना चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- इतनी तड़फ हो। तू तो अभी पूछने जा रहा है तो तेरा ममत्व तो वहाँ पड़ा है। मुक्ति में कहाँ (है) ममत्व तेरा? साक्षात् व्यवसाय में ऐसा कोई ग्राहक आ जाये कि जिसमें १००,००० रुपये का फायदा हो रहा हो, तो वो तो बैठा (हो) आफ़िस में या दुकान पर बैठा (हो) और ये कहता है कि ठहर जाओ! मैं मेरी पत्नी से पूछ (कर) आता हूँ। करते हैं ऐसे?

मुमुक्षुः- ग्राहक चला जावे।

पूज्य बाबूजीः- वो तो पत्नी बुलाती हो तो इनकार हो जाये कि अभी कोई टाईम नहीं है। अभी ठहर जा।

मुमुक्षुः- थोड़ी देर बैठ मैं बाद में आता हूँ। (अभी) ग्राहक आया हुआ है।

मुमुक्षुः- तो यहाँ तो चिन्मात्र दर्शन दे रहा है।

पूज्य बाबूजीः- दे रहा है। दे रहा है (और) वो तो हमेशा ही तैयार है, सदा ही तैयार है वो तो। वो तो पर्याय जो है (वो) अनाचारिणी निकल गयी। वो तो होता है ऐसा। क्या हो? कोई शादी

ऐसी ही हो जाए कि तलाक देना ही पड़े। तो इसका (पर्याय का) तलाक जब तक नहीं हो उधर से (परद्रव्य से), तब तक ये पतिव्रता बन नहीं सकती।

मुमुक्षुः- (जब) द्रव्य-भक्ति में उपासक और उपास्य का फर्क नहीं रहता, तो यहाँ तो किसी का भेद भी नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- यहाँ तो पराकाष्ठा है। (यहाँ तो) भाव-भक्ति है।

मुमुक्षुः- भाव-भक्ति में तो उपास्य और उपासक का भेद भी नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- भेद ही नहीं है। वहीं अभेद हो जाता है वो। वहीं अभेद हो जाता है लेकिन है परद्रव्य का चिंतन न। अरिहंत का चिंतन भी तो परद्रव्य का चिंतन है। फिर वो अनुभव करने लगता है (कि) मैं अरिहंत, मैं अरिहंत, मैं अरिहंत - ऐसा अनुभव करने लगता है। लेकिन है सब विकल्पात्मक, विकल्पात्मक है सारा।

मुमुक्षुः- और निज के अरिहंत (की भक्ति) करे तो निर्विकल्प हो जाता है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! निर्विकल्प होता है वहाँ क्योंकि वो निर्विकल्प है। द्रव्य निर्विकल्प है न! तो निर्विकल्प द्रव्य को जिस पर्याय ने स्वीकार किया वो निर्विकल्प होकर ही स्वीकार कर सकती है। वो अकर्ता है, तो वो (पर्याय) अकर्ता बनकर ही (उसको) स्वीकार कर सकती है। वो अपरिणामी है तो ये (पर्याय) अपरिणामी बनकर ही उसे वर सकती है। उसका वरण कर सकती है। इसे वैसा ही बनना पड़े पर्याय को, ठीक (वैसा) जैसा वो है। उसमें कसर नहीं होनी चाहिए जरा (भी)।

बस! इसका स्वरूप बदलना जो (कि) है वो चलता रहेगा इसमें लेकिन इसे बनना वैसा (द्रव्य जैसा) पड़ेगा, ठीक (वैसा)। मैं अकर्ता हूँ, अपरिणामी हूँ, शुद्ध चिद्रूप हूँ, चिदानंद हूँ, अनंतशक्ति संपन्न हूँ - ऐसा बोले ये स्वयं। और ये जितना होता है वो परिणमन में हो रहा है कि नहीं? लेकिन हर परिणमन में 'ज्ञायक', हर परिणमन में 'ज्ञायक' (है)। हो परिणमन रहा है पर्याय का लेकिन हर परिणमन में 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' - चिन्मात्र, बस।

पर्याय कहीं चली जाये तो फिर वो अनुभव कौन करेगा? रहती है वो लेकिन उसको वहाँ याद करना ही उसको बिगाड़ देता है। पर्याय को याद किया और वो सारा जितना पुरुषार्थ था वो सब पानी में गया, सारा का सारा अगर याद कर लिया बीच में पर्याय को तो। बस केवल ध्रुव की रटन होती है, एकमात्र शुद्ध की रटन होती है। और (पर्याय को याद किया तो) काम पर्याय का ही बिगड़ता है, द्रव्य का तो बिगड़ता नहीं कुछ।

मुमुक्षुः- इधर कोई भी दशा हो वहाँ कोई तकलीफ नहीं। इसलिए तो पूर्ण है न वो। आहाहा! अद्भुतता है बाबूजी! जैन-दर्शन की आलौकिकता है!

पूज्य बाबूजी:- हाँ! आलौकिकता है। वहाँ पराकाष्ठा हो जाती है लोगों की तो द्रव्य-भक्ति में, जहाँ वो एकदम अभेद (हो जाता है), बस! भगवान राम का और भगवान कृष्ण का ही, बस वही अनुभूति। ऐसा लगता है जैसे हम वही बन गए हों। बस! हो गया।

अब जैन-दर्शन का प्रारंभ इससे इनकार करके होता है। इससे इनकार करके क्योंकि ये मार्ग नहीं है। क्योंकि यहाँ तो जो द्वैत था, वास्तव में द्वैत था उसमें तुमने अद्वैत का अनुभव किया है। (और) यहाँ तो अद्वैत ही है - द्रव्य और पर्याय, स्वयं के।

वहाँ तो दो द्रव्य थे। तो दो द्रव्य में अद्वैत का अनुभव किया, भक्ति में।

मुमुक्षु:- तो ज्ञेयों की लुब्धता हो गई वो?

पूज्य बाबूजी:- न भी हो। वो कोई ज़रूरी नहीं है (कि हो) लेकिन वो तरीका है एक। ज्ञायक पर एकाग्र होने का एक तरीका है - पिंडस्थ, पदस्थ, रुपस्थ, रूपातीत इत्यादि जो ध्यान के प्रकरण हैं।

तो वो ऐसा उसको पढ़ते ही नहीं कोई शुरू कर दे। पहले तो अपने चित्त को तोले, अपनी परिणति को तोले पहले तो कि मेरी परिणति में एकाग्रता कितनी है। तो इसके पहले तो वो एक अरिहंत-सिद्ध की माला फेरकर देखे कि कितनी एकाग्रता है। तब वो पिंडस्थ-पदस्थ में जाए अगर वास्तव में एकाग्र हो जाता है (तो); तो फिर जाये। क्योंकि वहाँ भी उसमें देखता है कि अरहंत-सिद्ध का स्वरूप जो अभी मैं बना नहीं हूँ वास्तव में, (अभी) केवल विकल्पदशा है, वहीं ये स्थिति है कि जैसे मैं आनंद में अभिभूत हो जाता हूँ, आनंदमय हो जाता हूँ जैसे। तो वो वास्तविक में क्या होता होगा? लेकिन फिर भी विकल्पात्मक है। तो जो विकल्पात्मक तक रुककर और अपने दर्शन की पराकाष्ठा कर चुके (हैं), तो उनसे इनकार करके जैनदर्शन का प्रारंभ होता है कि वो मार्ग ही नहीं है। विकल्प से कभी भी निर्विकल्प की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वहाँ दो हैं, उपासक और उपास्य का भेद है वहाँ।

मुमुक्षु:- बराबर! भिन्नत्व है।

पूज्य बाबूजी:- तो वो तो भक्ति का जो प्रवाह है, वो इतना ऊर्ध्वगामी है कि उसे वो एक लगता है। एक अनुभव करता है। यहाँ तो दोनों अद्वैत ही हैं - द्रव्य और पर्याय, एक ही पदार्थ के हैं। तो ये पर्याय द्रव्य में अद्वैत हो जाती है। (फिर वह) द्वैत का अनुभव नहीं करती - न द्रव्य, न पर्याय। बस!

मुमुक्षु:- आहाहा! न द्रव्य, न पर्याय - वो अद्वैत है।

पूज्य बाबूजी:- वो अद्वैत है।

मुमुक्षु:- अभेद परिणमन।

पूज्य बाबूजी:- अभेद चिन्मात्र।

मुमुक्षु:- पर्याय द्वैत का अनुभव नहीं करती - न द्रव्य का न पर्याय का, वो अद्वैत है।

पूज्य बाबूजी:- वो अद्वैत है। दो दिखायी नहीं देते। बस 'चिन्मात्र हूँ' इतना होता है।

मुमुक्षु:-[59] बाबूजी! इतनी सरल बात कठिन (difficult) क्यों हो गई है? कितनी सरल बात है बाबूजी! कितनी सरल बात है वैसे सोचें तो, इसमें करना कुछ नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- करना कुछ नहीं है न! 'करना कुछ नहीं है' - वो ये करके करना चाहता है। जिसमें कुछ नहीं करना है.... तो इसको करने की आदत पड़ी है, करने की झूठी वासना पड़ी है। तो ये उसको करके करना चाहता है और वहाँ करना कुछ नहीं है।

मुमुक्षु:- बस! करके करना चाहता है वो गलत तरीका है।

पूज्य बाबूजी:- वो गलत तरीका है।

मुमुक्षु:- बराबर! करके करना चाहता है मतलब मुझे अनुभव करना है। वो करके करना है?

पूज्य बाबूजी:- अनुभव करना है माने।

तुझे क्या करना है, ज्ञान को? क्या करना है बता? कि आत्मा का अनुभव करना है। (तो कहा) कि नहीं होगा तेरे को।

मुमुक्षु:- नहीं होगा। बराबर!

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि करना है न अभी तो तेरे को।

आत्मा जो विद्यमान तत्त्व है अकर्ता, जिसमें कुछ करने की गुंजाइश नहीं है वो तू है - ये वचन बोल। ये स्वर भर तू अपनी सितार से। अनुभूति की सितार में स्वर ये होने चाहिये (कि) 'मैं चिन्मात्र ज्ञायक'।

मुमुक्षु:- अनुभूति स्वरूप तो हूँ ही। आहाहा!

पूज्य बाबूजी:- अनुभूति स्वरूप है, उससे आगे की बात है ये। चिन्मात्र! ये तो अनुभूति ही है वास्तविक। वो अनुभूति स्वरूप - वो तो अनुभूति को उत्पन्न करने का एक तरीका (है)।

मुमुक्षु:- बराबर! बराबर! कुछ न करने का डर ऐसा लगता है निकम्मा नहीं बन जायें?

पूज्य बाबूजी:- निकम्मा बन जाये - ऐसा लगता है। ऐसा लगता है। जब कुछ नहीं करना है तो क्या फिर कोई परिश्रम ही नहीं है। बिना परिश्रम के? कि वो सब परिश्रम वगैरह सब साथ चलते हैं। लेकिन चूँकि आनन्द ही आनन्द होता है इसलिए तुझे भेद नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि जहाँ उपलब्धि कुछ होनेवाली है वहाँ परिश्रम में दुख नहीं लगता है। वो परिश्रम सुखदायक होता है।

है न जैसे, first class first (प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण) जो लड़का होता है, तो तीन घंटे लिखता है वो लेकिन उसको कितना मज़ा रहता उसका। क्योंकि first class first (प्रथम श्रेणी) वो तो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है जैसे, इतनी प्रतिभावाला है। तो तीन घंटे (लिखने का) परिश्रम करता

[59] सरल बात कठिन क्यों हो गई है? - 47.45 Mins

है लेकिन (वो) आनंदमय होता है सारा का सारा; first class first (प्रथम श्रेणी में) मैं आनेवाला हूँ।

मुमुक्षुः- बात सही है! चिन्मात्र हूँ?

पूज्य बाबूजीः- माने इसी तरह (जो) अनुभूति है, वो भी..... बहुत प्रसन्न कदम बढ़ते हैं उसके।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! एकदम स्पष्ट। आहाहा!

पूज्य बाबूजीः- बहुत प्रसन्न कदम!

मुमुक्षुः- कुछ उपलब्ध होने वाला है, उसके जोश में पुरुषार्थ खुशी से होता है।

पूज्य बाबूजीः- बहुत उछलकर चलता है। जैसे Polo (पोलो का खेल) के मैदान में घोड़े उछलते हैं, ऐसे उछलता हुआ चलता है।

मुमुक्षुः- पुरूषार्थ होने पर भी पुरूषार्थ नहीं लगता।

पूज्य बाबूजीः- विपथ से सुपथ पर आया हो और जैसे नज़दीक आ गया हो वो गाँव, तो वो उसकी प्रसन्नता देखो (फिर)। भले ही धूप में खड़ा हो (मगर) देखो उसकी प्रसन्नता। 'वो आ गया', 'ये आ गया', 'आ गया', 'आ गया' - ऐसा, ये करणलब्धि की दशा कि 'आ गया', 'आ गया'।

मुमुक्षुः- चिन्मात्र का स्वीकार (बस) इसके अलावा कुछ बात ही नहीं होनी चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- और कुछ नहीं।

मुमुक्षुः- कुछ नहीं बस!

पूज्य बाबूजीः- चिन्मात्र में भी भाव, 'चिन्मात्र' शब्द नहीं। शब्द को याद नहीं करते हैं हम खाते हैं जब, उस पकवान के शब्द को। केवल पकवान के स्वाद में मशगूल एकदम, उसमें (ही) तन्मय।

मुमुक्षुः- बाबूजी पता कैसे चले कि ये खाली (केवल) शब्द नहीं है (बल्कि) भाव हैं? ये पता कैसे चलेगा कि ये जो है चिन्मात्र, चिंतन में जो चलता है 'मैं चिन्मात्र हूँ' 'चिन्मात्र हूँ' - उसका पता कैसे चलेगा कि ये मात्र शब्द नहीं है (बल्कि) ये भाव है? या तो ये मात्र शब्द है, भाव नहीं है - ये पता कैसे चलेगा?

पूज्य बाबूजीः- ऐसा आनंद ही नहीं आयेगा। ऐसा आएगा जैसा आता रहा है (कि) जो चला जाता है, समाप्त हो जाता है, फिर उसका कोई स्थायित्व नहीं होता। क्योंकि ये आनन्द उत्पन्न होता है तो इस आनन्द के साथ में जो सुख उत्पन्न हुआ वो स्थायी है, सदा रहनेवाला है। तो उसकी तो काया ही पलट हो जाती है, उसका तो पुनर्जन्म होता है वास्तव में। सम्यग्दृष्टि का तो नया जन्म है ये। तो काया ही पलट गयी उसकी तो। तो वो जो आनन्द है, वो प्रथम तो पहचान में आता है कि ऐसा आनन्द..... जगत के अनंत पदार्थों का मैंने सेवन किया लेकिन उनमें मिला नहीं ये। ऐसा

आनन्द नहीं मिला है, ऐसा स्वाद कभी आया ही नहीं। इससे पहचान लेता है कि शब्द को ये रट रहा है या भाव को।

मुमुक्षुः- [60]परसों आपने बताया था कि 'मैं ज्ञायक हूँ' - ये विकल्प भी है, राग भी है, पर्याय का स्वरूप भी है, ज्ञायक का स्वरूप भी है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! विकल्प भी है। विकल्प है, तो वो तो ज्ञान का विकल्प (है)। उसके साथ में राग का जन्म होता है। क्योंकि अनुभूति नहीं है इसलिए राग का जन्म होता है, विचार दशा में। और ज्ञायक है, तो पर्याय जो है वो स्वयं ज्ञायक बन गई है। इसलिए ज्ञायक है और ज्ञायक ही अनुभव में आ रहा है, अभेदता से।

मुमुक्षुः- उस समय राग का विषय कौन होता है?

पूज्य बाबूजीः- राग का विषय आत्मा ही होता है उस समय। जिस समय ज्ञान आत्मा के चिंतन में धारावाहिक होता है, उस समय विकल्प जो होते हैं राग के, उनका विषय भी आत्मा ही होता है। वो भी बोलते वही हैं पर समझते नहीं है।

जैसे हारमोनियम है न! तो हारमोनियम बजानेवाला जो बजाता है, जो शब्द-उच्चारण करता है वही स्वर हारमोनियम में से निकलते हैं। अपन समझ जाते हैं न कि इसमें से ये स्वर निकल रहा है। तो वो तो मुँह से बोल रहा है और ये स्वर इस (हारमोनियम) में से निकल रहे हैं लेकिन ये हारमोनियम जानता नहीं है। ये स्वयं जो है वो उसकी तरह गा नहीं सकता है। ये राग है ये, और वो ज्ञान है; वो जानता है और स्वर दोनों का एक ही है।

मुमुक्षुः- बहुत खूब! बहुत खूब! वो जानता नहीं है और ये तो जानता है।

पूज्य बाबूजीः- ये जानता है।

बहुत बड़ी सभा हो न! तो उसमें जैसे कोई lecture (भाषण) हो रहा है अथवा कोई मान लो कवि-सम्मेलन हो, उसमें कविता-पाठ हो रहा है। तो अच्छे-अच्छे लोग भी होते हैं, जो आगे बैठे हुए होते हैं समझदार। तो वो तो समझते हैं उसके (कवि के) भाव को क्योंकि प्रतिभाशाली होते हैं; तो उस कविता के भाव को समझते हैं। अब कुछ जो पीछे की भीड़ होती है तो उनमें सब तो इस तरह के होते नहीं। लेकिन जब कोई विशेष बात आती है तो आगे के लोग ताली बजाते हैं, तो सारे हॉल में ताली बजती है। तो वो सब मूर्खता की ताली है, स्वर तो एक ही है ताली का लेकिन। तो एक स्वर होते हुए भी वो मूर्ख हैं, वो समझे नहीं (हैं)। वो समझे नहीं, वो (तो) देखा-देखी बजा रहे हैं। और इन्होंने जो है समझकर बजायी है। इस तरह ज्ञान समझकर कर रहा है काम (और) विकल्प नासमझी से ही 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा बोलता है। पर समझता नहीं है, उसकी कीमत नहीं (है) ज़्यादा।

[60] 'मैं ज्ञायक हूँ' - ये विकल्प भी है, राग भी है, पर्याय का स्वरूप भी है, ज्ञायक का स्वरूप भी है। - 53.52 Mins

क्योंकि वो भी तो ज्ञान के साथ चलता है न। ज्ञान बहिर्मुख हो तो विकल्प भी बहिर्मुख होता है।

मुमुक्षु:- बाबूजी! एक अंतिम प्रश्न है, last कि जो आपने बोला कि वो आनन्द का वेदन तो उसको जब अनुभूति होगी तभी होगा। तो ये आनन्द के वेदन की तुलना किसके साथ करेगा अनुभव के पहले? कि वो वैसा ही है। ये जैसे भाव-भासन की बात हुई कि ये चिन्मात्र शब्द नहीं होना चाहिए, भाव-भासन होना चाहिए। लेकिन उसको आनंद है तो नहीं, तो वो तुलना कैसे करेगा?

पूज्य बाबूजी:- तुलना की अलग से आवश्यकता नहीं पड़ती। वो जो स्वाद आया, वो स्वाद ही ऐसा है कि वो अद्‌भुत है और अपूर्व है; तो हो गई तुलना। इसमें तुलना नहीं हुई? हो गई न! सारी तुलना हो गई न इसमें कि ऐसा आया ही नहीं (पहले)। पर ये बोलना नहीं पड़ेगा उसे क्योंकि वो तो स्वाद में है न। इसलिए उसे तुलना-वुलना नहीं करना पड़ेगा, पर तुलना हो गई।

जैसे स्व को जाना न तो सारा जगत पर में चला गया, ज्ञेय में। तो पर है ये सारा जगत - ये कहने की जरूरत नहीं पड़ती है, स्व को जाना तब। उस समय स्व-पर का वास्तविक विभाग हुआ। पहले (विभाग) विकल्प में था, ज्ञान के विकल्प में विभाग (था, लेकिन) अब वास्तविक विभाग हो गया अनुभूति के समय।

परम उपकारी श्री सद्‌गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

जिनवाणी-स्तुति

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ८, तारीख १-२-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षु:-[61] प्रश्न है बाबूजी! त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा कूटस्थ-निष्क्रिय है और वेदन पर्याय में होता है। तो एक है दृष्टि का विषय और एक है ज्ञान का विषय, जिसमें मुख्य-गौण कैसे होता है? कृपया ज्ञान का स्वरूप कैसा है, वह समझाईये।

पूज्य बाबूजी:- जो त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व है, वो तो कूटस्थ निष्क्रिय और सम्पूर्ण है। अनंत शक्तियों का पिंड एक चिन्मात्र तत्त्व (है) और उसका वेदन पर्याय में होता है। वेदन पर्याय में होता है माने ज्ञान की पर्याय में वेदन होता है, अनुभव में आता है। और वो जो ज्ञान की पर्याय में अनुभव में आता है, वही दृष्टि का विषय होता है।

'यही मैं हूँ' (ऐसा) अहम् रूप में। दृष्टि में भी अहम् रूप में प्रतीति में आता है, श्रद्धा में आता है और ज्ञान में (भी) अहम् रूप में ही वेदन होता है। श्रद्धा - उसमें ज्ञान नहीं है, लेकिन श्रद्धा में भी अहम् रूप में वो प्रतीति में आता है, श्रद्धा में आता है, विश्वास में आता है। और ज्ञान में भी अहम् रूप में उसका वेदन, संवेदन (अर्थात्) आत्मानुभूति होती है। इसलिए दोनों (श्रद्धा और ज्ञान) का विषय एक ही है।

दृष्टि भी उसी को विषय करती है और ज्ञान भी उसी को विषय करता है और दोनों का स्वर एक है। ज्ञान में इसरूप में वेदन नहीं होता है (कि) ये शुद्धात्मा मेरा है। इसमें तो space (जगह) हो जाती है, अंतर हो जाता है। लेकिन 'यही मैं हूँ' - ऐसा कहकर ज्ञान और श्रद्धा दोनों अदृश्य हो जाते हैं। आत्मानुभूति की पर्याय भी अदृश्य हो जाती है (क्योंकि) स्वयं आत्मानुभूति की पर्याय, वो आत्मानुभूति का विषय नहीं है। श्रद्धा की पर्याय, वो ज्ञान का विषय होती है लेकिन सविकल्पदशा में। और निर्विकल्पदशा में ज्ञान का जो विषय है तो वो शुद्धात्मा (अर्थात्) 'यही मैं हूँ शुद्ध चिन्मात्र'; और दृष्टि का विषय भी यही होता है कि 'यही चिन्मात्र मैं हूँ'।

विश्वास अर्थात् श्रद्धा। इसमें और ज्ञान में जो अंतर है वो समझ में आना चाहिए। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भीतर से प्रश्न उठता है कि जब ज्ञान सारा काम कर लेता है तो (फिर) श्रद्धा की क्या जरूरत है? लेकिन ये हमारे प्रगट अनुभव की बात है कि श्रद्धा की पर्याय लोक में भी अलग से चलती है और ज्ञान की पर्याय अलग से चलती है। भले ही दोनों साथ-साथ चलें और दोनों का विषय भले ही एक हो, लेकिन दोनों का स्वरूप न्यारा-न्यारा है। सिद्धि करें इसकी?

61 दृष्टि और ज्ञान के विषय में मुख्य-गौण कैसे होता है? - 0.15 Mins

मुमुक्षुः- हाँ जी प्रभु! कीजिए न, एकदम।

पूज्य बाबूजी:- जैसे लोक में बहुत सी बातों का हमको ज्ञान नहीं होता। तो वहाँ केवल श्रद्धा से ही काम चलता है। सारे लोकालोक की बातों का ज्ञान हमको होता नहीं है। नहीं होता है न? तो श्रद्धा से ही काम चलता है।

जैसे साक्षात् भगवान की वाणी में भी जो करणानुयोग का विषय है, गणित Mathematics; तो वो हमारे ज्ञान का विषय नहीं होता है। क्षयोपशम इतना (ही) है न अपना, अल्प विकास है; तो वो ज्ञान का विषय नहीं होता है। लेकिन भगवान सर्वज्ञ की वाणी है ऐसा विश्वास अवश्य होता है। है न? अज्ञानी को भी होता है। ज्ञानी को तो ज्ञानपूर्वक होता है। ज्ञानी को ऐसा नहीं है कि वो श्रद्धा अँधी होती हो; तो ज्ञानपूर्वक होता है। और अज्ञानी को तो भगवान की वाणी है इस प्रकार विश्वास होता है।

और लोक में देखिए कि हम किसी डॉक्टर के पास जाते हैं। तो हम कहते हैं (कि) डॉक्टर साहब! हमको तो आपका ही विश्वास है। अब वो जो हमारी व्याधि को देखकर जो निदान करता है, diagnosis करता है.... तो diagnosis करके जो औषधि देता है... तो हमें उस बात का कुछ पता नहीं (है) कि इस औषधि में क्या है? (वो) किसकी बनी हुई है (और) क्या बनी हुई है? हम तो केवल विश्वास पर उसको लेते हैं। उसने क्या जाना ये भी हमको पता नहीं है। लेकिन हमको बता दिया (गया है) कि तुम्हें ये व्याधि है और तुम ये दवा लो। तो वहाँ ज्ञान नहीं होने पर भी केवल विश्वास काम किया करता है। इसलिए विश्वास की अर्थात् श्रद्धा की (कीमत है) और श्रद्धा माने अहम् रूप। तो वो जो (श्रद्धा की) पर्याय है वो ज्ञान से अलग सिद्ध होती है। और हमारे इस लोकोत्तर जीवन में भी श्रद्धा की पर्याय अलग चलती है और ज्ञान की पर्याय अलग चलती है।

आत्मानुभूति के समय दोनों का विषय एक ही होता है और अलग-अलग स्वर में होता है। जैसे श्रद्धा भी आत्मा को जानती है - (शब्द का) ये प्रयोग गलत है। श्रद्धा जानती नहीं है; श्रद्धा प्रतीति करती है, अहम् करती है। और ज्ञान भी अहम् करता है, लेकिन वो जानता हुआ अहम् करता है।

मुमुक्षुः- बराबर! Beautiful!

पूज्य बाबूजी:- वो जानता हुआ अहम् करता है। श्रद्धा बिना जानती हुई अहम् करती है।

(अब) ये कैसे होता है? श्रद्धा जब जानती नहीं है तो ज्ञान ने जिस आत्मा का निर्णय किया और उस आत्मा में अहम् रूप प्रवृत्ति की ज्ञान ने अर्थात् उसका वेदन किया, उसकी अनुभूति की, तो श्रद्धा वहाँ कैसे चली गई? उसमें तो ज्ञान नहीं था। तो कहें कि ऐसा होता है, क्योंकि ये सब एक ही परिवार के सदस्य हैं सारे के सारे। इसलिए परिवार के एक सदस्य ने जो search light (खोजबत्ती) दिखा दी, तो उसके पीछे-पीछे सारे चल देते हैं। इसलिए श्रद्धा (जो है वो) ज्ञान के साथ चलती है, एक ही साथ।

जैसे एक उदाहरण से अपन स्पष्ट करेंगे अच्छा समझ में आ जाएगा। हमारे सारे शरीर में देखनेवाली आँखें हैं। और कोई है देखनेवाला? और किसी के हाथ के (या) पैर के, किसी के (भी) आँख है? नहीं है। लेकिन आँख देखती हैं और पैर चलते हैं और पैरों के आँख नहीं है। तो पैर कैसे चलते हैं बिना आँख के? क्योंकि देखने का काम जिसने कर लिया तो फिर उस शरीर .... क्योंकि शरीर एक अभेद तत्त्व है न; लौकिक दृष्टि से (शरीर) एक अभेद तत्त्व है। तो उसके जो सारे अवयव हैं, वो उस आँख के साथ-साथ चलते हैं। तो आँख ने देख लिया और पैर चल पड़े। अगर आँख बंद हो जाए तो पैर लड़खड़ा जायेंगे, हाथ लड़खड़ा जायेंगे (और) सारा मनुष्य (ही) लड़खड़ा जाएगा।

इसलिए आँख, वो तो ज्ञान के स्थान पर हुई। और बाकी जो अंग हैं, वो श्रद्धा के स्थान पर हुए। हम जो भोजन करते हैं तो हाथ के आँख नहीं है। नहीं है न? लेकिन ये जो हाथ है, ये मुँह को कैसे टटोल लेता है? (निवाला) सीधा मुँह में जाता है। और आँख, वो मुँह को देखती नहीं है लेकिन (फिर भी) चला जाता है क्योंकि ये एक ही परिवार के सदस्य हैं। इसलिए परिवार का एक सदस्य जो समझदार है, तो अन्य में समझ की आवश्यकता भी नहीं है और वो सब उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

मिथ्यादर्शन में भी यही स्थिति है और सम्यग्दर्शन में भी यही स्थिति है।

ज्ञान[62] का विषय उसमें मुख्य-गौण कैसे होता है? वो मुख्य-गौण ऐसे होता है कि जैसे जिस समय आत्मानुभूति हो रही है, तो वो आत्मा मुख्य है और बाकी दूसरे सारे पदार्थ, सारा जगत उसमें गौण है। और जिस समय बाह्य पदार्थों को देख रहा है उस समय देखने में, केवल देखने में वो मुख्य हैं। और आत्मा जो है वो उस समय गौण है। गौण है माने चला गया है, ऐसा नहीं। लेकिन उस समय उसे देखने का काम नहीं हो रहा, जगत को देखने का काम हो रहा है। इसलिए उसको मुख्य कहते हैं (और) उसको गौण कहते हैं। यह एक पद्धति है प्रतिपादन की भी। तत्त्वार्थ सूत्र में आया है **अर्पितानर्पितसिद्धेः (अधिकार ५ सूत्र ३२; अर्थ - प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है।)** अर्पित माने जो हमारा विषय है, वो तो होता है अर्पित। जो ज्ञान में चल रहा है वो तो है अर्पित, और शेष विषय ज्ञान में हैं तो सही लेकिन उस समय ज्ञान उनको जान नहीं रहा (है); उनका प्रतिपादन नहीं हो रहा और जान नहीं रहा है, तो वो हैं अनर्पित। अनर्पित माने गौण हैं वो। इस तरह ज्ञान में ये हुआ।

श्रद्धा में मुख्य और गौण नहीं होता। श्रद्धा में तो मुख्य ही होता है। मिथ्यादर्शन में भी मुख्य और सम्यग्दर्शन में भी मुख्य। मिथ्यादर्शन में जगत मुख्य है, वही आत्मा है श्रद्धा का। और सम्यग्दर्शन के समय केवल शुद्धात्मा ही मुख्य है और गौण की व्यवस्था श्रद्धा में नहीं है। ये ज्ञान और श्रद्धा का (विश्लेषण)। और कुछ?

62 ज्ञान का विषय उसमें मुख्य-गौण कैसे होता है? - 10.29 Mins

मुमुक्षुः-[63] वेदन पर्याय का पर्याय में होता है या द्रव्य का होता है?

पूज्य बाबूजीः- वेदन पर्याय में पर्याय का ही होता है। लेकिन उस समय क्योंकि वो उस द्रव्य के साथ द्रव्य के आकार बन गई है, ज्ञायकाकार बन गई है; तो ज्ञायकाकार बनी, तो ज्ञायकाकार अपने को अनुभव करती है। वो इस तरह अनुभव करती है कि 'मैं मात्र ज्ञायक हूँ' - इस तरह अनुभव करती है तो अभेद हो गई। ये अभेदता हो गई न! अगर वो यूँ कहे कि 'मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ', तो पर्याय न्यारी रही और वो जो ज्ञायकाकार है वो न्यारा रहा है। वो अलग-अलग रहा।

जैसे अपन कहते हैं न (कि) 'ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है' - ये विकल्प दशा है। इस तरह 'मैं आत्मा का अनुभव करती हूँ' - तो ये विकल्प दशा है। तो 'मैं तो शुद्धात्मा ही हूँ' - बस इस तरह पर्याय में पर्याय का वेदन (होता है)। और वो ज्ञायकाकार होती है तो उसका वेदन होता है ज्ञायक का और आनंद होता है। क्योंकि जो व्यवस्था है वो यही है कि एक गुण दूसरे गुण में जाता नहीं और द्रव्य गुण में जाता नहीं। तो जो द्रव्य है, ध्रुव-शुद्धात्मा वो अपनी जगह रहता है। और पर्याय जो है (वो) उसका (द्रव्य का) सारा का सारा चित्र अपने में अपनी सामर्थ्य से उतारकर उसमें एकाकार हो जाती है। वही ज्ञाता और वही ज्ञेय, हो गया। माने वो ज्ञायक ही ज्ञाता और ज्ञायक ही ज्ञेय - पर्याय में।

मुमुक्षुः- बराबर! ज्ञायक ही ज्ञाता और ज्ञायक ही ज्ञेय, पर्याय में।

पूज्य बाबूजीः- पर्याय में।

और जब हम इस तरह बोलते हैं कि 'वो ज्ञायक का अनुभव हो रहा है', तो वो द्रव्य पर हमारा जाता है न ध्यान, तो वो व्यवहार हो जाता है।

मुमुक्षुः- वेदन होता है पर्याय को पर्याय में।

पूज्य बाबूजीः- पर्याय में होता है - ये निश्चय है।

मुमुक्षुः- माने द्रव्य का अनुभव हो रहा है, वह व्यवहार कैसे बन गया?

पूज्य बाबूजीः- वो व्यवहार हो जाएगा न (क्योंकि) ये है निश्चय तो। सम्यग्दर्शन तो इसमें हुआ न, इस समय हुआ न सम्यग्दर्शन तो। वो (द्रव्य) तो पहले भी विद्यमान था लेकिन सम्यग्दर्शन तो अब हुआ न। जब पर्याय ने ज्ञायक का आकार अपने भीतर, ज्ञायक का चित्रांकन अपने भीतर किया और फिर उसमें अभेद हो गई अर्थात् 'मैं हूँ, ये ही मैं हूँ'.... तो 'ये ही मैं हूँ' इसमें ज्ञाता भी वही और ज्ञेय भी वही। इस तरह ज्ञाता-ज्ञेय अभेद, पर्याय में अभेद हो गया। और वो अपने स्थान पर ज्यों का त्यों स्तंभ की तरह, स्तूप की तरह पड़ा रहा, जो शुद्धात्मा है (वो)। क्योंकि यहाँ principle (सिद्धांतों) का खंडन नहीं होता है, principle (सिद्धांतों) में फर्क नहीं पड़ता है। अगर

63 वेदन पर्याय का होता है या द्रव्य का होता है? - 12.20 Mins

यहाँ हम फर्क डाल देंगे तो सारे जगत में फर्क पड़ जाएगा और परपदार्थ आत्मा में प्रवेश करने के अधिकारी हो जायेंगे।

तो ज्ञायक पर्याय से भिन्न तत्त्व है। भिन्न माने परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले तत्त्व हैं। वो नित्य है और ये अनित्य है। तो अगर नित्य अनित्य में आ गया, तो फिर अन्य पदार्थ (और) अन्य सारा जगत चिल्लायेगा (कि) तुमने जो है कानून भंग कर दिया। इसलिए अब तुम्हारा जो है दरवाजा खोल दो। (अब) अचेतन भी चेतन में आएगा और चेतन अचेतन में जाएगा। लेकिन कुदरत का जो संविधान है वो कभी भंग नहीं होता है, चाहे अपने ऊपर apply (लागू) करो या दूसरे पर apply (लागू) करो।

मुमुक्षुः-[64] पर्याय ने अपना ज्ञायक बना लिया।

पूज्य बाबूजीः- बना लिया। पर्याय ज्ञायक नहीं बनावे तो (फिर) क्या किया उसने? उस समय क्या, कमाल क्या हुआ फिर? उसमें क्या कमाल हुआ? वो तो सामने वस्तु है जो, (वो) देख ली। और फिर पर्याय का सत् क्या हुआ?

मुमुक्षुः- यदि ये नहीं होता तो।

पूज्य बाबूजीः- नहीं होता तो। वो तो पर्याय तो खाली ही रही (फिर), वो तो केवल देखनेवाली रही। पर्याय ने अपना ज्ञायकाकार बनाया कहाँ? वो तो खाली रही और उसको ज्ञायक को देखती रही। तो वो होता नहीं है। वो (तो) होता नहीं है (क्योंकि) वो ज्ञायक में जा नहीं सकती है, पहुँच नहीं सकती है। तो इस तरह जानना होता है कि वो अपने रस से, स्वरस से ज्ञायक का स्वतंत्र आकार बनाती है और उसी में लीन हो जाती है।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! तभी तो वो पर्याय है।

पूज्य बाबूजीः- तभी पर्याय है और सत् है न वो। समर्थ है वो भी, बहुत सामर्थ्य है उसकी। उसी समय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तीनों एक साथ अविनाभावीरूप से (जन्मते हैं)। (इस प्रकार) निश्चय रत्नत्रय की उपलब्धि होती है।

मुमुक्षुः- वो खाली नहीं रहती। बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- खाली नहीं रहती। खाली रहेगी न वरना वो तो! उसके भीतर क्या रहा?

वो तो प्रतिभास से भरी हुई होना चाहिए, हर समय। तो हमने दूसरे के तो प्रतिभास से इनकार कर दिया और अपना जहाँ नंबर आया तो वहाँ हमें (सिद्धांत से) इनकार हो गया। वहाँ हमने वो बात स्वीकार कर ली उसके विरुद्ध कि - नहीं! ज्ञायक का ही अनुभव हो रहा है। तो ज्ञायक का अनुभव हो रहा है, तो ध्रुव का अनुभव जो है (वो) अनित्य में कैसे होगा? ध्रुव अनित्य में कहाँ से आयेगा? और ये अनित्य है, ये ध्रुव में कहाँ से जाएगा? इसलिए ये अपना तैयार करती (है) माने द्रव्याधीन नहीं है।

64 पर्याय ने अपना ज्ञायक बना लिया। - 16.22 Mins

मुमुक्षुः- बराबर! सत्-अहेतुकता है।

पूज्य बाबूजीः- द्रव्य के आधीन नहीं है।

मुमुक्षुः- नहीं तो वो सापेक्ष बन जाती, परतंत्र बन जाती।

पूज्य बाबूजीः- परतंत्र बन जाती है न!

मुमुक्षुः- सत् नहीं रहती।

पूज्य बाबूजीः- जब हम अपने द्रव्य में इसतरह का थोड़ा भी लिहाज़ नहीं करते तो पर में कैसे लिहाज़ करेंगे? हम तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही लिहाज़ नहीं करते हैं कि ये भी स्वतंत्र सत् है और (सभी) अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अपना-अपना काम करते हैं। यहीं लिहाज़ नहीं है, जैनदर्शन तो इतना बेलिहाज़ है!

मुमुक्षुः- स्वतंत्र है तो लिहाज़ किसका?

पूज्य बाबूजीः- बस! स्वतंत्रता की हद है।

मुमुक्षुः- बाबूजी! ज्ञायक का कितना अकर्तापना रहता है! निर्मल पर्याय भी हो तो भी वो तो वहाँ का वहाँ, वैसा का वैसा ही।

पूज्य बाबूजीः- वैसे का वैसा ही। वो तो ध्रुव है न, स्तूप है स्तूप बिल्कुल। ज्ञायक जो है वो स्तूप है। ज्ञान का काम जानना है उपादेयरूप से। तो वो उपादेयरूप से जानकर 'यही मैं हूँ' बस, ये उसका स्वर (है और) यही श्रद्धा का स्वर (है)। पर दोनों का काम न्यारा-न्यारा (है)। श्रद्धा का काम न्यारा (कि) अहम् करना और ज्ञान भी यहाँ अहम् ही कर रहा है। स्वर दोनों का एक होने पर भी काम दोनों के न्यारे-न्यारे हैं। क्योंकि ये अन्य में भी व्यवसाय कर सकता है ज्ञान....अन्य को भी (जानता है, लेकिन) श्रद्धा में ये नहीं होगा। श्रद्धा के सामने अगर कोई अन्य होगा तो (फिर) उसका (श्रद्धा का) नाम मिथ्यादर्शन। जिस समय ज्ञायक की श्रद्धा हुई, अहम् हुआ ज्ञायक में (तो फिर) उसके अतिरिक्त फिर पूरे जीवन में, अनंतानंतकाल में भी अगर श्रद्धा के सामने कोई दूसरा आ गया तो मिथ्यादर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। श्रद्धा ने किसी दूसरे को विषय बना लिया तो मिथ्यादर्शन हो जाएगा। तो हों भले ही दूसरे, लेकिन ज्ञायक में अहम् के पश्चात् कोई दूसरा उसका विषय बनता नहीं है।

मुमुक्षुः- और ज्ञान उपादेयरूप से जानता है?

पूज्य बाबूजीः- उपादेय, सब उपादेयरूप। इसने श्रद्धा ने भी उपादेयरूप से ही जाना। इसने भी उपादेयरूप से ही प्रतीति की है। जाना नहीं है, प्रतीति की है।

मुमुक्षुः- माने ज्ञान का उपादेयरूप से जानना वही सही ज्ञान का स्वरूप है?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उसमें तो हेय-उपादेय दोनों कोटि होती हैं (मगर) श्रद्धा में तो एक ही कोटि है। केवल उपादेय अर्थात् अहम्।

मुमुक्षुः- ये ज्ञान का अहम् कैसे होता है बाबूजी?

पूज्य बाबूजी:- बस वैसा का वैसा ही। 'यही मैं' - बस! हो गया।

मुमुक्षु:- तो वो तो एकत्वरूप परिणमन होता है।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! तो एकत्वरूप परिणमन है, वही है न लेकिन। स्वर तो, माने बात तो वही है न एकदम। वो भी उसी तरह वेदन कर रहा है और वो भी उसी तरह प्रतीति कर रही है।

'यही मैं'; ज्ञान भी कहता है 'यही मैं' - सारे गुण (ऐसा) कहते हैं। सारे गुणों का स्वरूप ऐसा ही है क्योंकि सभी ढल जाते हैं न। जिस समय होता है आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन, तो उस समय सारे ही गुण आत्मा की ओर ढल जाते हैं और अपने-अपने योग्य उनकी पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है। जैसे चारित्र में किंचित् शुद्धता प्रगट हुई (और) ये दोनों पूरे शुद्ध हो गए - श्रद्धा और ज्ञान। केवलज्ञान की अपेक्षा कमी है वो एक अलग बात। पर दोनों पूरे हो गए और उधर चारित्र में कमी है, सुख में कमी है। और-और बहुत गुण हैं।

मुमुक्षु:-[65] बाबूजी! यहाँ ज्ञान की मध्यस्थता कहाँ हुई? ज्ञान की मध्यस्थता जो है वो कौनसे चरण (stage) पर होती है?

पूज्य बाबूजी:- ज्ञान की मध्यस्थता माने सारे जगत के प्रति मध्यस्थ हो गया हो - ये मध्यस्थता। सारे जगत में मेरा कोई नहीं है, सब एक पँक्ति में हैं। एक ओर मैं (और) एक ओर सारा जगत - ये मध्यस्थता हुई। उसे कोई राग और कोई द्वेष नहीं - ये मध्यस्थता है।

जैसे शुद्धात्मा को, अपनी सत्ता को अंगीकार कर लिया तो अन्य जितने भी हैं, वो ज्ञेय-कोटि में चले गए। उसी का नाम मध्यस्थता अर्थात् किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष - ये समाप्त हो गया। ये नहीं है।

मुमुक्षु:- अन्य को ज्ञेय-कोटि में डाल देने के बाद न किसी के ऊपर राग (और) न किसी के ऊपर द्वेष?

पूज्य बाबूजी:- कुछ नहीं है। ज्ञान तो इतना निर्णायक है न, ये न्यायाधीश है। ये न्यायाधीश है Supreme Court (उच्चतम न्यायालय) का, इसका निर्णय फिरता नहीं है। इसलिए अत्यंत मध्यस्थ (है) सबके प्रति। कोई नहीं, कोई इष्ट और कोई अनिष्ट नहीं। कोई राग का विषय (नहीं) और कोई द्वेष का विषय (नहीं)। कुछ नहीं! राग और द्वेष ही मेरे नहीं तो उनके विषय का क्या काम? सबके प्रति मध्यस्थ! अपनी पर्यायों के प्रति भी मध्यस्थ।

मुमुक्षु:- कोई पर्याय १०० % (शुद्ध) हो गई (और) कोई पर्याय कम होवे, कोई तकलीफ नहीं।

पूज्य बाबूजी:- हाँ! कैसा भी हो! कैसा भी हो! उसको मतलब ही नहीं माने उससे। उसको एकमात्र उस चिन्मात्र से मतलब रह गया (है)। उसी की ओर बार-बार जाने का श्रद्धा भी प्रयत्न करती है (और) ज्ञान भी प्रयत्न करता है।

65 ज्ञान की मध्यस्थता का स्वरूप। - 22.51 Mins

श्रद्धा के लिए तो वो सर्वकालिक हो गया। सार्वकालिक और सार्वदेशिक हो गया श्रद्धा के लिए (तो)। अब अगर जैसे क्षायिक सम्यक्त्व है तो ये तो अनंतानंत काल तक केवल एक मात्र उस ज्ञायक को विषय करती रहेगी वो। बस ज्ञान में है ये बात क्योंकि उसके विषय अनेक हैं, वो सविकल्प है। श्रद्धा निर्विकल्प होती है। ज्ञान सविकल्प होता है अर्थात् उसमें भेद-प्रभेद सहित पदार्थ अनुभव में आता है, ऐसा। दर्शन निर्विकल्प होता है, तो उसमें भेद-प्रभेद सहित उसका देखना नहीं होता। उसमें केवल सत् रूप में देखना होता है, केवल सत् हर चीज; अपना आत्मा भी सत् रूप में।

मुमुक्षुः- श्रद्धा में तो once and for all (हमेशा के लिए), बस।

पूज्य बाबूजीः- बस! श्रद्धा में तो हमेशा के लिए हो गया। उसमें फरक नहीं पड़ेगा। ज्ञान अंतर-बाह्य, अंतर-बाह्य इस तरह से व्यवसाय करता रहता है।

मुमुक्षुः- इसमें सर्वथा।

पूज्य बाबूजीः- (हाँ!) श्रद्धा में।

मुमुक्षुः-[66] प्रश्न है कि स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार धर्म स्वाभाविक है। फिर से, स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार धर्म स्वाभाविक है। (तो) ज्ञेयाकार धर्म को स्वीकारने से अनुभव होता है कि निषेधने से अनुभव होता है? कृपया समझाईये।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान की जो स्वपरप्रकाशक पर्याय है, तो वो वास्तव में तो स्वप्रकाशक है। वास्तव में जब उसका हम विश्लेषण करते हैं अच्छी तरह (से) तो वो स्वप्रकाशक ही सिद्ध होती है। अब स्वप्रकाशकता में जो प्रतिभास होता है, उसे ज्ञेयाकार भी कहते हैं और ज्ञानाकार भी कहते हैं। असल में ज्ञेयाकार नहीं है क्योंकि जो ज्ञेयाकार है, वो तो ज्ञेय के पास रहता है। ज्ञान के पास नहीं आता है ज्ञेय का आकार। लेकिन वो इसलिए कहते हैं कि जो जैसा ये ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार ज्ञान के भीतर हो रहा है, ठीक ऐसा ही ज्ञेय और ज्ञेयाकार वो बाहर पड़ा हुआ है। इसलिए इसको ज्ञेयाकार कहने से दोनों प्रकार की सिद्धि हो जाती है, निश्चय की भी (और) व्यवहार की भी। लेकिन पहले निश्चय को जाने। पहले ये जाने कि ये ज्ञेयाकार नहीं (बल्कि) यह ज्ञानाकार है। ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञान है और मैं हूँ - ऐसा विकल्प दशा में ये निर्णय कर ले पहले। तो फिर उसको ज्ञेयाकार कहने में कोई दिक्कत नहीं है। और ज्ञेयाकार कहना चाहिए (मगर) मानना नहीं चाहिए। मानना मिथ्यादर्शन और कहना व्यवहारनय, (वो भी) आत्मदर्शन होने के बाद।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! Condition (शर्त) - आत्मदर्शन होने के बाद।

पूज्य बाबूजीः- आत्मदर्शन होने के बाद (ही) वरना (वो) मिथ्यादर्शन है। वो ज्ञेयाकार ही मानता है, ज्ञेय ही मानता है। ज्ञेयाकार (और) ज्ञेय में कोई फरक नहीं है। ज्ञेय ही मानता है।

66 ज्ञेयाकार धर्म को स्वीकारने से अनुभव होता है कि निषेधने से अनुभव होता है? - 26.11 Mins

अधिकांश जिनवाणी में भी ज्ञेयाकार शब्द का प्रयोग हुआ है। एक बार कह दिया लेकिन, तो (फिर) बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे रेडियो चलता है न तो वो कहते हैं 'हम दिल्ली से बोल रहे हैं'। अब वो कोई दस बार नहीं दोहरायेगा उस बात को। बीच में एक-आध बार और कह देगा। तो इस तरह एक बार वो नियम जान लिया कि सचमुच पर का प्रवेश होता ही नहीं है इसलिए ज्ञानाकार ही है और ज्ञान ही जानने में आता है। ये जितने प्रतिभास हैं वो सब ज्ञान हैं। ज्ञान हैं और वो (सभी) प्रतिभास जाननभावरूप हैं। वो केवल चित्र नहीं (हैं)। (वो) पदार्थों के चित्र नहीं हैं लेकिन वो जाननभावरूप हैं। तो वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है। वो प्रतिभास जो है, वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है, तो (वो) ज्ञान ही ज्ञान है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- इस तरह जानता है।

मुमुक्षुः- ये बात दोहराई जाये बाबूजी (कि) प्रतिभास जो है.....

पूज्य बाबूजीः- वो स्वयं ज्ञानरूप है और वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है। इसलिए स्वयं ही जानने में आता है, अपनी पर्याय ही जानने में आती है। और प्रतिभास वो ज्ञान की पर्याय है। तभी तो हम कह सकेंगे कि ज्ञान की पर्याय ही जानने में आती है।

मुमुक्षुः- प्रतिभास है जो जानन स्वभावरूप है!

पूज्य बाबूजीः- जाननभावरूप है। पर्याय है वो तो अखंड (है) अपने श्रुतज्ञान में भी। एक अखंड पर्याय है प्रतिभासवाली, जिसमें पूरा का पूरा ज्ञेय फैला है एक तरह (से), जानने में। जैसे अणु को जाना या सुमेरु पर्वत को जाना। तो जाना तो सुमेरु पर्वत है, ऐसा। तो सुमेरु पर्वत है ये जो वचन है, ये वचन ज्ञान की ओर से देखें तो ज्ञान है। और सुमेरु पर्वत की ओर से कहें तो वो व्यवहार कि सुमेरु पर्वत दिखाई दे रहा है - ये व्यवहार हो गया। 'सुमेरु पर्वत है' ऐसा ज्ञान में विकल्प आया। तो 'सुमेरु पर्वत है' - ये सुमेरु पर्वत है या ज्ञान है?

मुमुक्षुः- ज्ञान है।

पूज्य बाबूजीः- दोनों में से क्या है? ज्ञान है! लेकिन सुमेरु पर्वत की ओर से अगर अपन कहें.... क्योंकि उसकी विद्यमानता है न! इसलिए अब ये दूसरे विकल्प पर अपन जाते (हैं) परप्रकाशकता (के विकल्प) पर। तो ये परप्रकाशकता इस तरह सिद्ध हो जाती है कि 'सुमेरु पर्वत है'। तो ये बात हमने निश्चय में तो इस तरह जानी कि ये तो ज्ञान ही है, ज्ञानाकार ही है और ज्ञान ही है। लेकिन 'सुमेरु पर्वत है' इससे ये भी सिद्ध हुआ कि सुमेरु पर्वत नाम की कोई चीज बाहर है और वो जानने में आ रही है, इसका नाम व्यवहार (अर्थात्) परप्रकाशकता। तो जो परप्रकाशकता है वो स्वप्रकाशकता की ही पर्याय है; माने वो स्वप्रकाशक पर्याय ही है जिसका नाम परप्रकाशकता है। अलग से कोई चीज नहीं (है)। अलग से कोई चीज नहीं है।

दो पर्याय नहीं होती हैं कि एक पर को जान रही हो और एक स्व को जान रही हो - इस तरह दो नहीं होती हैं। उसी के दो विकल्प हैं, स्वप्रकाशकता के (ही) दो विकल्प हैं।

मुमुक्षुः- परप्रकाशक है, वही स्वप्रकाशक है।

पूज्य बाबूजीः- उस स्वप्रकाशकता की पर्याय है वो, जिसे हम परप्रकाशकता कहते हैं ज्ञेय की तरफ से। और कहना (भी) चाहिए; अगर नहीं कहें तो अन्य पदार्थ का लोप होता है क्योंकि निश्चय में तो हम ये कहेंगे कि 'ज्ञान ही जानने में आ रहा है'। उसका तो एक ही स्वर रहेगा आदि से अंत तक। क्या जान रहे हो? कि मैं तो ज्ञान ही जान रहा हूँ। तो ज्ञान ही जान रहा है ऐसा अगर एकांत निश्चय रखेगा और उधर व्यवहारनय का जो विषय है कि जगत भी है, तो उसकी सिद्धि कैसी होगी? तो फिर सर्वज्ञता पर आँच आयेगी, सर्वज्ञ की वाणी पर आँच आयेगी, द्वादशांग पर आँच आयेगी, सब पर आँच आयेगी। इसलिए जो ज्ञानाकार है, असल में जो प्रतिभास है, उस प्रतिभास को ज्ञेय का नाम देना चाहिए और कहना चाहिए लेकिन मानना नहीं चाहिए।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! Beautiful.

पूज्य बाबूजीः- मानेगा तो मिथ्यादर्शन हो जायेगा। कहेगा तो व्यवहारनय होगा (वो भी) आत्मदर्शन होने की बाद।

मुमुक्षुः- बराबर! एकदम स्पष्ट! प्रतिभास को ज्ञेयाकार का नाम देना चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- देना चाहिए। इसलिए देना चाहिए कि पदार्थ तो अनेक हैं न। (और) हर पदार्थ का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होता है। और है एक अखंड ज्ञान की पर्याय, केवलज्ञान लें अपन तो।

जैसे अनंतानंत पदार्थ हैं और सबका जो है भिन्न-भिन्न (प्रतिभास) ..... क्योंकि सब भिन्न-भिन्न हैं न। तो भिन्न-भिन्न प्रतिभास होगा सबका एक ही पर्याय में। माने इसका अर्थ ये कि एक ही पर्याय वो सारे पदार्थों के स्वरूप को जान रही है। ये परमाणु है, ये मेरु है, ये घड़ा है, ये कपड़ा है - एक ही पर्याय वो सबको जान रही है। तो ये घड़ा है, ये कपड़ा है, ये सब प्रतिभास (अर्थात्) आकार, आकार सबके। तो अनंत आकारों का जैसे मेला लग गया है, एक ज्ञान की पर्याय में। तो इसलिए किसी समय वो ज्ञान की पर्याय कौनसे पदार्थ को जान रही है - ये निर्णय कैसे होगा? क्योंकि एक ही पदार्थ अनेक तरह से होता है। परमाणु हैं जैसे, अनेक हैं।

ऐसे निश्चय व्यवहार वहाँ थोड़ी (ना) होता है। ये तो यहाँ होता है, अपने जानने में निश्चय-व्यवहार तो। वहाँ निश्चय-व्यवहार थोड़े ही है। वहाँ तो जानने में आ रहा है स्वयंमेव, स्वतः ज्ञान की सामर्थ्य से अलग-अलग, सब अलग-अलग। अलग-अलग (भी) और सब सम्मलित और एक (भी)। पर्याय की ओर से देखें तो एक और ज्ञेयों की ओर से देखें तो न्यारे-न्यारे, सब अलग-अलग। इसतरह जानने में आ रहे हैं।

पर अपन जब स्वपरप्रकाशकता का निर्णय करते हैं तो अपने को निश्चय-व्यवहार प्रगट होता है। तो ज्ञान ही जानने में आता है - ये निश्चय; और ज्ञान का विषय उस समय कौन है - इसका नाम व्यवहार। क्योंकि ज्ञान को कोई विषय नहीं होता असल में।

भाई! क्या होगा? ज्ञान का तो ज्ञान ही है न! ज्ञान का कोई संबंध है क्या किसी से? क्योंकि ज्ञान का विषय कहने से संबंध प्रगट होता है न? तो (क्या) ज्ञान कोई संबंधवाला है किसी के साथ? नहीं है। इसलिए ज्ञान का कोई विषय नहीं है, सबसे पहले तो ये मानकर चलो। वो स्वयं ही उसका विषय है - ये भी व्यवहार (है)।

मुमुक्षुः- आहाहा! बहुत सुंदर! जो अपनी स्वयं की थी वो बात आ गई न! बराबर! आहाहा! वो तो ज्ञायक ही विषय है।

पूज्य बाबूजीः- वो तो ज्ञायक ही है, वो तो अंत में तो वहाँ जाना है। इसलिए उसको नाम देना वो बहुत आवश्यक होता है। क्योंकि जैसे किसी ने प्रश्न किया कि भाई! इस समय मान लीजिए अपने ही ज्ञान में, श्रुतज्ञान में कौन जानने में आ रहा है? तुम्हारे यहाँ पर जो है सामने ५० घड़े हैं। उन ५० घड़ों में से कौनसा घड़ा जानने में आ रहा है? तो ज्ञान में वो बात निश्चित होना चाहिए न। क्योंकि ५० जानने में आ रहे हैं तो उनमें से वो ५० वाँ कौनसा है? तो इसलिए वो जो ज्ञान की पर्याय है, उसमें हम point out (अंकित) कर देते हैं कि ये है वो; ये घड़ा है वो (जो) ज्ञान में (है)। इसका नाम व्यवहार हो गया, परप्रकाशकता हो गई इसका नाम। और सिद्धि हो गयी कि बाहर भी ५० घड़े हैं और ज्ञान में भी ५० घड़े बन रहे हैं, वैसे के वैसे।

मुमुक्षुः- निगोद के जीव का भी ज्ञान....

पूज्य बाबूजीः- निगोद के जीव का भी ज्ञान ऐसा का ऐसा ही (है)। ऐसे ही जानता है वो भी। वो भी ऐसे ही जानता है, मिथ्या जानता है लेकिन। मिथ्या जानता है कि 'देह मैं हूँ'।

मुमुक्षुः- पर वो ज्ञेयों का ज्ञान हो जाता है उनको।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! क्यों नहीं होगा? ये देह मैं हूँ - ये रात और दिन है न। निरंतर ये ही तो है उसके और है भी क्या? कोई परिग्रह नहीं है उसके पास। तो निष्परिग्रह नहीं है, महापरिग्रही है। महापरिग्रही है।

मुमुक्षुः- मतलब बाबूजी! ये पूरा जाननभावरूप ही है।

पूज्य बाबूजीः- पूरा जाननभावरूप है। ज्ञान ही है। आत्मा को तो इतना कहा न आचार्यों ने क्योंकि ज्ञान ही है वो तो। और फिर उसका analysis (विश्लेषण) भी किया, उसका स्पष्टीकरण भी किया कि आत्मा को सिर्फ एक ज्ञान गुणवाला नहीं मान लेना। हाँ! ऐसा ज्ञान के साथ लिहाज़ नहीं कर रहें हैं हम। अनंत गुणवाला है लेकिन ज्ञान ही है (ऐसा) कहने में जो आत्मा के अनंत गुण (हैं) वो भी ज्ञान में ही प्रतिभास्यमान होते हैं। इसलिए सिर्फ ज्ञान को देख लो या अन्य गुणों को

देख को या जगत को देख लो, किसी को भी देख लो। सिर्फ ज्ञान देख लो, ज्ञान की एक पर्याय देख लो, बस।

मुमुक्षुः- या तो अन्य गुणों को देख लो या तो समस्त विश्व को देख लो।

पूज्य बाबूजीः- सब को देख लो। सिर्फ एक ज्ञान की पर्याय को देख लो। सब कुछ आ गया, सब कुछ। अपने अनंत गुणों का प्रतिभास, अपनी अनंत पर्यायों का प्रतिभास, अपने द्रव्य का प्रतिभास और सारे जगत का प्रतिभास एक पर्याय में, और एक अखंड पर्याय। उन प्रतिभासों के कारण ज्ञान खंडित नहीं होता क्योंकि ज्ञान तो जाननरूप है, जाननरूप। सारा का सारा जाननरूप, वो सारा प्रतिभास ही जाननरूप है; जाननेरूप है और ज्ञेय भी स्वयं ही है।

मुमुक्षुः-[67] तो बाबूजी! परप्रकाशक मात्र अस्तित्व की सिद्धि करता है, बस इतना ही? इतना ही?

पूज्य बाबूजीः- बस, इतना। अस्तित्व की सिद्धि करना चाहिए न। नहीं करेगा तो ज्ञान जो है निर्मल होना तो दूर है, स्वच्छ भी नहीं रहेगा। स्वीकार किया न इसने कि जगत है - ऐसा ज्ञान ने स्वीकार किया। तो 'जगत है' - ये स्वीकार किया तो ये जगत की ओर से देखेंगे तो इसको 'जगत का ज्ञान' कहते हैं। और 'जगत है' इसको ज्ञान की ओर से देखें तो वो ज्ञान ही है।

मुमुक्षुः- बराबर! एकदम स्पष्ट! और वही रहना चाहिए बाबूजी।

पूज्य बाबूजीः- वही है माने वही, अंतर्मुख होने की प्रक्रिया वही है।

मुमुक्षुः- प्रक्रिया वही है बस! प्रयोजनभूत बात वो ही है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! पर को जानता है इसमें तो कर्ता-कर्म भाव पैदा होता है। कर्ता-कर्म भाव का अज्ञान और मिथ्यादर्शन पैदा होता है, क्योंकि ये जाननेवाला और पर इसका कर्म। जब (कि) नियम ये है कि कर्ता और कर्म का अनन्यत्व होता है; वो एक ही पदार्थ में एक ही जगह रहते हैं और कर्ता जो है कर्म में व्यापक होता है। (तो) जाननेवाला अगर किसी दूसरे को मानेंगे तो वो हो गया कर्म और ये हो गया कर्ता। तो दोनों में व्याप्य-व्यापकभाव होकर दोनों एक हो गये, जड़ और चेतन।

मुमुक्षुः- वस्तु व्यवस्था खतम हो गयी।

पूज्य बाबूजीः- वस्तु व्यवस्था खतम हो गयी। इसलिए ज्ञान का ज्ञेय, ज्ञान का ज्ञेय, ज्ञान का ज्ञेय ये सारा व्यवहार है; ये सब व्यवहार-कथन है। कहने मात्र का कथन – ऐसा; मानने का बिल्कुल नहीं। ज्ञान का कोई ज्ञेय नहीं होता, स्व ही ज्ञेय है।

मुमुक्षुः-[68] Masterpiece (उत्तम कृति)! बहुत सुंदर! ज्ञान का कोई ज्ञेय नहीं होता। स्वयं ज्ञेय है वो भी व्यवहार है। बाकी ज्ञायक ही ज्ञेय है, वो भी अभेदरूप से।

67 परप्रकाशक मात्र अस्तित्व की सिद्धि करता है। - 39.02 Mins

68 ज्ञान निर्विषयी है। - 40.47 Mins

मुमुक्षुः- इसलिए निर्विषयी है?

पूज्य बाबूजीः- हाँ!

मुमुक्षुः- आहाहा! वाह बाबूजी, अद्‌भूत!

ये जरा स्पष्ट समझाए (कि) ज्ञान ही निर्विषयी है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ज्ञान ही विषय है।

मुमुक्षुः- नहीं! ज्ञान निर्विषयी है इसका थोड़ा खुलासा और कीजिए।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान निर्विषयी है माने ज्ञान का कौन है जगत में? क्या उत्तर है इस प्रश्न का? जगत में ज्ञान का कौन है?

अगर हम कहें कि ज्ञान के विषय हैं, तब तो ज्ञान के विषय अचेतन हो गये तो (ज्ञान से) संबंध हो गया। इसलिए ज्ञान का तो ज्ञान ही है और ज्ञान का आत्मा है बस, अंत में।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! ज्ञान का आत्मा है।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान का कौन हो सकता है? कौन है हमारा अच्छा! हम ज्ञान को गौण करें और आत्मा के लिए पूछें कि आत्मा का जगत में कौन है? कोई नहीं है। तो ज्ञान का कौन है?

मुमुक्षुः- आत्मा के अनंत गुण, वो जानने की चेष्टा वो प्रतिभासरूप होती है, तो इससे अभेदरूप जाना जाता है कि भेदरूप जाना जाता है?

पूज्य बाबूजीः- भेदरूप भी है (और) अभेदरूप भी है। भेदरूप भी अभेदरूप भी इस तरह (से) है कि सबका भिन्न-भिन्न है और वो ज्ञान की एक अखंड पर्याय है - इसतरह भेद और अभेद दोनों हैं। अंत में अभेद कर लेना चाहिए। क्योंकि ज्ञान ही है, इसमें क्या देखूँ मैं? इसमें मुझे क्या देखना है?

मुमुक्षुः- बाबूजी! ये पूरे ज्ञानस्वभाव का analysis (विश्लेषण) आ गया।

पूज्य बाबूजीः- Analysis (विश्लेषण) पूरा।

मुमुक्षुः- पूरा आ गया ज्ञान स्वभाव का, ज्ञान पर्याय का। आहाहा!

पूज्य बाबूजीः- पूरा आ गया।

कोई पदार्थ मेरे जानने में आता है इसको तो स्पष्टरूप से मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप अध्यवसान कहा है। अध्यवसान!

ज्ञान का कौन विषय है? ज्ञान की जो पर्याय है वो अत्यंत निरपेक्ष पैदा होती है। उसको विषय से क्या मतलब है? उसका विषय अगर हो तो क्या विषय उसे मदद करता है? या उसे प्रभावित करता है? सहायता करता है? क्या कारण होता है विषय? तो ज्ञान को विषय की कहाँ जरूरत है? ज्ञान में तो स्वतः ही सारा जगत आ पड़ता है जैसे, अपने आप ही। तो फिर ज्ञान को कहाँ जरूरत है किसी को विषय बनाने की? ये तो स्वयं स्वतंत्र, स्वाधीन बिल्कुल निरपेक्ष सबसे, अन्य गुणों से भी निरपेक्ष और आत्मा से भी निरपेक्ष (है)।

मुमुक्षुः- Fantastic (जबरदस्त)! आत्मा से भी निरपेक्ष!

इसमें अहंभाव कैसे होता है? आत्मा से निरपेक्ष हुआ जब ज्ञान, आत्मा से भी निरपेक्ष हुआ तो ज्ञायक में अहंभाव कैसे कर सकता है?

पूज्य बाबूजीः- हो गया न ज्ञायक में अहंभाव तो, वो तो पहले ज्ञायक ही अहम् करने लायक है - ये पहले निश्चय कर लिया। ये तो जिस समय द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार किया तो उस समय ये निश्चय हो गया कि तीनों में से कौन है अहम् करने लायक है। उपादेय बनाने लायक कौन है। अपनी पर्याय की जो श्रद्धा है और अपनी पर्याय का (जो) अहम् है, उसका नाम मिथ्यादर्शन है और मिथ्यादर्शन का फल निगोद होता है।

अब[69] हम इस बात पर गहराई से विचार करें कि अपनी पर्याय की श्रद्धा अगर हमने कर ली तो क्या अनर्थ कर दिया? और आचार्य उसको मिथ्यादर्शन कहकर हमको निगोद भेज रहे हैं। तो हमने क्या बिगाड़ कर लिया अपनी पर्याय की श्रद्धा कर ली तो? कौन देगा उत्तर (इसका), अच्छा बताओ। अपनी पर्याय की श्रद्धा, स्वयं अपनी पर्याय, भले (ही) निर्मल पर्याय, उसकी श्रद्धा कर ली तो उसका नाम मिथ्यादर्शन है और उसका फल निगोद है। तो क्यों है? ये इतना बड़ा दंड क्यों है?

मुमुक्षुः- एक समय की पर्याय में अहंभाव किया न उसने?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! तो किया तो किया, उसकी थी वो। क्या झगड़ा पड़ गया उसमें? इतना बड़ा दंड कैसे होना चाहिए?

मुमुक्षुः- मिथ्यादर्शन कहा....

पूज्य बाबूजीः- हाँ! तो यही है हम सुयुक्ति से निर्णय नहीं करते (हैं) हम। (बस) हम हाँ में हाँ मिलाते हैं। सुयुक्ति से निर्णय हो कि क्यों है ये बात कि पर्याय में अगर हमने अहम् कर लिया तो वो मिथ्यादर्शन है.... मिथ्यादर्शन सबसे बड़ा पाप है, तो उसका फल निगोद होता है। तो क्यों होगा ऐसा?

मुमुक्षुः- (उसका) एक समय का आयुष्य है बाबूजी!

पूज्य बाबूजीः- वो तो एक समय का है, तो है इससे क्या मतलब? है तो हमारा न! एक समय का है तो क्या हो गया?

मुमुक्षुः- उसका स्थायीपना नहीं है न। अनित्य का, अनित्य पर्याय का.....

पूज्य बाबूजीः- वो नहीं है कुछ! वो नहीं है कुछ!

ये ज्ञान का धर्म है कि वो द्रव्य-गुण-पर्याय में से उपादेय का निर्णय करे। और क्योंकि उसने गलत निर्णय किया है इसलिए ये अपराध हुआ। उसने सारे चैतन्य के स्वरूप को बदल

69 एक समय की पर्याय का अहम् करने से मिथ्यादर्शन जैसा बड़ा अपराध क्यों? - 44.37 Mins

दिया। चैतन्य के सारे स्वरूप को उसने बदल दिया। सारे जीवलोक, उसका स्वरूप बदल दिया उसने।

ये ज्ञान का धर्म है कि वो तीनों में से हेय-उपादेय का निर्णय करे, भले उसी के हैं।

मुमुक्षुः- Point note किया जाए। Absolutely Perfect (एकदम सही)!

पूज्य बाबूजीः- वरना अपराधी (है) वो ज्ञान। अपराधी है वो ज्ञान। क्योंकि उसने, जो उपादेय था उसके स्थान पर हेय को चुन लिया; हेय का वरण कर लिया। तो ये फिर सारे जीवलोक का स्वरूप हो गया न। तो उसने स्वरूप ही बदल दिया सारा, तो बहुत बड़ा अपराध है।

मुमुक्षुः- ज्ञान अपने धर्म से च्युत हुआ।

पूज्य बाबूजीः- च्युत हुआ बिल्कुल। कर्तव्य से च्युत हुआ।

मुमुक्षुः- धर्म से नहीं, कर्तव्य से च्युत हो गया। आहाहा! जिसको हेय करना था उसको उपादेय मान लिया, वही उसका बहुत बड़ा अपराध हो गया।

पूज्य बाबूजीः- उसको उपादेय मान लिया, बहुत बड़ा अपराध है। क्योंकि सारे ही जीवलोक का स्वरूप बदल गया न। सबका बदल गया।

मुमुक्षुः- सबका बदल गया। बराबर है!

पूज्य बाबूजीः- माने मोक्ष का कपाट (दरवाज़ा) बंद कर दिया।

मुमुक्षुः- बराबर! अपनी आत्मा के प्रति अपराध नहीं हुआ, समस्त विश्व के ऊपर अपराध हो गया।

पूज्य बाबूजीः- समस्त विश्व के प्रति हो गया अपराध।

मुमुक्षुः- क्योंकि समस्त विश्व को अपनी एक सत्ता में माना। हेय-उपादेय उसका धर्म है।

पूज्य बाबूजीः- इसलिए लिहाज़ नहीं है जैनदर्शन में थोड़ा भी; सिद्ध दशा का भी लिहाज़ नहीं है।

मुमुक्षुः- वो उसका धर्म था कि हेय-उपादेय को जानना।

पूज्य बाबूजीः- युक्ति से होनी चाहिए हर चीज। तत्त्वज्ञान में बिना युक्ति के काम चलता ही नहीं है। हर कदम में सुयुक्ति। कुयुक्तियाँ तो कोर्ट में चलती हैं, (लेकिन यहाँ) सुयुक्ति। अथवा अज्ञानी की चलती हैं, कुयुक्तियाँ चलती हैं अज्ञानी की। छह दर्शनों की भी चलती हैं कुयुक्तियाँ, वो जैनदर्शन को गलियाँ देते हैं।

मुमुक्षुः- बाबूजी! फिर से कि ये ज्ञान की पर्याय की श्रद्धा (को) मिथ्यादर्शन कहा - (वो) फिर से जरा। क्योंकि एक ज्ञान की पर्याय में तो अपनापना माना तो ज्ञायक को भूल गया, ज्ञायक की श्रद्धा छूट गई। तो ज्ञायक की श्रद्धा छूट गई तो ज्ञायक और ज्ञान की पर्याय तो एक ही है। एकत्वभाव से एक ही है न!

पूज्य बाबूजी:- ज्ञायक की श्रद्धा छूट गई - ये दूसरे नंबर पर है बात। पहले नंबर पर ये है कि ज्ञान को इन तीनों में से हेय-उपादेय का निर्णय करना चाहिए - ये उसका कर्तव्य है (क्योंकि) वो आँखवाला है। अन्य गुणों को दोष नहीं दिया जाता है। आँखवाला अगर अँधे से टकरा जाए तो आँखवाले को सजा होगी। आँखवाले को सजा होगी, अँधे को नहीं होगी सजा।

इसलिए ज्ञान को निर्णय करना चाहिए कि भले ही ये मेरे हैं, पर मेरे होने पर भी मुझे निभा कौन सकेगा सदा के लिये; ये निर्णय ज्ञान को करना चाहिए। इसमें वो भूल गया, चूक गया इसमें; और चूककर उसने हेयतत्त्व कि जो आकुलता पैदा करनेवाला था, उसमें वो अब ममत्व कर बैठा, अहम् कर बैठा, उपादेयता कर बैठा तो (इसलिए) अपराधी हुआ। सारा स्वरूप ही बदल दिया न सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का कि - वो पर्याय में अहम् करे तो मोक्ष हो जाएगा।

मुमुक्षु:- सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का स्वरूप बदल दिया।

पूज्य बाबूजी:- स्वरूप बदल दिया।

ज्ञान का जो भ्रम और भूल है उसी से तो सारा संसार खड़ा है। तो वो चाहे अपने में चूके चाहे पर में चूके। अपने में चूका है तो अपने में जो उपादेय था कि जो अनंतकाल के लिए उसका सहारा था उसको तो (वो) चूक गया। और जो एक क्षण भी उसको नहीं निभा सकता, हर क्षण जो है वो उसका सुहाग टूटता है, चूड़ियाँ फूटती हैं....

मुमुक्षु:- आहाहा! सुहाग टूटता है। बराबर!

पूज्य बाबूजी:- पर्याय में अहम् करने से; और इसलिए रोता है, चिल्लाता है, सिर फोड़ता है। तो उसमें अहम् कर बैठा है। तो गलत नहीं हुआ ये? जैसे परतत्त्व में (अहम्) कर लिया, पुद्गल के साथ अहम् कर लिया, इसी तरह से ये है समान कोटि का मिथ्यादर्शन है। समान कोटि का मिथ्यादर्शन! पुद्गल में अहम् करो या पर्याय में अहम् करो, बराबर का मिथ्यादर्शन (है)।

मुमुक्षु:- गलती तो एक ही है।

पूज्य बाबूजी:- एक ही है। Miss (छूटा) हुआ न, miss (छूटा) हुआ तो कोई तो जो है वो रिपटकर उसका सिर फूट गया, कोई जो है नदी में ही बह गया। कुछ भी हुआ लेकिन miss (छूटा) हुआ तो उसकी सजा ये है।

मुमुक्षु:- सजा ये ही है। अनंत संसार!

पूज्य बाबूजी:- अनंत संसार!

मुमुक्षु:-[70] तो बाबूजी! वास्तव में आज ये पता चलता है कि यथार्थ निर्णय का महत्व क्या है और कितना है। जहाँ तक ये निर्णय नहीं होगा वहाँ तक .....

70 यथार्थ निर्णय का महत्व क्या है? - 51.44 Mins

पूज्य बाबूजी:- एक कदम (भी) आगे नहीं बढ़ेगा। जरा भी! थोड़ा भी, एक बाल मात्र अगर फरक होगा निर्णय में (तो) आगे नहीं बढ़ सकेगा और शुद्धतत्त्व मिलेगा नहीं।

मुमुक्षु:- थोड़ा सा compensation (मुआवज़ा) तो रखिए। कुछ आप रखते ही नहीं (हैं)।

पूज्य बाबूजी:- अगर कुदरत रखे तो अपन रखें। कुदरत का संविधान कैसे भंग होगा? ये तो कुदरत का संविधान है कि क्षणिक के साथ ममत्व मत करो, चाहे वो तुम्हारा हो।

मुमुक्षु:- चाहे तुम्हारा हो।

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि वो तुम्हें निभा नहीं सकेगा, सदा (के लिए)। तुम्हारा चूड़ा फूटता ही रहेगा हर समय, सुहाग टूटता ही रहेगा।

मुमुक्षु:- निर्णय के स्वरूप में बालमात्र भी फेर नहीं।

पूज्य बाबूजी:- बालमात्र भी फेर नहीं। इसलिए ज्ञान पहले इतना स्वच्छ होना चाहिए, फिर (उसके बाद में) निर्मल होता है।

मुमुक्षु:-[71] ज्ञान की पर्याय में से ज्ञायकभाव कैसे उभरता है? कैसे निकलता है?

पूज्य बाबूजी:- कैसे निकले? वो तो ज्ञायकाकार हो ही गया। तो ज्ञायकाकार होते ही 'यही मैं हूँ' बस, ये स्वर पैदा हो गया। क्या निकालना है उसमें से? ज्ञायक अपनी जगह है। ज्ञान की पर्याय का धर्म ये है कि वो प्रतिभासरूप होती है। तो वो स्व के प्रतिभासरूप हुई और उसी में अहम् (हुआ)।

मुमुक्षु:- ज्ञान की पर्याय का धर्म यही है कि वो प्रतिभासरूप होती है। और स्व का प्रतिभास हुआ, तो स्व में अहम् (हुआ)।

पूज्य बाबूजी:- प्रतिभासरूप होती है (तो) स्व में अहम् हो गया। एक ही साथ है सारी बात। ज्ञायक का प्रतिभास माने अहम् ज्ञायक का। उसका दूसरा नाम ही ये है। उसमें अंतर नहीं है एक क्षण का भी। ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक का प्रतिभास हो गया माने तत्काल दोनों बोल उठे ज्ञान और श्रद्धा (कि) 'यही मैं, यही मैं'। (बस!) हो गया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

मुमुक्षु:- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- तीनों हो गए।

मुमुक्षु:- लक्षपूर्वक होता है बाबूजी? लक्षपूर्वक होता है?

पूज्य बाबूजी:- लक्ष तो है ही सही। लक्ष हुआ न! यही, इसी को लक्ष कहते हैं। लक्षपूर्वक (और) क्या होता है? इसी को लक्ष कहते हैं।

मुमुक्षु:- लक्ष का अर्थ जो आप कर रहे हैं वो नहीं है।

पूज्य बाबूजी:- इसी को लक्ष कहते हैं। ऐसा नहीं है कि वो उसकी ओर देख रही है, इसका नाम लक्ष हो।

71 ज्ञान की पर्याय में से ज्ञायकभाव कैसे निकलता है? - 52.53 Mins

मुमुक्षुः- हाँ! आ गई बात!

पूज्य बाबूजीः- ये अपने भीतर ही भीतर स्वलक्षी हुई, भीतर ही भीतर स्वलक्षी हुई ये।

मुमुक्षुः-[72] कृपया करके थोड़ा ज्ञायक का स्वरूप समझाईये।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञायक माने जो सदा रहनेवाला त्रैकालिक, जिसमें ज्ञान भरा है उसका नाम ज्ञायक (है)। सबको जानने की शक्तिवाला उसका नाम ज्ञायक (है)। अनंत गुणात्मक, अनंत शक्तिमय, अविनाशी-अक्षय परमतत्त्व उसका नाम ज्ञायक (है)। कई नाम होते हैं ज्ञायक के - नित्य, जो अक्षय है बस एकरूप है, जिसका रूप कभी बदलता नहीं। पर्याय का (रूप) प्रति समय बदलता है; भले ही वो वैसे की वैसे होती हो पर बदलती है न। जो पहले चली गई वो गई, अब वो अनंतकाल में दुबारा नहीं आएगी। वैसी आ सकती है लेकिन वो नहीं आएगी; वो (तो) गई। जो लहर एक बार समुद्र में मिल गई वो दुबारा आनेवाली नहीं है। दूसरी (तो) दूसरी ही आएगी।

मुमुक्षुः- ऐसी की ऐसी भले आवे।

पूज्य बाबूजीः- और इन सारे परिवर्तनों में वो एकरूप रहेगा, एकरूप चलेगा। नदी एकरूप सारी और लहर जो है, वो आने और जानेवाली।

मुमुक्षुः- सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय में भी....

पूज्य बाबूजीः- ये का यही है, यही है। सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय में भी यही है बिल्कुल। कुछ फरक नहीं है। ज्ञान ने जो निर्णय किया वो सिद्ध परमेष्ठी तक वहाँ तक निर्वाह होता है उसका, ये निर्णय ऐसा जबरदस्त होता है। यहाँ जो इसने किया वही सिद्ध परमेष्ठी कर रहे हैं। वो भी ज्ञायक की ओर झाँक रहे (हैं और) ये भी ज्ञायक की ओर झाँकता है।

मुमुक्षुः- उनकी पर्याय वही की वही....

पूज्य बाबूजीः- वही का वही काम कर रही है। वही काम कर रही है; वही। जहाँ से मोक्षमार्ग शुरू हुआ तो मोक्ष में जाकर वहाँ कुछ बदलाव हो जाएगा, तो इसका अर्थ ये हुआ कि मोक्षमार्ग दो तरह का हो गया और मोक्षमार्ग बदल गया। यहाँ से जो प्रारंभ हुआ तो पूर्णता भी वैसी होगी (ही) ठीक, और उसी विधि से होगी; इसलिए आत्मानुभूति कह दिया उन्होंने। आत्मानुभूति एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं।

मुमुक्षुः- तो हर समय की ज्ञान की पर्याय में ज्ञायकभाव मौजूद है।

पूज्य बाबूजीः- कहने को, कहने को है। वास्तव में नहीं है।

मुमुक्षुः- जब माने तभी है?

पूज्य बाबूजीः- माने तो, तब तो निहाल ही हो गया।

72 ज्ञायक का स्वरूप। - 54.45 Mins

मुमुक्षुः-[73] अनुभूति में आनंद आता है। तो और गुणों का ..... अकेला आनंद क्यों आता है?

पूज्य बाबूजीः- वो आनंद सब गुणों के निचोड़ को ही कहते हैं। सारे गुणों की जो निर्मल पर्याय हुई उसके निचोड़ का नाम आनंद है।

मुमुक्षुः- तो ज्ञान में आनंद आता है न!

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान में आनंद जाना जाता है।

मुमुक्षुः- आता नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- आता है नहीं। वो नियम, वो रेखा नहीं टूटेगी। वो रेखा नहीं टूटेगी।

मुमुक्षुः- कितनी भी घुमा-घुमाकर बात पूछो, एक ही बात आ जाती है।

पूज्य बाबूजीः- वो जो रेख है ज्ञान के चारों ओर, उसका भंग कोई नहीं कर सकता। उसका द्रव्य भी नहीं कर सकता, तो और की क्या बात? उसका द्रव्य भी नहीं कर सकता।

मुमुक्षुः- बाबूजी! आपने जो भाई के प्रश्न का जवाब दिया कि ज्ञान में ज्ञायकभाव हर समय मौजूद है। तो आपने बोला (कि) ये मात्र कहने का है, तो मतलब वास्तविक क्या है?

पूज्य बाबूजीः- मौजूद होता तो सभी सम्यग्दृष्टि हुए। तो मिथ्यादृष्टि कौन हुआ फिर जगत में? निगोदिया जीव भी सम्यग्दृष्टि हुआ क्योंकि ज्ञायकभाव मौजूद है उसकी ज्ञान की पर्याय में। कहने को है, क्योंकि वो जानता है कि हाँ! जाननेवाला हूँ, मैं जानता हूँ। लेकिन वो स्वरूप नहीं जानता उसका। न ज्ञान का स्वरूप जानता है (और) न जाननेवाले का स्वरूप जानता है कि क्या है। वो मिलावट करके जानता है, मिलावट करके मानता है उसको।

मुमुक्षुः- ज्ञेयों से मिलावट करके मानता है।

पूज्य बाबूजीः- इसलिए नहीं (बल्कि इसलिए कि) ज्ञायक का प्रतिभास नहीं होता उसको। वास्तव में नहीं होता। ज्ञायक के प्रतिभास का तो नाम ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है। एक बार हो गया फिर क्या है? यही तो कमी थी अनादिकाल से। ज्ञान ज्ञायकाकार हुआ ही नहीं आज तक।

मुमुक्षुः- अज्ञानी को शक्तिरूप है वो?

पूज्य बाबूजीः- सभी को शक्तिरूप है। शक्तिरूप क्या होता है उसमें? शक्तिरूप तो वो स्वयं ज्ञायक मौजूद है। और क्या शक्तिरूप?

मुमुक्षुः-[74] परमपारिणामिकभाव को पर्याय के बिना (का) बोला जाता है, वो किस अपेक्षा से कहा?

पूज्य बाबूजीः- वो द्रव्य है उसका नाम। क्योंकि भावों में जब उसकी गिनती की गयी, तो भाव में अगर मान लो केवल चार ही कहते हैं हम, तो केवल क्षणिक ही क्षणिक होता आत्मा।

73 अनुभूति में तो अन्य गुण भी हैं, तो अकेला आनंद क्यों आता है? - 57.43 Mins

74 परमपारिणामिकभाव को पर्याय के बिना का बोला जाता है वो किस अपेक्षा से कहा है? - 1.00.14 Hours

इसलिए एक भाव ऐसा भी है कि जो क्षणिक नहीं है (बल्कि) नित्य रहनेवाला है। उसको परमपारिणामिकभाव कहा। उसी का नाम ज्ञायक और चिन्मात्रतत्त्व - आत्मद्रव्य। परमपारिणामिकभाव द्रव्यरूप होता है।

मुमुक्षुः-[75] .... अनंत गुणों के अंश का ज्ञान होता है, श्रद्धा होती है। और केवली को पूर्ण-सम्पूर्णपने अनंत का ज्ञान होता है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं! श्रद्धा में फेर नहीं होता। ज्ञान में सिर्फ इतना होता कि ज्ञान में वे अलग-अलग नहीं दिखाई देते। जैसे केवली के ज्ञान में अलग-अलग जानने में आते हैं, उस तरह से श्रुतज्ञान में अलग-अलग जानने में नहीं आते।

मुमुक्षुः- लेकिन सम्पूर्ण कहा जाता है केवली का ज्ञान। और आंशिक ....

पूज्य बाबूजीः- सम्पूर्ण का अर्थ यही कि सारे पदार्थ, सारे पदार्थ, सारे पदार्थों की पर्यायें - ये सब जानने में आ रही हैं इसलिए सम्पूर्ण कहा जाता है। लेकिन वो जो एक ही पर्याय सारे जगत को और सारी पर्यायों को जान रही है, वही आत्मलीन है। इसलिए केवलज्ञान का स्वरूप आत्मलीनता है वास्तव में, छः द्रव्यों का जानना नहीं है। छः द्रव्य को जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है; आत्मलीनता है सम्यग्ज्ञान। केवलज्ञान का स्वरूप ही ये है कि जो स्वरूप में केवते हैं (अर्थात्) क्रीड़ा करते हैं, उसका नाम केवलज्ञान।

मुमुक्षुः- तो फिर बाद में सम्यग्दृष्टि को आंशिक ज्ञान क्यों कहा?

पूज्य बाबूजीः- आंशिक ज्ञान माने वो तो थोड़ा है। क्षयोपशम ज्ञान है! थोड़ा है इसलिए आंशिक ज्ञान कहा। वो तो आगम की दृष्टि है, वो अध्यात्मदृष्टि नहीं है।

अध्यात्मदृष्टि में तो केवलज्ञान में और इसमें (श्रुतज्ञान में) कोई अंतर नहीं है। क्योंकि ये भी वही क्रीड़ा करता है (और) वो भी वही क्रीड़ा करता है। और जगत से कोई मतलब है नहीं कि जगत को कितना जानें और कितना नहीं जानें। एक बार जान लिया कि पर है और मेरा नहीं है, बस; तो तीनलोक-तीनकाल को जान लिया, बस।

यही है मुख्य ज्ञान में, स्व और पर का विभाग कि 'ये चैतन्य ही मैं हूँ' और इसके अतिरिक्त जितने हैं वो सब पर हैं; ये स्व-पर का विभाग कहलाता है। और केवलज्ञान का स्वरूप भी यही है, लेकिन उसमें भिन्न-भिन्न आ जाते हैं। इसमें (श्रुतज्ञान में) भिन्न-भिन्न नहीं आते, कम आते हैं। तो क्या फर्क पड़ता है उससे? उसमें क्या फर्क पड़ता है। हम कितना जानते हैं यहाँ बम्बई में सबको? कितने लोगों को जानते हैं? जानते हैं कि सब पराये हैं, अपने कोई मतलब (के) नहीं हैं।

मुमुक्षुः- अब पर को कम जाना तो क्या फर्क पड़ा?

पूज्य बाबूजीः- क्या फर्क पड़ा? कुछ फर्क नहीं पड़ा।

मुमुक्षुः- ज्यादा पर को जाना, कम पर को जाना..... परंतु जाना तो पर को ही न।

75 केवली और श्रुतज्ञानी के ज्ञान में अंतर। - 1.00.55 Hours

पूज्य बाबूजी:- हम पर्याय की ओर से तोलने लगते है न। क्योंकि पर्यायदृष्टि पड़ी है इसलिए बार-बार वहीं ले जाती है वो; यहाँ भी, परम-अध्यात्म में भी।

यहाँ तो क्या है कि वो जो ध्रुव है, वो प्राण बन गया उसका। मेरा प्राण जो है, 'मेरा प्राणाधार ये है' और सिद्ध भी कहते हैं 'मेरा प्राणाधार ये है'। अब क्या फर्क रहा बताओ आप? और वो भी उसी का वेदन करते हैं, ये भी उसी का वेदन करता है। क्या फर्क रहा सिद्ध में और इसमें?

मुमुक्षु:- कोई नहीं! कोई अंतर नहीं!

पूज्य बाबूजी:- यहाँ आगमदृष्टि को गौण करना पड़ेगा। उससे क्या मतलब है हमें? आगमदृष्टि से कोई सिद्धि ही नहीं होती यहाँ।

मुमुक्षु:- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजी:- दोनों बराबर हैं। ये (श्रुत) ज्ञान और केवलज्ञान में अंतर नहीं है, कुछ अंतर नहीं है। जैसा ये ज्ञायक को जान रहा है, ठीक वैसे ही, ठीक, सिद्ध जान रहे हैं। कोई अंतर नहीं है।

मुमुक्षु:- Quality (गुणवत्ता) वो ही है? नहीं! नहीं! Quantity!

पूज्य बाबूजी:- हाँ! Quality (गुणवत्ता) वही है। Quality (गुणवत्ता) - Quantity (मात्रा) का फर्क नहीं करना, फिर फरक आ जाएगा (नहीं तो); वो भी वही पर्यायदृष्टि होगी। कुछ फर्क नहीं करना।

वो तो अपनी आदत पड़ी हुई है न! जिस समय ये प्रकरण चले न, उस समय तो हमारी आँखे आसमान पर होनी चाहिए। उस समय पिछली बातें याद नहीं आना चाहिए। उस समय आगम याद नहीं आना चाहिए। उसमें आगम का लोप नहीं है (बल्कि) आगम का आदर है। क्योंकि आगम अध्यात्म के लिए (ही) होता है। आगम से जब हम पदार्थ को जानते हैं द्रव्य-गुण-पर्यायवाला, तो उसी में (से) फिर हम अध्यात्म निकालते हैं। इसलिए आगम अध्यात्म के लिए (ही) होता है। पहले आगम होता है फिर अध्यात्म होता है। तो जब आगम जान लिया, तो फिर अध्यात्म में बीच-बीच में क्यों उसको लाना?

शादी तो हो रही है और सारे घर में उल्लास है। अब घर का एक व्यक्ति बोला (कि) ठहर जाओ! अभी फेरे नहीं होंगे, शादी नहीं होगी अभी। पहले अपने घर में जितने (भूतकाल में) मरे हैं, उन सबको रोओ। ये विवाह है ये? ये विवाह है? और ऐसा होता है विवाह में? याद ही नहीं आती है। उल्लास ही उल्लास! तो हम भी ऐसा ही करते हैं कि जहाँ अध्यात्म की ऊँचाइयाँ चलती हैं, वहाँ आगम को ले आते हैं, तो बिगड़ जाता है वो। वहाँ आगम परतत्त्व है, परतत्त्व है वो।

मुमुक्षु:- इसलिए बाबूजी भावश्रुतज्ञान को जैनशासन कहा?

पूज्य बाबूजी:- हाँ! जैनशासन है। बराबर है!

मुमुक्षु:- बहुत जल्दी हो रही है आज! ज्यादा ही गति हो जाती है (घड़ी की)।

पूज्य बाबूजी:- जल्दी नहीं है इसमें तो देर लगी। और अगर वही हो जाए असली, तो अनंतकाल बीतता है (फिर)। उसमें कहाँ एक घंटा है और कहाँ?

मुमुक्षु:- बाबूजी! सम्यग्दर्शन के बाद जो ज्ञान होता है न उसको ही हम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। लेकिन एक समय पहले भी उतना ही, ऐसा ही ज्ञान होता है न तो उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं?

पूज्य बाबूजी:- लिखकर लाना, लिखकर लाना। इधर दे देना लिखकर। ये असल में गुरुदेव की मर्यादा के विरुद्ध है। गुरुदेव सम्मिलित कक्षा पर (सहमत नहीं थे)। मैं क्योंकि पूछता नहीं हूँ इसलिए ये प्रवचन जैसा हो जाता है। नहीं तो, मैं भी इसका विरोध करता हूँ कि सम्मिलित कक्षा नहीं होना चाहिए। वो बहुत दूरदर्शिता की बात है, आगम की बात है वो। आगम की है वो बात। उसका बहुत ख्याल रखना चाहिए। इसलिए ये (महिला-पुरुष के बीच) जगह रखना, ये करना - ये बहुत आवश्यक है ये। अगर हम इतना (ही) नहीं कर पाते, तो विवेक को तो हमने कुए में डाल दिया अगर हम ये नहीं सोच पाते (तो)। क्योंकि व्यवहार ही हमारा इतना अपवित्र है तो निश्चय कहाँ से प्रगट होनेवाला है?

मुमुक्षु:- तो बाबूजी! इसका मतलब तो ये कि जब हम जैन-मंदिर में जाते हैं, तो वहाँ अरिहंत भगवान के सिवाय किसी का गुणगान नहीं होना चाहिए न? कोई लोग मंदिर में जय बुला देते हैं, ऐसा वास्तव में नहीं होना चाहिए न। दूसरे का कुछ भी..... वो विवेक होना चाहिए न।

पूज्य बाबूजी:- होना तो (चाहिए)।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

जिनवाणी-स्तुति

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ९, तारीख २-२-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

प्रश्न:-[76] आत्मा की प्रतीति और आत्मानुभूति, ये (इन) दो प्रयोग के समय में ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की परिणति में क्या फर्क रहता है?

मुमुक्षु:- परिणमन में क्या फर्क रहता है?

पूज्य बाबूजी:- गुणों के परिणमन में क्या फर्क रहता है?

मुमुक्षु:- हाँ जी!

पूज्य बाबूजी:- जिस समय आत्मा की अनुभूति अर्थात् शुद्धोपयोग होता है, तो उस समय सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्ण होती है; पूर्ण प्रगट होती है चाहे उपशम हो, क्षयोपशम हो, क्षायिक हो (मगर) सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्ण प्रगट होती है। सम्यग्ज्ञान भी पूरा होता है।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान का जो अंतर है वो यहाँ गिनना नहीं चाहिए। वो ज्ञान पूरा ही है, श्रुतज्ञान (क्योंकि) शुद्धोपयोगरूप है और आत्मा का स्पष्ट अनुभव (अर्थात्) प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है। आत्मा के प्रदेश दिखाई नहीं देते फिर भी प्रत्यक्षवत् होने से प्रत्यक्ष अनुभूति कही जाती है। और चारित्र गुण में आंशिक परिणमन होता है, उसे स्वरूपाचरण (चारित्र) कहते हैं। लेकिन इतना अल्प होता है चारित्र कि करणानुयोग उसको (चारित्र) नहीं गिनता, (मात्र) अध्यात्म गिनता है।

जैसे शुद्धोपयोग है वो निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है - ऐसा वचन है आगम का। शुद्धोपयोग की जो परिणति है वो निश्चय रत्नत्रयात्मक होती है। जैसे पहली बार हुआ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्) चारित्र की अल्प परिणति (हुई)। इस तरह निश्चय रत्नत्रयात्मक (रूप ही) शुद्धोपयोग होता है।

शुद्धोपयोग वो ज्ञान की पर्याय है, लेकिन उस समय तीनों की उत्पत्ति (होती है) और फिर सम्यग्दर्शन रहता है, ज्ञान भी रहता है। (और) अगर (ज्ञान) बाह्य पदार्थों में चला जाता है तो ये ज्ञान रहता है उसे व्यवहार ज्ञान कहते हैं। शुद्धोपयोग, स्वसंवेदन, निर्विकल्प समाधि, निर्विकल्प अनुभूति - ये निश्चयज्ञान है, निश्चय सम्यग्ज्ञान। और चारित्र में जो स्थिरता- लीनता (है) उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र कहलाता है। करणानुयोग उसको नहीं गिनता (लेकिन) अध्यात्म में उसकी पूरी गिनती होती है क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय (चली) गई है। तो अनंतानुबंधी (कषाय) चारित्र

76 आत्मानुभूति के समय में ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की परिणति में क्या फर्क रहता है? - 0.15 Mins

(गुण) की मिथ्या पर्याय है। तो वो (उसके) जाने पर अल्प चारित्र अवश्य प्रगट होता है। और वो चारित्र प्रगट होता है, इसीलिए उधर आनंद प्रगट होता है। क्योंकि स्थिरता ही न हो आत्मा में, तो आनंद नहीं होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन वो तो प्रतीति करता है, श्रद्धा करता है, अहम् करता है। ज्ञान वो आत्मा को जानता है, जैसा है वैसा जानता है। तो उसी समय चारित्र में अल्प स्थिरता होती है, लीनता। स्थिरता माने लीनता; और उस लीनता के फलस्वरुप अतींद्रिय आनंद का जन्म होता है। लेकिन शुद्धोपयोग और आत्मानुभूति की जो दशा है वो शुद्ध-चिन्मात्र ज्ञायक पर ही रहती है, तो इधर आनंद रहता है।

और इधर शुद्धोपयोग सिमटकर, शुद्धोपयोग समाप्त होकर जब बाह्य पदार्थों में परिणति हो जाती है, तो उस समय वो आनंद नहीं रहता जो अनुभूति के समय (था)। उपयोगात्मक जो आनंद है वो उस समय नहीं रहता (लेकिन) सुख गुण में जो निर्मलता आई है, वो बराबर रहती है विकल्पों के समय भी। माने विकल्प की ओर, रागादि की ओर जब ज्ञान चला जाता है.... (ऐसा) कहते हैं माने व्यवहार है ये भी; ज्ञान चला जाता है माने व्यवहार से। ज्ञान के लिए व्यवहार है ये, वास्तविक नहीं है। वास्तविक तो जो पद्धति है ज्ञान के जानने की (वो) उसी तरह जानता है। क्योंकि राग ज्ञान में जानने में नहीं आता, राग ज्ञान में आता नहीं है। ज्ञान स्वयं राग के स्वरूप को जानता हुआ परिणमित होता है वो ज्ञान की ही पर्याय है, वो राग की नहीं। तो इस तरह तीनों का जन्म होता है, तो जो आनंद अनुभूति के समय हुआ, वो आनंद बाह्य पदार्थों की दशा में जब उपयोग होता है तो उस समय नहीं रहता। लेकिन सुख में, सुख गुण में जो निर्मलता आई है वो बराबर विकल्पदशा के समय भी बनी रहती है। और चारित्र में भी मिश्र परिणति हो जाती है - कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता। उसका तोल-माप कर्मों से किया जाता है। जो तीन कषायें अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान (और) संज्वलन ये जो बाकी हैं, इतना तो अचारित्र है। मिथ्याचारित्र यहाँ नहीं है अब।

मुमुक्षुः- बराबर! अचारित्र है।

पूज्य बाबूजीः- अचारित्र है। और जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना सम्यक्चारित्र है। इस तरह अनुभूति के समय इन तीनों का जन्म होता है। और फिर तीनों की स्थिति (ये कि) सम्यग्दर्शन रहता है, सम्यग्ज्ञान वो व्यवहार हो जाता है। बाह्य पदार्थों को विषय करते समय वो व्यवहारज्ञान है। सम्यग्ज्ञान ही है लेकिन है व्यवहार; और सम्यक्चारित्र में जो दशा प्रगट हुई वो बराबर रहती है।

मुमुक्षुः- बाबूजी! दोनों ही.... जैसे जन्म कैसे होता है और फिर उसकी...

पूज्य बाबूजीः- फिर उसकी परिणति कैसे चला करती है.... वो बराबर रहता है।

मुमुक्षुः- माने दर्शन और ज्ञान तो पूर्णरूप से शुद्ध हो जाते हैं पर वो चारित्र की आंशिक...

पूज्य बाबूजी:- आंशिक शुद्धि चारित्र में प्रगट होती है, उसे स्वरूपाचरण कहते हैं। वैसे चारित्र के जो भेद हैं वो तो संयम, संयमासंयम इत्यादि हैं, यथाख्यात् तक। लेकिन ये स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण ही ये है (कि) **स्वरूपे चरणं चारित्रं (प्रवचनसार गाथा ७ 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका)** स्वरूप में जो आचरण है उसका नाम चारित्र है। तो यहाँ पर वो जो चारित्र के नाम हैं उनकी प्रगटता नहीं बताई। पर स्वरूप में आचरण अवश्य होता है और उसके फलस्वरुप आनंद का जन्म होता है। आनंद का जन्म होता है लेकिन आत्मा आनंद को जानने नहीं जाता।

मुमुक्षु:- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजी:- आनंद जानने में आ जाता है लेकिन बुद्धिपूर्वक वह शुद्धात्मा को, ध्रुव को, चिन्मात्र को जानता हुआ (ही) परिणमित होता है।

मुमुक्षु:- बराबर! आनंद को जानने नहीं जाता।

पूज्य बाबूजी:- जानने नहीं जाता लेकिन आनंद जानने में आ जाता है। आनंद उस समय परतत्त्व है। स्वतत्त्व नहीं है, स्वतत्त्व केवल शुद्धात्मा है।

मुमुक्षु:- बराबर! आनंदमूर्ति है।

प्रश्न है प्रभु![77] ज्ञान में जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। ज्ञान में जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। उस समय आत्मा की अनुभूति कैसे करनी चाहिए? कृपया कर स्पष्ट कीजिए।

ज्ञान में जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है - ये बात कही जाती है। ये व्यवहार है ये, ये निश्चय नहीं (है)। क्योंकि ज्ञेय का कोई प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता। प्रतिबिम्ब अर्थात् जो प्रतिभास है... प्रतिबिम्ब माने प्रतिभास। जो प्रतिभास है वो ज्ञान ही है और वो ज्ञानाकार है। ज्ञान ने स्वयं निरपेक्ष भाव से, ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर उसकी रचना अपनी सामर्थ्य से की है। लेकिन उसका विषय, ये व्यवहार की ओर से कहा जाता है कि उसका विषय जो है वो राग है; तो राग को जाना इस तरह व्यवहार से कहने में आता है। वास्तविकता ये है कि वो जो प्रतिभास है वो ज्ञान ही है। माने वो जैसे राग प्रतिबिंबित हुआ ऐसा कहते हैं। तो राग प्रतिबिंबित नहीं हुआ बल्कि स्वयं ज्ञान ने राग के स्वरूप को जानकर अपना आकार वैसा बनाया है। वैसा, वह नहीं।

मुमुक्षु:- वह नहीं, वैसा!

पूज्य बाबूजी:- वैसा आकार अपना बनाया है और वो संपूर्ण प्रतिभास वो ज्ञानाकार है और वो ज्ञान ही है। इस तरह वो ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ। इस तरह ज्ञायक की ओर अंतर्मुख होकर अनुभूति और शुद्धोपयोग हो जाता है। ये अंतर्मुख होने की पद्धति है।

77 ज्ञान में जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। उस समय आत्मा की अनुभूति कैसे करनी चाहिए? - 8.42 Mins

ज्ञान की जो स्वपरप्रकाशकता है, इसमें ये जो स्वप्रकाशन है.... वास्तव में (तो) स्व का ही प्रकाशन होता है (अर्थात्) ज्ञान ही जानने में आता है। ये भी व्यवहार है (कि) ज्ञान ही जानने में आता है क्योंकि इसमें भी जो अंतर है, भेद है, उस भेद में अनुभूति नहीं होती (है); पर इसके फलस्वरूप भी विकल्प का जन्म होता है। इसलिए ज्ञान जानने में आता है माने ये सबका सब ज्ञान ही है अर्थात् मैं ही हूँ। इस तरह 'मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र ही हूँ', तो ये इस तरह अनुभूति में चला जाता है।

वो तो विचार की दशा है। ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है - ये तो विचारदशा है, विकल्पदशा है। विकल्प माने राग नहीं, पर ज्ञानात्मक विकल्प।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! ये क्या प्रभु?

पूज्य बाबूजीः- रागात्मक विकल्प नहीं पर ज्ञानात्मक विकल्प! तो ज्ञानात्मक विकल्प में ज्ञान ही जानने में आता है, इतना हुआ। पर इससे क्या साध्य है? ज्ञायक तो हाथ में नहीं आया। इसीलिए ये सबका सब जितना भी ये प्रतिभास है अनेकाकारवाला, ये सबका सब ज्ञान ही है और ज्ञान है वो मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र (अर्थात्) मैं शुद्ध ही हूँ - ऐसा जानता है तो अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षुः- माने 'ज्ञान जानने में आ रहा है' वो तो भेद (अर्थात्) ज्ञान का विकल्प है। परंतु 'मैं ज्ञान हूँ' तो अनुभूति हो जाती है?

पूज्य बाबूजीः- 'ज्ञान है वो मैं ही हूँ' - ये भी विकल्प। 'ज्ञान है वो मैं ही हूँ' - ये भी विकल्प है। और 'मैं ज्ञायक हूँ' बस ये अनुभूति का स्वरूप (है)। 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा।

मुमुक्षुः- जब ज्ञान जानने में आया तो 'मैं ज्ञायक, चिन्मात्र हूँ' - ऐसा जाना।

पूज्य बाबूजीः- ऐसा जाना।

मुमुक्षुः- हाँ! तो अनुभूति (होती है)?

पूज्य बाबूजीः- तो अनुभूति होती है। 'ज्ञायक चिन्मात्र हूँ' - ऐसा जानकर ज्ञायक में उपयोग का स्थिर हो जाना इसका नाम अनुभूति है।

मुमुक्षुः- बराबर! 'मैं चिन्मात्र, ज्ञायक हूँ' - ऐसा जानकर ज्ञान का, उपयोग का स्थिर हो जाना।

पूज्य बाबूजीः- उपयोग का ज्ञायक में स्थिर हो जाना। होता सब पर्याय में है। कल अपनी बात आयी थी। सबका सब पर्याय में ही होता है। जो ज्ञायक है ध्रुव और शुद्ध, ध्रुव है और शुद्ध है। शुद्ध है और ध्रुव है इसीलिए वो उपलब्ध होता है। अगर वो ध्रुव न हो तो उपलब्ध नहीं होता, जैसे (कि) पर्याय। क्योंकि पर्याय जो है वो तो चक्रीय है (अर्थात्) चक्कर खाती है। एक के बाद एक आती है और जाती है। तो इसीलिए श्रद्धा उसमें मिथ्या होती है। श्रद्धा वहाँ निभती नहीं है बल्कि श्रद्धा को तीव्र आकुलता (होती है)। श्रद्धा में और ज्ञान में तीव्र आकुलता होती है क्योंकि उस

(चक्रीय) पर्याय ने संपूर्ण आत्मा का अहम् किया। जो पर्याय है, कोई भी पर्याय.... अपनी पर्याय हो अथवा कोई जगत की पर्याय हो, उसमें संपूर्ण आत्मतत्त्व का अहम् किया। तो वह जो अहम् है, वो मिथ्या है। मिथ्या (अर्थात्) ज्ञान चूक गया चुनाव करने में, selection में। द्रव्य-पर्याय में जो selection (चुनाव) करना था, तो वो पर्याय का selection (चुनाव) कर बैठा आत्मा के रूप में। और पर्याय क्षणभंगुर होने से उसको आत्मा मान लेने पर, पर्याय के व्यय में आत्मा का व्यय अर्थात् आत्मा का नाश अनुभव में आता है; इसीलिए तीव्र आकुलता होती है। निगोद से लेकर, एकेन्द्रीय से लेकर सैनी पंचेंद्रिय तक अज्ञानी की स्थिति यही है कि वो निरंतर तीव्र आकुलता का वेदन करता है। चाहे पापभाव हो, चाहे पुण्यभाव, कोई भी हो तीव्र आकुलता का वेदन करता है। आकुलता में थोड़ा फर्क हो सकता है तीव्र-मंद का, लेकिन आकुलता ही होती है उसके फल में।

मुमुक्षुः- क्योंकि ज्ञान अपना धर्म चूक गया।

पूज्य बाबूजीः- चूक गया। selection (चुनाव) में चूक गया। select (चुनाव) करना था उसे ध्रुव को क्योंकि वो निष्कम्प होता है (और) अचल होता है और जब चाहें तब उपलब्ध होता है। इसलिए select (चुनाव) तो वो करना चाहिए। लोक में भी ध्रुव को ही select (चुनाव) करते हैं लोग।

मुमुक्षुः- बराबर!

पूज्य बाबूजीः- एक स्टील का गिलास लाए (और) एक काँच का गिलास लाए। काँच का ग्लास लाए तब से चिंता शुरू हो गई। स्टील का लाए तो निश्चिंत है।

इसलिए पर्याय मात्र, चाहे अपनी हो (या) विकारी हो, अपनी शुद्ध पर्याय हो अथवा परद्रव्य की पर्याय हो, कोई भी हो..... पर्यायमात्र के प्रति बल समाप्त हो जाना चाहिए, वजन समाप्त हो जाना चाहिए, उससे विरक्ति हो जाना चाहिए। आसक्ति टूट जाना चाहिए, ममत्व टूट जाना चाहिए, अहम् टूट जाना चाहिए। तो अहम् टूट जाने के बाद एकमात्र जो चिन्मात्र ज्ञायक है, वही शेष रहता है। इसलिए उपयोग उधर ढल जाता है और उसी समय श्रद्धा का भी जन्म होता है, सम्यग्दर्शन का; सम्यग्ज्ञान का भी जन्म होता है और स्वरूपाचरण चारित्र का (भी) जन्म होता है (अर्थात्) आंशिक चारित्र प्रगट होता है। इस तरह रत्नत्रय परिणति होती है। शुद्धोपयोग - है तो ज्ञान की पर्याय लेकिन उसमें रत्नत्रय साथ (में) होता है।

ज्ञायक[78] तो ज्ञायक ही रहता है। क्योंकि हम ध्रुव मान चुके न उसे इसलिए वो तो अचल और निष्कंप है। तो वो कभी पर्याय में नहीं आता। पर पर्याय.... जैसे राग को जाना ऐसा हम बोलें, तो राग को नहीं जाना क्योंकि राग नहीं है ज्ञान में। ज्ञान और राग सदा से ही, अनादि से ही भिन्न रहे हैं और आगे भी जब तक राग चलेगा तब तक भिन्न ही रहेंगे। राग-द्वेष-मोह सब आ गए इसमें। राग जो है represent (प्रतिनिधित्व) करता है, सबको सारे विकार को; योग तक का विकार,

78 अभेदता की पराकाष्ठा। - 17.27 Mins

चौदवें गुणस्थान तक का वो सब आ गया इसमें, सारा का सारा। इसीलिए वो जैसे अपन रागाकार कहते हैं, तो रागाकार माने ज्ञानाकार। वो जो राग के स्वरूप का प्रतिभास माने राग के स्वरूप का ज्ञान (है)। प्रतिभास माने जैसा राग का स्वरूप है - ज्ञान ठीक वैसा का वैसा जाननेरूप प्रवृत्त होता है, इसे प्रतिभास कहते हैं।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! फिर से।

पूज्य बाबूजीः- क्योंकि राग का क्या आकार होगा? राग का आकार क्या है? राग का कोई आकार नहीं। तो इसीलिए राग का स्वरूप जो है अर्थात् वो परसंबंधों को लेकर ही चलता है सदा, सदा संबंध-भाव से चलता है। तो ये संबंध-भाव वाला जो राग है, द्वेष है, पाप है, पुण्य है, ये (सब) संबंध-भाव की परिणतियाँ हैं। संबंध-भाव माने मिथयादर्शन हो अथवा न हो तो भी संबंध-भावरूप ही उसका स्वर होता है, राग का, द्वेष का और पाप का, पुण्य का। पाप जो है वो विषयों में प्रवृत्त होता है। तो मेरे हैं, मैं चखता हूँ, इत्यादि इत्यादि विकल्प लेकर परिणत होता है।

जैसे इसकी अपन चर्चा करते हैं कि वो राग ज्ञान में नहीं आता क्योंकि वो न्यारे ही हैं, सदा से। वो हमेशा से ज्ञान के बाहर ही रहा है पर parallel चलता है, समानांतर चलता है। तो राग जैसा प्रतिभास, राग के स्वरूप का प्रतिभास - ऐसा कहना भी व्यवहार (है)। क्योंकि वो राग का स्वरूप नहीं है न असल में तो। वो तो ज्ञान ने ही राग जैसा, राग को जैसा जानकर और अपना स्वरूप तैयार किया है, अपनी पर्याय का स्वरूप है वो।

तो वो जो प्रतिभास है वो स्वयं ज्ञान है। प्रतिभास स्वयं ज्ञान है, जाननभावरूप है। वो कोई दो चीज नहीं है कि ज्ञान ने ज्ञान को ही जाना; तो ऐसी दो चीज नहीं है। पर वो जो प्रतिभास है वो स्वयं ज्ञान है और स्वयं ही ज्ञेय है - इस तरह अभेद हुआ। तो इसका अर्थ हुआ कि ये ज्ञानाकार ही है, ज्ञेयाकार नहीं है। और ज्ञानाकार है अर्थात् ज्ञान ही है और कुछ नहीं है। कोई विशेषता इसमें नहीं है। इस तरह विशेषता का संपूर्णरूप से तिरोभाव करके पर्याय में सामान्यज्ञान का आविर्भाव हुआ। सामान्यज्ञान माने पर्याय में सामान्य।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! .....

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वो सामान्य नहीं।

मुमुक्षुः- नहीं! त्रिकाल सामान्य नहीं?

पूज्य बाबूजीः- द्रव्य का या गुण का सामान्य नहीं (बल्कि) पर्याय सामान्य हो गई अर्थात् ज्ञान ही हूँ। ज्ञान हूँ अर्थात् मैं तो ज्ञायक ही हूँ, क्योंकि इसने पहले ज्ञायक का निश्चय कर लिया था।

मुमुक्षुः- निर्णय पहले!

पूज्य बाबूजीः- निर्णय में पहले ज्ञायक का निर्णय किया था कि 'मैं मात्र ज्ञायक हूँ'। इसलिए बीच में रुकता नहीं है, इन विकल्पों में। ये सब विकल्प हैं; तो विकल्पों में न रुककर ज्ञायक पर

पहुँचता है। कैसे पहुँचता है? ज्ञायक तो ज्ञायक की जगह रहता है और जैसे राग का प्रतिभास हुआ (था) इसी तरह ज्ञायकाकर होता है ज्ञान। ज्ञायक ज्ञायक की ही जगह रहता है।

मुमुक्षुः- जैसे राग राग की ही जगह रहता है।

पूज्य बाबूजीः- राग की जगह रहता है। इस तरह ज्ञायक ज्ञायक की जगह रहता है और ज्ञान ज्ञायक जैसे आकार (का) अपने में निर्माण करता है, उसकी संरचना करता है ज्ञायक जैसे आकार की। तो पर्याय जो है वो 'मैं ज्ञायक का अनुभव कर रही हूँ' - इस तरह भेद में प्रवृत्त नहीं होती। क्योंकि अगर भेद में प्रवृत्त होगी सदा ही, सदा ही अगर..... द्रव्य और पर्याय ये दो भेद हैं और दो भेद जो न्यारे-न्यारे हैं, विरुद्ध स्वभाववाले हैं.... तो अगर पर्याय भेद में प्रवृत्त होगी अर्थात् 'मैं ज्ञायक को जानती हूँ' - इस तरह भेद में ही होगी.... तो एक पदार्थ में जो भेदाभेद स्वरूप है, तो ये तो भेद हुआ और वो अभेदता जो है वो नहीं होने के कारण द्रव्य और पर्याय ये दो द्रव्य हो जायेंगे; एक द्रव्य नहीं रहेगा। इसलिए उसकी भेद परिणति भी होना चाहिए।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह!

पूज्य बाबूजीः- तो अभेद परिणति होती है कि वो जो उपयोग की पर्याय है, ज्ञान की पर्याय है, श्रुतज्ञान की पर्याय, भावश्रुतज्ञान की पर्याय, वो ज्ञायक जैसी रचना अपने भीतर उसके स्वरूप की करती है.... जैसा निश्चय किया था पहले विकल्पदशा में, वैसी की वैसी रचना अपने भीतर करती है और फिर अभेद होकर बोलती है 'मैं ज्ञायक चिन्मात्र हूँ'।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- मैं चिन्मात्र हूँ।

मुमुक्षुः- भेद-अभेद स्वरूप वस्तु है।

पूज्य बाबूजीः- भेद-अभेद स्वरूप वस्तु है। तो हम केवल भेद में ही ढहेंगे तो वो एकांत होगा और वो दो द्रव्य हो जायेंगे। एक ही पदार्थ के अंग जो द्रव्य और पर्याय हैं, वो दो द्रव्य हो जायेंगे अगर एकांत भेद में रहेंगे तो। इसलिए अभेद परिणति भी होना चाहिए कि यहाँ आकर ऐसी अभेदता हुई कि ये अभेदता की पराकाष्ठा है। इससे आगे अभेदता का कोई रूप नहीं है (कि) मैं ज्ञायक चिन्मात्र हूँ।

मुमुक्षुः- बराबर! ये अभेदता की पराकाष्ठा है।

पूज्य बाबूजीः- ये अभेदता की पराकाष्ठा है। तो ये अनुभूति हो गई पर्याय को। अपने में रचना की तो वही ज्ञाता और वही ज्ञेय और वही ज्ञान - तीनों की अभेद परिणति होकर अनुभूति हो जाती है। ये अनुभूति ही है (कि) मैं ज्ञायक हूँ। ये अनुभूति ही है सचमुच।

मुमुक्षुः- मैं ज्ञायक हूँ!

पूज्य बाबूजीः- मैं ज्ञायक हूँ - ये अनुभूति ही है, क्योंकि अनुभव पर्याय में होता है। द्रव्य में नहीं होता है, ध्रुव में अनुभव नहीं होता। अब जब ध्रुव में अनुभव नहीं होता तो फिर अनुभव

करनेवाला कोई चाहिए न, जाननेवाला। वरना ध्रुव के रहने से फायदा क्या हुआ? ध्रुव के अस्तित्व से लाभ क्या हुआ? इसलिए कुदरत की ही है ये एक रचना। कुदरत का ही स्वरूप ऐसा है कि जो ध्रुव है वो यदि अनबोला है, तो ये जो अनुभूति की पर्याय है ये बोलनेवाली है।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- ये दोनों का संग साथ में किया। साथ में दोनों का संघ है, ऐसा ये कुदरत ही है प्रकृति की। हर एक में! अचेतन पदार्थों में भी यही है कि वो द्रव्य तो ध्रुव रहता है और जो पर्याय है वो उसकी परिचायिका होती है, परिचय देनेवाली।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! परिचायिका होती है। माने स्व-पर का जो प्रतिभास होता है, वही ज्ञेयाकार है; और ज्ञेयाकार है वह जाननभावरूप है तो ज्ञानाकर है।

पूज्य बाबूजीः- वो ज्ञेयाकार है माने ये व्यवहार कथन। और वो ज्ञानाकर है ये निश्चय कथन, उसकी अपेक्षा।

मुमुक्षुः- उसकी अपेक्षा माने?

पूज्य बाबूजीः- उसकी अपेक्षा माने ज्ञेयाकार की अपेक्षा ये निश्चय कथन (है)। फिर ये निश्चय भी व्यवहार हो गया कि ये तो ज्ञानाकार ही है क्योंकि ये विकल्प है, इसलिए ये व्यवहार हो गया। तो ये भी मिटकर मैं तो ज्ञान ही हूँ - ये निश्चय हो गया। और फिर ज्ञान हूँ - ये भी व्यवहार। तो 'मैं तो ज्ञायक चिन्मात्र ही हूँ' - ये निश्चय हुआ और अनुभूति प्रगट (हो गई)।

मुमुक्षुः- ये अनुभूति हो गई। माने ये पूरी अनुभूति की रीति (है)।

पूज्य बाबूजीः- श्रंखला है ये।

मुमुक्षुः- श्रंखला है। बराबर!

पूज्य बाबूजीः- अंतर्मुख होने की ये श्रंखला है एक। एक प्रक्रिया है ये।

मुमुक्षुः- माने उत्तरोत्तर वृद्धिंगत अंतर्मुखता होती है, जो पहले निश्चय था वही व्यवहार बनकर रह जाता है।

पूज्य बाबूजीः- वही व्यवहार बनकर रहता है। और वो जो ज्ञान में जिसे हम प्रतिभास कहते हैं ज्ञेय जैसा प्रतिभास, तो उस प्रतिभास को ज्ञेय कहना (सिर्फ) ये बताने के लिए कि वर्तमान में उसका विषय क्या है। व्यवहार के बिना वो समझ में नहीं आएगा न। क्योंकि निश्चय का ही अगर हम उत्तर देंगे तो वो एक ही उत्तर होगा। कुछ नहीं, कोई जानने में नहीं आता। (बस!) ज्ञान ही जानने में आता है। तो इससे वो उत्तर नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान ही अगर जानने में आता है, तो ज्ञान में ये विभिन्न प्रकार के चित्र क्यों बनते हैं? - ये प्रश्न खड़ा होता है। ज्ञान ही जानने में आता है, तो ज्ञान तो साफ होना चाहिए एक बिल्कुल सफेद दीवार की तरह। उसमें ये जो चित्र बनते हैं ये क्यों बनते हैं? ऐसा प्रश्न पैदा होता है। तब उसका उत्तर व्यवहार (नय) देता है कि ये चित्र इसलिए बनते हैं कि ऐसे के ऐसे पदार्थ बाहर हैं। ये तो ज्ञान के चित्र हैं और ये ज्ञान ने जो चित्र बनाये, ऐसे

के ऐसे पदार्थ बाहर जगत में हैं। जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश और काल, बाहर ये पदार्थ हैं; और ज्ञान का जो चितेरा (है) वो अपने भीतर ये चित्र स्वतः बनाता है।

मुमुक्षुः- आहाहा! बहुत सुंदर! ज्ञान का जो चितेरा है वो अपने भीतर, खुद का खुद ज्ञान चित्र बना देता है।

पूज्य बाबूजीः- स्वयं ही चित्र बनाता है, बिना किसी की सहायता के, निरपेक्ष भाव से। अत्यंत निरपेक्ष भाव से। अत्यंत निरपेक्ष ज्ञप्ति है ये।

मुमुक्षुः- और ये बताता है कि बाहर ऐसा कोई न कोई पदार्थ कहीं पर है।

पूज्य बाबूजीः- इसका नाम व्यवहार हुआ। तो उस प्रतिभास को हम ज्ञेय का नाम देते हैं और ज्ञेय का नाम इसीलिए देते हैं क्योंकि पदार्थ अनंत हैं। तो ये जो प्रतिभास है, ये कौनसे पदार्थ जैसा है? - ऐसा जानने के लिए उस प्रतिभास को हम ज्ञेय का नाम देते हैं तो इससे पता चलता है कि ज्ञान ने ये चित्र उस पदार्थ जैसा बनाया है, क्योंकि अनंत हैं (न) पदार्थ।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! ज्ञान ने ये चित्र उस पदार्थ जैसा बनाया है; ना कि वो पदार्थ जैसा ज्ञान हुआ है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ ऐसा! वो तो है ही नहीं। वो तो है ही नहीं। ये व्यवहार कथन (है), परप्रकाशकता कहते हैं इसको। इसका नाम परप्रकाशकता है लेकिन (वास्तव में) स्वप्रकाशकता ही है ये। स्वप्रकाशकता की पर्याय को ही परप्रकाशकता कहना, इसका नाम व्यवहार है।

मुमुक्षुः- स्वप्रकाशकता की पर्याय को ही....

पूज्य बाबूजीः- परप्रकाशकता कहना इसका नाम व्यवहार है।

मुमुक्षुः- ये थोड़ा सा जरा लंबा है।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान के प्रतिभास को माने ज्ञानाकर जैसा ज्ञेय का जो आकार है, वैसा ज्ञानाकर हुआ उसका नाम प्रतिभास। तो उस प्रतिभास को ज्ञेय का नाम देना इसका नाम व्यवहार - व्यवहारनय। वैसा हुआ नहीं (है) कुछ। वो प्रतिभास ज्ञान ही है, वो ज्ञेय नहीं बना। लेकिन अगर हम उसका नाम ज्ञेय नहीं रखते तो ये पता नहीं लगता कि ज्ञान का विषय क्या है।

ये भी है (तो) व्यवहार कथन, लेकिन कहने के लिए ये कहना पड़ेगा कि ज्ञान का.... क्योंकि ज्ञान का कोई विषय नहीं (है)। ज्ञान तो ज्ञान है। उसके साथ किसी चीज को लगाना इसी का नाम व्यवहार (है)। ज्ञान का विषय ऐसा हमने बोला तो ज्ञान तो निरपेक्ष है। तो उसका विषय कौन हो गया? कोई विषय नहीं। लेकिन हमने ये बताने के लिए कि ज्ञान ने जो चित्र बनाया है वो निरर्थक नहीं (बल्कि) वो सार्थक है क्योंकि वैसा ज्ञेय जगत में विद्यमान है।

मुमुक्षुः- तो ज्ञान का चित्र जाननभावरूप है?

पूज्य बाबूजीः- जाननभावरूप सारा।

मुमुक्षुः- और ज्ञेयों (के) चित्र तो अपने आकारों के मुताबिक हैं।

पूज्य बाबूजी:- वो तो, वो तो जड़-चेतन जैसा (भी) है। जैसा द्रव्य-गुण-पर्यायवाला (है), तो वैसा का वैसा द्रव्य-गुण-पर्याय इधर ज्ञान में भासित होता है, वैसा का वैसा। वह नहीं; वह नहीं, वैसा। पर हम (उसको) 'वह' कहते हैं फिर (सिर्फ) ये बताने के लिए कि ये चित्र किसका है। क्योंकि अगर हम सिर्फ निश्चय से उत्तर देते रहेंगे, तो ज्ञान ही जानने में आया है और कुछ नहीं है। कोई लोकालोक जानने में नहीं आया - ये उत्तर होगा और उससे फिर सर्वज्ञता का और सबका परिहार हो जायेगा। द्वादशांग का परिहार हो जायेगा। कुछ नहीं रहेंगे।

इसलिए व्यवहार ये जवाब देता है कि जितने भी ज्ञेय जगत में हैं, ठीक वैसा का वैसा आकार केवलज्ञान बना लेता है। और जितने अलग-अलग प्रतिभास एक ही पर्याय में, केवलज्ञान की एक ही पर्याय में अनंतानंत प्रतिभास (हैं) वो सबके सब ज्ञान (हैं) और वो ज्ञान अंतर्मुख होकर शुद्धात्मा का वेदन निरंतर करता है। निरंतर करता है वही ज्ञान, वही प्रतिभासात्मक ज्ञान। अनेकाकार ज्ञान वो एकाकर होकर और शुद्धात्मा का अनुभव करता है। एकाकार होकर माने वो ज्ञान ही है।

मुमुक्षु:- बहुत सुंदर! होता नहीं है, है ही एकाकार।

पूज्य बाबूजी:- है ही एकाकार। अनेकाकार होकर वो एकाकार ही है अर्थात् ज्ञान ही है। इस तरह शुद्धात्मा का अनुभव निरंतर भगवान सिद्ध किया करते हैं।

मुमुक्षु:- हम तो ये सोच रहे थे कि जैसे ज्ञेय हैं, उस ही प्रकार की लकीरें ज्ञान में बनती होंगी।

पूज्य बाबूजी:- वो व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा से है।

मुमुक्षु:- तो व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा से नहीं (है) ये तो जाननभाव की अपेक्षा से....

पूज्य बाबूजी:- ये सब पर्यायों की अपेक्षा (से), द्रव्य-गुण-पर्याय सबकी अपेक्षा। और पर्याय में लें तो अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय, सब सारी आती हैं। बस! उसी को अर्थ का प्रतिभास कहते हैं, अर्थ-विकल्प कहते हैं। अर्थ-विकल्प माने अर्थ का प्रतिभास, पदार्थ का प्रतिभास। पदार्थ का प्रतिभास माने ज्ञान का प्रतिभास अर्थात् ज्ञानाकार। ज्ञानाकर माने ज्ञान (और) ज्ञान माने ज्ञायक।

मुमुक्षु:- पदार्थ का प्रतिभास माने ज्ञान का प्रतिभास।

पूज्य बाबूजी:- माने ज्ञान का प्रतिभास।

मुमुक्षु:- और ज्ञान का प्रतिभास.....

पूज्य बाबूजी:- ज्ञान का बना हुआ आकार। ज्ञान का प्रतिभास माने ज्ञान का बना हुआ आकार, ऐसा। लेकिन अब ये निश्चय करने के बाद जब भी ये स्वपरप्रकाशक का प्रकरण आता है, तो उत्तर व्यवहार की ओर से ही दिया जाता है। क्योंकि उसी से सारी अन्य सिद्धि होती है। निश्चय के जवाब से नहीं होती क्योंकि 'ज्ञान ही जानने में आता है' या 'ज्ञायक ही जानने में आता

है' तो उससे सिद्धि नहीं होती। इसलिए व्यवहार उसका जवाब देता है कि - असल में हैं तो वो सब ज्ञान के ही आकार, ये तो निश्चय। लेकिन जैसे ज्ञान के आकार ज्ञान ने बनाये हैं स्वयं स्वतः (और) निरपेक्ष भाव से, वैसे के वैसे ज्ञेय जगत में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक विद्यमान हैं।

मुमुक्षुः- वाह रे वाह! द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक विद्यमान हैं।

पूज्य बाबूजीः- शक्ति जो कहते हैं स्वपरप्रकाशक शक्ति, वो स्वपरप्रकाशक शक्ति इसमें आ गई। ज्ञान वास्तव में तो स्वप्रकाशक है, वास्तव में स्वप्रकाशक है। लेकिन ये जो व्यवहार हमने इसके साथ लगाया है अर्थात् उस ज्ञान के प्रतिभास को..... शक्ति नाम से ही पुकारा गया है। है वो एक ही अखंड पर्याय।

मुमुक्षुः- व्यवहार को शक्ति के नाम से पुकारा गया है।

पूज्य बाबूजीः- पुकारा गया है क्योंकि है वो एक ही पर्याय।

असल में क्या है कि वो जितने भी ज्ञेय के आकार हैं, ठीक वैसे ज्ञानाकर माने प्रतिभासरूप बनकर ज्ञान ने रचना की (है)। तो ज्ञान ने जो रचना की तो उनका अगर हम व्यवहार से कथन करें.... तो जैसी ये रचना है, ठीक वैसा का वैसा विश्व है। तो इस ज्ञान की पर्याय को देखो अथवा विश्व को देखो, एक ही बात है। और जैसा विश्व है, वैसी की वैसी ज्ञान की पर्याय है। जैसी ज्ञान की पर्याय है ठीक वैसा का वैसा विश्व है। तो ज्ञान की पर्याय को देखो तो सारा विश्व नज़र आ गया इसका नाम परप्रकाशकता।

मुमुक्षुः- ज्ञान की पर्याय को देखो तो सारा का सारा....

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान की एक पर्याय को देखो तो सारा विश्व नज़र आ गया, केवलज्ञान की पर्याय में - ऐसा।

काँच होते हैं न ऐसे महलों में कि जहाँ पर रानियाँ बाहर नहीं निकलती हैं। तो वो ऐसे काँच होते हैं जिनमें सारा शहर दिखाई देता है। छोटा सा, छोटा सा (काँच होता है) कैमरे जैसा, उसमें सारा शहर दिखाई देता है।

मुमुक्षुः- तो काँच को देख लो!

पूज्य बाबूजीः- तो वो तो शहर तो शहर की जगह ही रहता है। वो काँच का ही परिणमन है, सारा।

मुमुक्षुः- पहले तो ऐसा लगता था बाबूजी! कि जैसे विश्व है, उसी प्रकार का ज्ञान है। अब ऐसा कहते हैं आप कि जैसा ज्ञान का स्वरूप है, ठीक उसी की भाँति विश्व का स्वरूप है।

पूज्य बाबूजीः- बस! दोनों तरफ से कह सकते हैं। कोई दिक्कत नहीं है! जैसा ज्ञान की एक पर्याय का स्वरूप है, केवलज्ञान की एक पर्याय का, ठीक वैसा का वैसा विश्व है अनादि-अनंत। अनादि-अनंत माने अनादि की जो पर्यायें हैं, जो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं (और) भविष्य की जो पर्यायें हैं जो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं - ऐसी तीनों काल की पर्याय सहित द्रव्य-गुण

सहित सारा का सारा केवलज्ञान की एक पर्याय में प्रतिभासित होता है। और वो प्रतिभास केवल ज्ञान ही है, ज्ञान ही है। 'केवल' शब्द शुद्धात्मा के लिए है। 'केवल' शब्द उसके लिए नहीं है, लोकालोक को जानने के लिए। 'केवल' माने जो सिर्फ आत्मा में क्रीड़ा करते हैं, उसको केवल कहते हैं। सदा ही जो आत्मा में क्रीड़ा करते हैं उसका नाम केवल। केवते हैं - ऐसा आगम का वाक्य है। केवते हैं माने क्रीड़ा करते हैं।

मुमुक्षुः- जो हम समझ रहे हैं उससे आप उल्टा ही बता रहे हैं।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उल्टा माने अगर हम समझ रहे हैं वैसा होता तो अब तक हम यहाँ नहीं होते। अब तक सिद्धों में शामिल होते। जैसा हम समझते हैं वैसा ही होता तो यहाँ कैसे होते हम? हम तो कभी के सिद्धों में शामिल होते। लेकिन जैसा हम समझते हैं, उससे ठीक उल्टा ही है बिल्कुल। एकदम about turn (पूर्ण परिवर्तन) है।

मुमुक्षुः- क्योंकि केवलज्ञान की बात होती तो हम तो समझते (हैं कि) ....

पूज्य बाबूजीः- लोकालोक को जानता है। लोकालोक को जानता है।

मुमुक्षुः- (लोकालोक) को जानता है। और आप ये कह रहे हैं कि ये तो केवल ज्ञान को ही जानते हैं।

पूज्य बाबूजीः- बस! अब कहने में ये निश्चय हो जाने के बाद कि संपूर्णरूप से सबका सब ज्ञानाकार ही है, जितना भी प्रतिभास है - ये जानने के बाद और ज्ञायक की अनुभूति के बाद, अब जो भी प्रयोग होगा वो सब व्यवहार का ही होगा, आगम में भी और अपनी बातचीत में भी। हम कहेंगे लोकलोक को जानता है।

दूसरी (बात) ये कि जैसे ज्ञान ही जानने में आता है, तो ऐसा कहने पर जो अन्यमति हैं वे प्रहार करेंगे कि तुम्हारा सारा आगम झूठा, तुम्हारा सर्वज्ञ झूठा। क्योंकि सिर्फ एक आत्मा जानने में आता है, और (तो कुछ) जानने में नहीं आता। तब हम जवाब देंगे कि - नहीं! निश्चय से वो लोकालोक को जानते हैं। तब हमारा जवाब ये होगा कि वो व्यवहार से नहीं पर निश्चय से लोकालोक को जानते हैं। ये तो न्याय के प्रकरण हैं। जो दर्शन है वो सब न्यायप्रधान होते हैं। तो उनमें जो युक्तियाँ है, वो इसी तरह चलती हैं (कि) जैसे कोई एक-दूसरे पर पत्थर फेंक रहा हो। इसलिए हमारा उत्तर ये होगा कि निश्चय से भगवान सर्वज्ञ हैं और तीनलोक-तीनकाल को निश्चय से जानते हैं और साथ में आत्मा को भी जानते हैं - ऐसा।

मुमुक्षुः- और साथ में आत्मा को भी जानते हैं।

पूज्य बाबूजीः- आज महेन्द्र जी चुप कैसे हो गए? अनुभूति हो गई?

मुमुक्षुः- नहीं! इस बात को पीना है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! है तो पीने की (बात), कहने की नहीं है। जो बोला जाता है वो सत्य नहीं है, इसलिए अनुभूति (ही) सत्य है।

एक दार्शनिक का वाक्य है ये - It is not truth which is spoken. (जो कहा जाता है वह सत्य नहीं है)। सत्य बोला नहीं जाता है, सत्य की अनुभूति होती है।

मुमुक्षुः- कल एक अंत में प्रश्न आया था, बेन का। वो बेटी आई नहीं है इसलिए इंतजार करते हैं। (प्रश्न था) सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसके एक समय पहले भी उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं - ऐसा क्यों है?[79]

पूज्य बाबूजीः- ऐसा इसलिए है कि ज्ञान के जो विषय हैं वो अनेक हैं और श्रद्धा का जो विषय है वो केवल एक है। इसलिए श्रद्धा जब अपने विषय का वरण कर लेती है तब ज्ञान सम्यक् कहलाता है क्योंकि ज्ञान के विषय अनेक हैं। जिस समय ज्ञान शुद्धात्मा को देखता है, जानता है, अनुभव करता है, शुद्धोपयोग में होता है उस समय भी ज्ञान को ये स्वीकार है कि अभी राग बाकी है। लेकिन श्रद्धा को ये स्वीकार नहीं है। श्रद्धा को केवल एक ज्ञायक (ही) स्वीकार है, चिन्मात्र स्वीकार है। इसलिए चिन्मात्र ज्ञायक का वरण हो जाने पर ज्ञान तुरंत सम्यक् हो जाता है।

ज्ञान के दो पहलू हैं (और) श्रद्धा का एक पहलू (है)। तब सच्चा हुआ न!

जैसे स्वयंवर होता है। तो स्वयंवर में एक राजकन्या है और उसकी कोई प्रतिज्ञा होती है। तो वो सब राजकुमार आते हैं। अब वो सबको देखती है लेकिन वरण नहीं हुआ अभी। और वरण होते ही वो सम्यक् हो गया माने स्व-पर का विभाग हो गया उसमें, वरण होते ही। उसके पहले मिथ्या होता है क्योंकि वो तो स्व ही ढूँढ रही है न अभी। इसलिए स्व-पर का विभाग नहीं हुआ अभी; और ज्ञायक को जानते ही ज्ञान में स्व-पर का विभाग उत्पन्न होता है। 'ये मैं हूँ' इसका अर्थ (ये) हुआ कि अन्य सब जितने भाव हैं, इससे अनमेल जितने भाव हैं वे सारे के सारे पर हैं। ये विभाग उसी समय उत्पन्न होता है। पहले विकल्पात्मक था विभाग, पहले विकल्पों में था। लेकिन वास्तविक विभाग अब हुआ कि जब स्वसत्ता को जाना तब परसत्ता वास्तव में जानने में आई कि ये पर है। इसीलिए सम्यग्दर्शन को पहले लिया है। स्वयंवर हुआ, स्वयं (का) वरण हुआ, स्व का वरण हुआ (तब).....

मुमुक्षुः- बराबर! स्व का वरण हुआ।

पूज्य बाबूजीः- स्व का वरण हुआ तब ज्ञान सम्यक् हुआ। स्व-पर का विभाग तब पैदा हुआ उसको।

मुमुक्षुः- श्रद्धा हुई सम्यक् तब ज्ञान सम्यक् हुआ।

पूज्य बाबूजीः- तब ज्ञान सम्यक् हुआ, उसी समय; और उसी समय स्व-पर का विभाग हुआ, उसी समय निश्चय-व्यवहार का जन्म हुआ।

मुमुक्षुः- हाँ जी! और उसी समय?

79 सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसके एक समय पहले भी उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं - ऐसा क्यों है? - 41 Mins

पूज्य बाबूजी:- निश्चय-व्यवहार का जन्म हुआ, उसी समय। शेष इससे पहले जो निश्चय-व्यवहार था वो सविकल्प (अर्थात्) विकल्पात्मक था। जो भी निश्चय का चिंतन था वो सारा का सारा अथवा निर्णय का जो समय था, वो सारा का सारा विकल्पात्मक था। ज्ञान के विकल्प, राग के विकल्प नहीं। उनसे काम कुछ नहीं होता है राग के विकल्पों से। भले ही वो ज्ञान के स्वर में बोलते हों तो भी वो मूर्ख हैं, ज्ञानशून्य हैं। इसलिए उनसे काम नहीं होता। वो तो हेयतत्त्व हैं। ये भी हेयतत्त्व है - ज्ञान का विकल्प भी, ये भी हेयतत्त्व है।

मुमुक्षु:- ओहोहो! ये क्या कहा प्रभु?

पूज्य बाबूजी:- भाई! उपादेय केवल एक है न, उपादेय केवल शुद्धात्मा है। बाकी अन्य सब हेय हैं। अब इसमें कौन बाकी बचा? केवल (और) केवल शुद्धात्मा (ही) उपादेय है विश्व में, संपूर्ण विश्व में। अन्य सारा अपना पर्याय समुदाय, अपना गुण समुदाय और अन्य सारा जगत - ये सब हेयतत्त्व है।

मुमुक्षु:- अपना पर्याय समुदाय, अपना गुण समुदाय....

पूज्य बाबूजी:- गुण समुदाय। गुण समुदाय में गुणों का विकल्प, गुण का भिन्न-भिन्न विचार - ये सब हेय (है) और सारा जगत हेय (है)। सारे जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय ये हेयतत्त्व हैं।

मुमुक्षु:- गुण समुदाय माने ज्ञेयों का अन्य-अन्य विकल्प?

पूज्य बाबूजी:- विकल्प!

मुमुक्षु:- भिन्न-भिन्न गुण?

पूज्य बाबूजी:- भिन्न-भिन्न विकल्प। और गुण समुदायरूप से देखें तो वो शुद्धात्मा के साथ गया, क्योंकि गुणों का जो स्वरूप है वो शुद्धात्मा जैसा है। पर्याय का स्वरूप परिणमन है और गुण और द्रव्य का स्वरूप अपरिणामी है; अपरिणामी है।

द्रव्य अपरिणामी है,[80] निश्चितरूप में अपरिणामी है। अकर्ता है (और) अपरिणामी है। इसीलिए वास्तव में पर का कर्ता तो है ही नहीं, पर को जाननेवाला भी नहीं है।

मुमुक्षु:- पर का कर्ता तो नहीं, पर को जाननेवाला (भी नहीं)।

पूज्य बाबूजी:- (पर को) जाननेवाला भी नहीं, इससे अंतर्मुख होता है। और ये मान ले कि..... स्वपरप्रकाशक ही (है ऐसा) माने; तो स्वपरप्रकाशक माने तो परप्रकाशकता भी (ज्ञान का) स्वभाव हुआ न? तो स्वभाव हुआ तो वो पर की ओर ज्ञान गए बिना नहीं रहेगा और कभी भी अंतर्मुख नहीं हो सकेगा।

मुमुक्षु:- आहाहा! वाह वाह! स्वपरप्रकाशक माना...

पूज्य बाबूजी:- क्योंकि उसकी तो आदत है न सदा से। इसलिए परप्रकाशकता मानी तो वो ज्ञान बहिर्मुख होगा ही होगा और अंतर्मुख होकर ज्ञायक का वरण नहीं करेगा वो। बहिर्मुख

80 निश्चय से स्वप्रकाशक ही है, स्वपरप्रकाशक नहीं है। - 46 Mins

ज्ञान होगा ही होगा उसमें। इसलिए निश्चय से स्वप्रकाशक ही है वास्तव में। वही है, प्रक्रिया देखें तो वही है। क्योंकि ज्ञान कहीं जाता नहीं और ज्ञान में कोई आता नहीं। और व्यवहार में कहते हैं कि ज्ञान सर्वगत है और सर्व पदार्थ आत्मगत हैं - इसका नाम व्यवहार है।

मुमुक्षुः- ज्ञान सर्वगत है!

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान सर्वगत है।

मुमुक्षुः- और पदार्थ ज्ञानगत हैं।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञानगत हैं।

मुमुक्षुः- आत्मगत हैं।

पूज्य बाबूजीः- आत्मगत हैं।

मुमुक्षुः- वो व्यवहार?

पूज्य बाबूजीः- वो व्यवहार।

मुमुक्षुः- तो निश्चय क्या?

पूज्य बाबूजीः- निश्चय माने ज्ञान ज्ञानगत है, ज्ञायकगत है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान तो ज्ञायकगत है। 'मैं ज्ञायक हूँ' - बस इसका नाम है ज्ञान। जहाँ ज्ञान ने स्वयं अपने को बिल्कुल तिरोभूत कर दिया हो, बल्कि निकाल दिया (हो), बल्कि अपना लोप जैसा कर दिया हो.... लोप नहीं हुआ है (वास्तव में)। है पर्याय, पर्याय में सारा (काम) हो रहा है। पर भीतर से पर्याय का जो उत्साह है वो यह है कि उसे ज्ञायक के साथ अभेद होना है। 'मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ' - यहाँ अभेदता नहीं है, यहाँ अभी अंतर पड़ा है। ये अंतर है यहाँ। इसलिए अभेदता की पराकाष्ठा ये है कि मैं ही ज्ञायक हूँ, ये अभेदता की पराकाष्ठा (है)। बोलती पर्याय है। तो पर्याय स्वयं बाहर निकल गई और ज्ञायक पसर गया उसमें, पर्याय में; तो पर्याय ज्ञायक बन गई - ऐसा।

ज्ञायक बन गई माने ज्ञायक का स्वर भरने लगी।

मुमुक्षुः- पर्याय स्वयं बाहर निकल गई और....

पूज्य बाबूजीः- और ज्ञायक भर गया उसमें।

मुमुक्षुः- और ज्ञायक उसमें भर गया!

पूज्य बाबूजीः- उसमें सारा ज्ञायक पसर गया।

मुमुक्षुः- माने पर्याय का स्वर बदल गया कि मैं ज्ञायक हूँ।

पूज्य बाबूजीः- पर्याय का स्वर बदल गया।

पहले पर्याय अपने को आत्मा मानती थी वो मिथ्यादर्शन था, मिथ्याज्ञान था, मिथ्याचारित्र था। अब वो ज्ञायक को स्व मान रही है, स्व जान रही है और आचरण भी कर रही है। इस तरह

'मैं ज्ञायक हूँ' बस यही अनुभूति है। और अनुभूति में कुछ नहीं टटोलना (है)। वो जो ज्ञायकाकार है वो स्वयं अनुभूति (है)। वो ज्ञायकाकर है वो स्वयं ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय है। ज्ञान की पर्याय स्वयं ज्ञायकाकार है। तो ज्ञायकाकार है तो ज्ञायक पसर गया उसमें क्योंकि वो बोल रही है कि मैं ज्ञायक हूँ, मैं ही ज्ञायक हूँ। अथवा अनुभव में तो दशा दूसरी होती है, ये तो अपने बोलने की बात है; क्योंकि बोलना और इससे आगे ताकत नहीं है शब्दों में कि 'मैं चिन्मात्र हूँ, मैं ज्ञायक हूँ'। इससे आगे ताकत नहीं है कि वो अनुभव करके बता दे, ऐसी शब्दों में ताकत नहीं है; और अनुभव के पास शब्द नहीं हैं। इसलिए शब्दों से ही समझाया जाता है तो समझ में आ जाता है। ज्ञान में इतनी ताकत है कि वो शब्द जो होते हैं उससे उसको भाव समझ में आ जाता है; तो वो (पर्याय) अभेद हो जाती है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इसी का नाम अभेदता है। अब अभेदता का और दूसरा चरण कौनसा होगा? कौनसा विकल्प (और) कौनसा अवकाश है बहिरता का? पराकाष्ठा हो गई।

मुमुक्षुः- कि मैं ज्ञायक हूँ।

पूज्य बाबूजी:-[81] मैं ज्ञायक हूँ, बस। क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय, श्रद्धा और श्रद्धेय - वो एक ही पदार्थ में होने चाहिए। क्योंकि दूसरे पदार्थों से ज्ञान और आत्मा का अत्यंत विभाग है। दूसरे पदार्थों से ज्ञान और आत्मा अत्यंत पर हैं और आत्मा से दूसरे पदार्थ अत्यंत पर हैं। इसलिए श्रद्धा और ज्ञान (हैं बस)। तो श्रद्धा का श्रद्धेय और ज्ञान का ज्ञेय, वो स्वयं उस पदार्थ में ही होना चाहिए। उस पदार्थ में ही होना चाहिए। तो उस पदार्थ में ही ये व्यवस्था है कि अगर जो ज्ञेय है - ध्रुव ज्ञायक, वो अगर नहीं बोलता है वो अगर नहीं चलता है, वो परिणमन नहीं करता है तो उसके साथ में प्रकृति ने परिणमन को रखा। और परिणमन यह बोलता है (कि) मैं ज्ञायक हूँ - ये (है) अभेदता की पराकाष्ठा।

और केवल भेद में हम रहेंगे कि 'मैं ज्ञायक को जानती हूँ' तो इस तरह भेद जो चलेगा, तो उस भेद से अभेदता नहीं होने पर ये दो द्रव्य हो जायेंगे (द्रव्य और पर्याय)। क्योंकि अत्यंत भेद हो जायेगा (इसमें), एकांत। ये एकांत हो जायेगा! ये जो भेद है न, तो वो एकांत हो जायेगा। और एकांत होने के कारण जो द्रव्य और पर्याय हैं, वो दो एक ही पदार्थ के अवयव नहीं रहकर वो परद्रव्य हो जायेंगे - दो। इसलिए अभेदता का भी कोई अवसर होना चाहिए। तो अभेदता का अवसर है अनुभूति और शुद्धोपयोग (कि) मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र।

मुमुक्षुः- अद्‌भूत! एक-एक लफ़्ज़ बहुत सुंदर। वाह रे वाह! दो सत् दो द्रव्य बन जायेंगे।

पूज्य बाबूजी:- दो द्रव्य बन जायेंगे। अगर केवल भेद में हम परिणमन करेंगे तो दो द्रव्य बन जायेंगे वो, क्योंकि पदार्थ को अकेला भेदरूप माना न। भेदरूप मान न अकेला भेदरूप, तो भेदरूप है तो अनेक द्रव्य हो गए वो। और एक पदार्थ में जो द्रव्य-गुण-पर्याय हैं उनकी अभेदता

81 अभेद होने का अवकाश ही नहीं होगा, तो द्रव्य और पर्याय एक पदार्थ के अवयव न रहकर दो द्रव्य हो जायेंगे। - 50.36 Mins

भी है और उनमें जो स्वरूप-भेद है वो भी स्वीकार है, दोनों स्वीकार हैं। उनमें जो स्वरूप-भेद है, वो भी स्वीकार है और उनकी अभेदता भी स्वीकार है क्योंकि एक ही पदार्थ के सदस्य हैं ये। तो द्रव्य और पर्याय ये मूलरूप से दो सदस्य अपन ने बनाये।

तो जो द्रव्य है वो यदि स्थिर है, ध्रुव है, स्थायी है, स्थायीभाव है, तो पर्याय है वो संचारीभाव है।

नाटक कहा न समयसार को। तो ये नाटक के ही अवयव हैं स्थायीभाव, संचारीभाव, विभाव और अनुभाव। ये नाटक के चार अंग होते हैं, भावों के। इस तरह यहाँ भी नाटक कहा समयसार को.... तो स्थायीभाव तो ध्रुव है - शुद्ध ज्ञायक; और संचारीभाव है अनुभूति (अर्थात्) शुद्धोपयोग - ये संचारीभाव। ध्यान, ध्यान भी उसे कहेंगे क्योंकि अंतर्मुहूर्त तो होती ही है वो। उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त नहीं पर मध्यम अंतर्मुहूर्त (होती है)।

मुमुक्षुः- होती है, तो आत्मा के सन्मुख होता है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ!

मुमुक्षुः- भिन्नता है लेकिन अतद्भाव से है न?

पूज्य बाबूजीः- अतद्भाव से।

मुमुक्षुः- अतद्भाव से है।

पूज्य बाबूजीः- अतद्भाव! स्वरूप न्यारे-न्यारे हैं न, इसलिए अतद्भाव (है)।

मुमुक्षुः- लेकिन ऐसे दो भेद नहीं हैं।

पूज्य बाबूजीः- पृथकता नहीं है!

मुमुक्षुः- बराबर! पृथकता नहीं है, अतद्भाव से है।

पूज्य बाबूजीः- पृथकता नहीं है। हाँ! अतद्भाविक भेद है, अतद्भाव।

मुमुक्षुः- क्योंकि एक ही पदार्थ है इसलिए।

पूज्य बाबूजीः- एक ही पदार्थ है इसलिए। इसलिए उसका नाम अतद्भाव (है)। जो द्रव्य है वो गुण नहीं है। जो गुण है वो पर्याय नहीं है। जो पर्याय है वो गुण नहीं है, वो द्रव्य नहीं है। जो गुण है वो द्रव्य नहीं है, पर्याय नहीं है - इस तरह अतद्भाविक भेद है। तीनों का स्वरूप न्यारा-न्यारा है।

मुमुक्षुः- गुण-गुणी में भी अतद्भाव हो सकता है? एक गुण दूसरे गुण में अतद्भाव है?

पूज्य बाबूजीः- एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, ये भी अतद्भाव है।

मुमुक्षुः- बाबूजी! इसमें जो एकरुपता है वो ध्रुवपना है?

पूज्य बाबूजीः- एकरूपता है, वो ध्रुवपना है। जो अन्वय है उसका नाम द्रव्य, उसका नाम ध्रुव और वो एकरूपता (है) क्योंकि वो एकरूप रहता है। जो परिणाम है उसमें अनेकरूपता होती है। अनेकरूपता माने शुद्ध पर्याय हो तो भी अनेकरुपता है न। एक के बाद एक, एक के

बाद एक, एक के बाद एक, अनेकात्मक है वो। और जो ध्रुव है वो एकात्मक है, एक है; एक को शुद्ध कहते हैं।

मुमुक्षुः- बाबूजी! इसमें तीन बात आ गईं कि निर्विषय भी हो गया, अतद्भाव भी हो गया और एकरूप भाव भी हो गया।

पूज्य बाबूजीः- एकरूप भी हो गया, सब हो गया।

और लाइए न, प्रश्न लाइए। इसी में कोई बात रह गई हो तो।

मुमुक्षुः-[82] श्रद्धा के विषय में गुण शामिल है या नहीं?

पूज्य बाबूजीः- श्रद्धा के विषय में गुण शामिल हैं। जो प्रयोग-पद्धति होती है तो उसमें गुण शामिल होते हैं। जो विचार-पद्धति होती है तो उसमें न्यारा-न्यारा विचार होता है। गुणों के माध्यम से ही.... द्रव्य का जो विचार है वो गुणों के माध्यम से ही होता है। क्योंकि द्रव्य एक सत्ता है और जो गुण हैं वो उसकी संपत्ति है। इसलिए आत्मा का जो विचार है वो गुणों के माध्यम से ही होता है। लेकिन जो प्रयोग-पद्धति है अनुभव की उसमें (अनंत) गुणात्मक एक द्रव्य; अनंत गुणात्मक एक - ऐसा ध्रौव्य उसकी अनुभूति होती है।

अनुभूति ध्रुव की ही हो सकती है। अन्य की जो अनुभूति है वो मिथ्या होती है, चाहे एक गुण की हो चाहे एक पर्याय की हो, किसी की भी हो।

मुमुक्षुः-[83] निर्विकल्प अनुभव के समय ज्ञान क्या काम करता है?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान जानता है आत्मा का जैसा स्वरूप निश्चय किया था, ठीक वैसा का वैसा जानता है।

मुमुक्षुः- ज्ञान तो सविकल्प कहा जाता है?

पूज्य बाबूजीः- सविकल्प कहा (है) दर्शन की अपेक्षा (से)। जो दर्शन नाम का गुण है न उसकी पर्याय की अपेक्षा (से ज्ञान को) सविकल्प कहा है। क्योंकि दर्शन की पर्याय निर्विकल्प होती है - निराकार, और ज्ञान साकार (होता है); दर्शन निर्विकल्प और ज्ञान सविकल्प। सविकल्प माने ज्ञान जानता है तो पदार्थ को भेदों सहित ही जानता है। और जो दर्शन है उसका विषय केवल सत् है, केवल सत्, तीनों लोक में। तीनों लोक में दर्शन किसी को भी विषय करता है तो वो सत् है केवल। उस सत् का निश्चय होने के बाद फिर ज्ञान प्रवेश करता है। तो ये दशा होती है छद्मस्थ दशा (कि) पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है। ये छद्मस्थ दशा में हुआ। और केवलज्ञान में दोनों साथ (में) होते हैं - दर्शन और ज्ञान। इसलिए सविकल्प केवलज्ञान भी है पर (वो) रागात्मक नहीं (है)। सविकल्प माने जानता है तो पदार्थ को भेद सहित ही जानता है (कि) ये आत्मा है, ये

82 श्रद्धा के विषय में गुण शामिल है या नहीं? - 56.03 Mins

83 निर्विकल्प अनुभव के समय ज्ञान क्या काम करता है? - 57.06 Mins

पुद्गल है, ये धर्म है, ये अधर्म है, ये आकाश है, ये काल है। इस तरह जानता है, उनके स्वरूप सहित, इसलिए उसको सविकल्प कहा। विकल्प माने भेद।

मुमुक्षुः- भेद सहित जानना होता है ज्ञान में?

पूज्य बाबूजीः- भेद सहित जानना होता है। इसमें भेद नहीं (है) दर्शन में। दर्शन में किसी भी पदार्थ को विषय करेगा तो सत्, बस केवल इतना।

मुमुक्षुः- दर्शन माने?

पूज्य बाबूजीः- सत् केवल सत्। उसको महासत्ता भी कहते हैं कि संपूर्ण जो विश्व है ये, तो केवल सत् रूप - ये दर्शन का विषय (है)। संपूर्ण विश्व की अपेक्षा लें तो उसे महासत्ता कहते हैं। और एक पदार्थ की अपेक्षा लें तो उसे अवांतर सत्ता कहते हैं।

मुमुक्षुः- वाह वाह!

पूज्य बाबूजीः- उसे अवांतर सत्ता कहते हैं। वो दोनों नहीं एक ही रूप, अवांतर सत्तारूप ही होता है। और जो केवलज्ञान है वो बिल्कुल महासत्तारूप हो गया क्योंकि सारे पदार्थ सत् (हैं) केवल। केवलज्ञान-केवलदर्शन में भी ऐसा ही होता है। केवलज्ञान नहीं, केवलज्ञान मत लिख लेना। केवलदर्शन!

तो केवलदर्शन और केवलज्ञान साथ ही होते हैं, लेकिन केवलदर्शन का विषय ये सारा विश्व लेकिन न्यारे-न्यारे, न्यारे-न्यारे।

मुमुक्षुः- और केवलज्ञान का?

पूज्य बाबूजीः- केवलज्ञान का भी न्यारा-न्यारा पर ये ज्ञान एक पर्याय है न आखिर, इसीलिए एक ही है। उसको प्रोत्साहित नहीं करना। उसको ज्यादा माने वज़न नहीं देना कि ज्ञान में अनेक आकार हैं। उनकी कोई कीमत नहीं।

मुमुक्षुः- कोई कीमत नहीं!

पूज्य बाबूजीः- वो ज्ञान ही हैं सारे के सारे, सबके सब ज्ञान ही हैं।

मुमुक्षुः-[84] श्रद्धा का विषय और ज्ञान का विषय एक ही हो फिर भी ज्ञान सविकल्प हो सकता है..

पूज्य बाबूजीः- सविकल्प में कहाँ दिक्कत रही? जब दर्शन निर्विकल्प है, निराकार है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता है, वो सारे जगत को केवल सत् रूप विषय करता है। जैसे ज्ञान को जो विषय करना है जिस पदार्थ को विषय करना है, तो उसके पहले छद्मस्थ दशा में दर्शन होगा। तो वो दर्शन उस पदार्थ को सत् - इतना विषय करके रह जायेगा। इसके बाद ज्ञान की परिणति होगी तो ये क्या है ये? क्या है? - ये जो ज्ञान है, तो ये यहाँ से ज्ञान शुरू हो गया। मैं तो ज्ञान हूँ -

84 श्रद्धा का विषय और ज्ञान का विषय एक ही होता है फिर भी ज्ञान सविकल्प हो सकता है? - 1.00.20 Hours

यहाँ से ज्ञान शुरू हो गया। ये जड़ है, पुद्गल है, सफेद है, काला है, पीला है, नीला है, खट्टा है, मीठा है, चरपरा है कुछ भी। कोई भी भेद उसमें प्रवृत्त हुआ तो वो ज्ञान हो गया।

मुमुक्षुः- तो एक ही पर्याय में होता है सब?

पूज्य बाबूजीः- एक ही। हें?

मुमुक्षुः- एक ही पर्याय में उत्पन्न होता है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं! एक पर्याय में नहीं होता। छद्मस्थ दशा में माने केवलज्ञान से पहले तो दर्शन-उपयोग होता है और दूसरे क्षण में ज्ञान-उपयोग होता है। **दंसणपुव्वं णाणं** ऐसा **छद्मत्थाणं** वृहद्-द्रव्यसंग्रह में है (कि) छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और केवलज्ञान में युगपद् **जम्हा केवलि** केवली को युगपद् होते हैं।

दंसणपुव्वं णाणं, छद्मत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥४४॥

मुमुक्षुः-[85] एक प्रश्न है प्रभु! **उपयोगो जीव लक्षणं** - उसका स्पष्टीकरण।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उपयोग माने ये जो ज्ञान प्रतिसमय चलता है, ज्ञान की पर्याय उसका नाम उपयोग है। यहाँ गुण नहीं (लेना) द्रव्य नहीं (लेना)। पर ज्ञान की जो पर्याय प्रतिसमय चलती है तो उसका अर्थ ये है कि ये जो काम होता है जानने का, तो इसके पीछे कोई पदार्थ होना चाहिए। पदार्थ नहीं होगा तो कोई परिणति कैसे होगी? पर्याय कैसे होगी?

जैसे घर में आटा नहीं है फिर भी रोटी बन गई - ऐसा कभी देखा नहीं। तो आटा होना चाहिए फिर रोटी इसके बाद बनती है। इसी तरह पदार्थ होता है तो ये जो ज्ञान (है) ये सिद्ध करता है कि इस तरह का जाननेवाला कोई पदार्थ है - ऐसा निश्चय करता है। ज्ञान की जो उपयोगरूप पर्याय है, वो ये निश्चय करती है कि जाननेवाला कोई है अर्थात् 'मैं जाननेवाला हूँ' - ये निश्चय करती है। और इसी तरह मैं जाननेवाला हूँ और जगत में ऐसे भी पदार्थ हैं कि जो जाननेवाले नहीं हैं - ये भी वो उपयोग ही जानता है, ज्ञान की पर्याय ही जानती है।

यहाँ उपयोग में ज्ञान लेना क्योंकि उपयोग के दो भेद - एक दर्शन और एक ज्ञान; तो यहाँ ज्ञान लेना। तो ज्ञान है लक्षण, दर्शन लक्षण नहीं है। तो उपयोग माने वो पर्याय ज्ञान की जो प्रतिसमय चलती है वो लक्षण है। उससे आत्मा भी जाना जाता है और जगत भी जाना जाता है, सब जाना जाता है।

मुमुक्षुः- बाबूजी! उस पर्याय में बंध-मोक्ष की प्रवृत्ति है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं उसमें नहीं है। उसमें बंध-मोक्ष की प्रवृत्ति नहीं है फिर भी सदा से, अनादिकाल से जो अज्ञान है, उस अज्ञान पर ही सारा दोषारोपण किया है। क्योंकि ज्ञान होता है समझदार, अन्य गुण समझदार नहीं हैं। (तो) ज्ञान ने जो भूल की है, ज्ञान जो भ्रम में पड़ा है,

85 उपयोग लक्षण का स्पष्टीकरण। - 1.02.05 Hours

इसलिए समयसार में सारा दोष ज्ञान को ही दिया है और अज्ञान कहा है कि अज्ञान से ही बंध होता है और ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है - ऐसा कहा है। लेकिन सचमुच ज्ञान और अज्ञान इन दोनों से करणानुयोग की अपेक्षा बंध नहीं होता है, संवर भी नहीं होता (और) निर्जरा भी नहीं होती। लेकिन चूँकि ज्ञान की प्रवृत्ति जब होती है तो उधर संवर और निर्जरा प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये प्रगट होते हैं, उसके फलस्वरुप। इसलिए ज्ञान पर ही सारा वजन डाला जाता है आत्मा में क्योंकि ज्ञान ही प्रमुख है।

मुमुक्षुः- ज्ञान ही प्रमुख है!

पूज्य बाबूजीः- इसलिए सारा दोष समयसार में ज्ञान को दिया है, क्योंकि जानेगा नहीं तो श्रद्धा कैसे करेगा? आचरण भी कैसे होगा? इसलिए ज्ञान पहले निश्चय करे कि तेरा विहार-स्थल कौनसा है? तेरे आचरण का आश्रम कौनसा है? तो ये ज्ञान निश्चय करता है। तो ज्ञान निश्चय करता है तो श्रद्धा जागृत हुई और उधर आचरण उसमें क्रीड़ा करता है। जैसे उपवन में क्रीड़ा होती है ऐसे आत्मा में क्रीड़ा करता है, चारित्र। इस तरह तीनों प्रगट होते हैं।

मुमुक्षुः- बाबूजी! लेकिन जो उपयोग है वो उपयोग तो जीव का लक्षण है। तो वो जीव का लक्षण कभी मलिन तो नहीं होता न?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! नहीं हुआ न!

मुमुक्षुः- हाँ! तो ये जो उपयोग है (वो) हमेशा वैसा (का) ही वैसा है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं! उपयोग तो वैसा का वैसा है लेकिन जब ये मिथ्याप्रवृत्ति करता है माने जैसा है वैसा नहीं जानता, तो इसको मिथ्याज्ञान और अज्ञान कहते हैं। ये भी तो होता है न! ये तो स्वयं प्रगट है न, अपने अनुभव की चीज है न कि जैसा है वैसा नहीं जानता।

मुमुक्षुः- धर्म चूक जाता है!

पूज्य बाबूजीः- तो वो अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। इसीलिए वो ज्ञान में ही होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान शुद्ध है। ज्ञान शुद्ध इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान में जो कल्पना होती है कि ये अन्य पदार्थ मेरे ज्ञान में आते हैं - ये जो कल्पना और ये जो अध्यवसान है इसके कारण वो पदार्थ ज्ञान में नहीं आते। ज्ञान में तो ये कल्पना होती है कि पदार्थ मेरे ज्ञान में आते हैं, आ जाते हैं। तो इसको भय, चिंता, विषाद, संक्लेश ये सब होते हैं। और जिस समय इसको ये ज्ञान हो जाये कि पदार्थ मेरे ज्ञान में नहीं आते पर मैं तो अपने भीतर ही भीतर पदार्थों जैसी रचना कर लेता हूँ, तो ज्ञान सम्यक् हो गया। और जब तक ये नहीं जानता तब तक सव-पर का विभाग नहीं हुआ न? तब तक उसने पर का अस्तित्व ज्ञान में माना तो स्व-पर का विभाग नहीं हुआ। इसलिए ज्ञान मिथ्या है और ये ज्ञान का ही दोष है। पर मिथ्याज्ञान होने पर भी उससे बंध नहीं होता और उससे निर्जरा, संवर-निर्जरा भी नहीं होते, मिथ्याज्ञान होने पर भी।

मुमुक्षुः- क्यों, वो कैसे?

पूज्य बाबूजी:- उसका कारण है बहुत बड़ा कि अगर ज्ञान से आस्रव और बंध होने लग जायें, मिथ्याज्ञान से अगर आस्रव-बंध होने लग जायें तो वो सारा ज्ञान आवृत्त हो जायेगा; सारा ज्ञान, संपूर्ण ज्ञान। क्योंकि जब ज्ञान हमेशा क्षयोपशमरूप रहता है संसार दशा में, लेकिन अगर हम उससे ज्ञान से आस्रव और बंध मानेंगे, तो फिर वो ज्ञान सारा आवृत्त हो जायेगा। इसका अर्थ है कि आत्मा अचेतन हो जायेगा। ज्ञान ही नहीं रहेगा, ज्ञान की पर्याय ही नहीं रहेगी। इसलिए ज्ञान से बंध और मोक्ष नहीं माना पर समयसार में दोष उसी को दिया (है) क्योंकि समझदार वही है। अन्य को दोष नहीं दिया है। अज्ञान से ही आस्रव-बंध होता है और अज्ञान से ही आस्रव-बंध की निवृत्ति होती है। आस्रव की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है।

मुमुक्षु:- ज्ञान से बंध-मोक्ष नहीं होता।

पूज्य बाबूजी:- नहीं होता!

मुमुक्षु:- अज्ञान से बंध-मोक्ष (होता है)।

पूज्य बाबूजी:- न अज्ञान से भी नहीं होता। अज्ञान से भी नहीं होता है।

मुमुक्षु:- तो प्रभु! कैसे होता है?

पूज्य बाबूजी:- वो अज्ञान ही मूल कारण रहा न! कि अज्ञान ने स्व-पर का विभाग नहीं किया - यही तो मूल कारण रहा न। इसी का नाम मिथ्यादर्शन, इसी का नाम मिथ्याज्ञान, इसी का नाम मिथ्याचारित्र। मूल कारण ज्ञान है, इसीलिए वो मिथ्याज्ञान होता है बराबर।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!

जिनवाणी माता की जय हो!

जिनवाणी-स्तुति

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर १०, तारीख ३-२-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

पूज्य बाबूजी:-[86] अनुभूति के समय पर्याय में 'ज्ञायक' का अनुभव होता है - इस पर तो अपन काफ़ी चर्चा कर चुके (हैं)। और ज्ञायक के जो प्रदेश हैं, आत्मा के प्रदेश वो दिखाई नहीं देते। तो उनको देखे बिना भी अनुभूति हो सकती है, क्योंकि उनको देखना ये कोई आवश्यक नहीं (है)। जैसे आँख बंद करके हम कोई स्वादिष्ट वस्तु खायें, तो उसका स्वाद और उसका आनन्द दोनों बराबर होते हैं; आँख बंद करके उसको देखे बिना। माने उसका कोई आकार-प्रकार हमें नहीं दिखाई दिया (फिर भी स्वाद आया)। तो ये आत्मा के प्रदेश (यदि) दिखाई दें तो वो तो आकार हो जाएगा और पर्यायदृष्टि हो जाएगी (अर्थात्) मिथ्या दृष्टि हो जाएगी। आत्मा के प्रदेश देखेगा तो वो मनुष्य आकार दिखाई देगा इस दशा में। केवलज्ञान की बात अलग है, वहाँ तो आत्मा के प्रदेश दिखाई देते हैं। लेकिन यहाँ छद्मस्थ दशा में ज्ञान के कम विकास की दशा में, क्षयोपशम दशा में आत्मा के प्रदेश नहीं दिखाई देने पर भी अनुभूति बराबर होती है और उससे प्रगट आनंद भी जानने में आता है।

देखिए ऐसा है, उदाहरण से अपन समझते हैं। जैसे एक गरीब कन्या है और उसका संबंध किसी राजघराने में हो गया। पहले ऐसा नियम था (कि) माता-पिता से पूछकर कोई जो medium (माध्यम) होता है व्यास वगैरह, वे लोग जाते थे और वे संबंध करके आते थे।

तो उस गरीब कन्या का राजघराने में संबंध हो गया किसी राजा के राजकुमार से। अब जब व्यास वापस आया संदेश लेकर और माता-पिता को कहने लगा, तो वो कन्या भी पास के कमरे में थी; तो उसने वो बात सुन ली। तो अब प्रश्न ये है कि वो (कन्या) अपने आप को क्या मानती है? पहले तो मैं गरीब घराने की कन्या हूँ - ये मानती थी। अब आज अभी उसने सुना ही है, विवाह अभी नहीं हुआ (है)। लेकिन वो अपने आप को क्या मानने लगी? गरीब की जगह रहते हुए भी और गरीब जैसा ही भोजन करते हुए भी वो आज ही अपने आप को मानने लगी कि मैं तो राजकुमारी हूँ। तो उसने देखा नहीं न! वो राजघराना उसने देखा तो नहीं जाकर। लेकिन राजघराने का जो है वैभव है उससे तो सब परिचित हैं ही। उसने सारा वैभव सुनाया और इन्हें भी मालूम था।

86 आत्मा के प्रदेश देखे बिना भी अनुभूति हो सकती है। - 0.15 Mins

तो इसी तरह है आत्मा का वैभव जो है वो ज्ञात हो जाने पर आत्मा के प्रदेश देखने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन उस वैभव का उस अनुभूति में ज्ञान होता है अर्थात् संवेदन होता है तो आनंद का जन्म होता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों को देखने की छद्मस्थ दशा में ज्ञान में ताकत भी नहीं है। ताकत नहीं होने पर भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

प्रत्यक्ष कहते हैं उस अनुभव को क्योंकि प्रत्यक्ष आनंद आता है। इसलिए उस अनुभव को भी प्रत्यक्ष कहते हैं। पर पदार्थों को जानते समय वो परोक्ष है क्योंकि वो इंद्रियों और मन का सहारा लेकर प्रवर्तित होता है। और यहाँ किसी का सहारा नहीं है। पाँच इन्द्रिय का और मन का, किसी का सहारा नहीं है। ये जो निर्विकल्प संवेदन है तो इसी को शुद्धात्मानुभूति कहते हैं, इसी को ध्यान कहते हैं; (यदि) अंतर्मुहूर्त चले तो। तो वो बराबर, आनंद का अनुभव बराबर होता है। इसलिए प्रदेश देखने की आवश्यकता नहीं है।

मुमुक्षुः- जैसा ज्ञायक है वैसा ही ज्ञायक.....

पूज्य बाबूजीः- जैसा ज्ञायक का निर्णय किया.... सत्ता तो मानता है न ज्ञान। देखना किसको कहते हैं? देखना माने ज्ञान की पर्याय। एक तो देखना दर्शन के अर्थ में आता है। जैसे कल ही चली थी न चर्चा, दर्शन और ज्ञान की? तो दर्शन माने केवल सत्ता मात्र का अवलोकन, सत्ता मात्र का प्रतिभास। तो वो कोई भी पदार्थ हो, दर्शन (माने) केवल सत्ता मात्र का प्रतिभास उसमें होता है। तो इसको कहते हैं निर्विकल्प प्रतिभास, निराकार प्रतिभास। और जब ज्ञान होता है उसके बाद, तो उसको कहते हैं सविकल्प प्रतिभास। दोनों में 'प्रतिभास' शब्द आता है - दर्शन में भी और ज्ञान में भी। सविकल्प प्रतिभास, साकार प्रतिभास इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

तो वो दर्शन की बात तो अलग रही। लेकिन ज्ञान ने देख तो लिया आत्मा को। और क्या देखना है? कि वैभवशाली है और उसकी सत्ता है - ऐसा ज्ञान की पर्याय से निर्णय किया। क्योंकि ज्ञान की पर्याय है तो ज्ञान पर्याय का सत्ताधारी कोई न कोई वस्तु मैं हूँ और वो जगत से, जगत के जड़ पदार्थों से बिल्कुल अलग प्रकार की है। इसलिए जगत से मैं बिल्कुल भिन्न हूँ और अत्यंत वैभवशाली हूँ, पारमार्थिक तत्त्व हूँ इस विश्व का - ऐसी उसकी महिमा जानता है। तो जब महिमा जानता है तो वहीं ज्ञान चला जाता है और ठीक जैसा निर्णय किया था, वैसी की वैसी अनुभूति हो जाती है।

कोई भी जैसे धनवान व्यक्ति है, तो वो मान लीजिए (कि) करोड़पति है। तो उसके पास जितना धन है, वैभव है (वो) सब मिलाकर करोड़पति है न; सब मिलाकर। उसके पास jewels (गहने) भी हैं, उसके पास सोना भी है, चाँदी भी है और दूसरे समान भी हैं। सबको मिलाकर वो करोड़पति है। तो वह जिस समय अपने आपको करोड़पति मानता है, उस समय उसे कौनसी चीज दिखाई देती है? कोई नहीं दिखाई देती है क्योंकि उसने पहले निर्णय कर लिया (है) कि ये सब मेरे पास है। ऐसा निर्णय किया तो केवल आनंद की प्रवृत्ति होती है, जानते समय। और उसमें

से कोई एक वस्तु वहाँ अगर दिखाई दे तो फिर वो आनंद की अनुभूति नहीं होगी और केवल उस वस्तु का विकल्प होकर रह जाएगा।

तो ये अभी अज्ञान दशा है। तो अज्ञान दशा में अपन क्या करते हैं? क्या मानते हैं अपने आपको? करोड़पति मानते हैं। करोड़पति मानते हैं तो ये तो पहले निर्णय कर चुके हैं कि क्या-क्या है अपने पास? ये तो ज्ञान के विकल्पों के द्वारा पहले निर्णय हो चुका है। तो उस निर्णय के अनुसार जब अनुभूति होती है, तो उन पदार्थों का भेद किए बिना 'सब पदार्थों का समग्र समुदाय मैं हूँ' - ऐसा जानकर अनुभूति होती है अपने को वो विचार करते ही आनंद भी होता है। वो तो लौकिक बात (है) लेकिन लौकिक बात में भी इतनी सच्चाई है न कि वहाँ किसी पदार्थ के आकार-प्रकार का हम अनुभव नहीं करते। सबका समुदायरूप, सबका स्वामी मैं एक क्षत्र हूँ - बस! इतना जानता है कि आनंद की तरंग (जन्म लेती है)। विकल्पात्मक (है) यहाँ तो लौकिक। लौकिक आनंद पैदा होता है।

इसलिए आत्मा के प्रदेश दिखाई न दें तो अनुभूति में कोई अंतर नहीं आता। जो अनुभूति इस छद्मस्थ को.... छद्मस्थ माने? अल्पज्ञान (वाला कि) जिसको केवलज्ञान नहीं है; क्षयोपशम ज्ञान (है), कम विकास वाला ज्ञान (है)। अनुभूति श्रुतज्ञान में होती है। मतिज्ञान भी लिखा है आगम में लेकिन मतिज्ञान प्रमाणज्ञान है। तो मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान कहते हैं उसको। जब अनुभूति होती है तो उसका नाम होता है भावश्रुतज्ञान। तो उसमें आत्मा के प्रदेश दिखाई न दें और (फिर भी) जो अनुभव हुआ उसमें आनंद की उत्पत्ति ठीक वैसे ही होती है जैसी (कि) भगवान सिद्ध को (होती है)।

भगवान केवली अरिहंत, वे भी आत्मा के प्रदेशों को देखते हैं और भगवान सिद्ध भी आत्मा के प्रदेशों को देखते हैं लेकिन आनंद में कोई अंतर उनके नहीं है। इसी तरह इसके आनंद में और भगवान अरहंत-सिद्ध के आनंद में कोई अंतर नहीं है, बिल्कुल अंतर नहीं है। माने जो अतीन्द्रिय आनंद चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को होता है, बस वही अतीन्द्रिय आनंद भगवान अरहंत को अपने आपको ज्ञायक मानते हुए और भगवान सिद्ध को भी अपने आपको ज्ञायक मानते हुए ठीक वही आनंद होता है; वैसा ही आनंद होता है।

जब पूर्ण ज्ञान होता है तो फिर सब दिखाई देते हैं, जगत के सब पदार्थ। इसी तरह आत्मा के प्रदेश भी दिखाई देते हैं। लेकिन वो प्रदेशों में मुग्ध (तो) नहीं हुआ (है) पर प्रदेशों की याद नहीं आती। भगवान सिद्ध को तो अनंतानंतकाल तक उन प्रदेशों की याद नहीं आती। प्रदेशों की याद आएगी तो एक अंग की याद आएगी (अर्थात्) आत्मा के एक अवयव की (याद आएगी)। इसलिए वो (प्रदेश) देखते हुए भी वो नहीं है ज्ञान में। ज्ञान में तो मात्र जैसे इस सम्यग्दृष्टि को ज्ञायकाकार उपयोग था, उसी तरह वहाँ केवलज्ञान ज्ञायकाकार होकर उसका अनुभव करता है।

मुमुक्षु:- केवलज्ञान ज्ञायकाकार होकर....

पूज्य बाबूजी:- हाँ! ज्ञायकाकार होता है। अनुभूति का तो स्वरूप ही ये ही है न, तो वो वहाँ कैसे बदल जाएगी? अगर यहाँ जो निर्णय किया है और अनुभूति हुई है, तो वो अरिहंतदशा-सिद्धदशा तक वो विधि बदलती नहीं है। वहाँ पर पदार्थ ज़्यादा जानने में आते हैं तो उन पदार्थों से कोई मतलब है ही नहीं क्योंकि वो हमारे रंचमात्र भी, अणुमात्र भी नहीं हैं। इसलिए यहाँ कम जानने में आते हैं तो ये ज्ञान कम नहीं (है) ये भी केवलज्ञान जैसा है- श्रुतज्ञान। इसलिए कहा है आगम में (कि) स्याद्वाद और केवलज्ञान में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है लेकिन अनुभूति में और आनंद में कोई अंतर नहीं है।

मुमुक्षु:- बाबूजी! ये आपने एक जो शब्द प्रयोग किया 'सविकल्प सप्रतिभास'.... सविकल्प प्रतिभास!

पूज्य बाबूजी:- सविकल्प प्रतिभास माने ज्ञान। और निर्विकल्प प्रतिभास माने दर्शन, दर्शनोपयोग। दोनों के साथ उपयोग शब्द है - दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। ये सम्यग्दर्शन नहीं (है)। सम्यग्दर्शन तो इसकी अपेक्षा सविकल्प कहा जाएगा क्योंकि वो तो 'मैं आत्मा हूँ, चेतन हूँ' - ऐसा जानकर वो प्रतीति करता है। और ज्ञान भी इसी प्रकार अनुभव करता है कि 'मैं चेतन हूँ'। उसमें जो दर्शनोपयोग है उसमें 'चेतन हूँ' - ये अवलोकन नहीं होता, ऐसा प्रतिभास नहीं होता। लेकिन सत् हूँ ऐसा प्रतिभास होता है (कि) केवल सत् मात्र हूँ। और भगवान केवली को वो दोनों युगपद् होते हैं और यहाँ छद्मस्थ दशा में पहले दर्शनोपयोग होता है, उसके बाद ज्ञानोपयोग होता है। ज्ञानोपयोग में स्वसत्ता का प्रतिभास होते हुए आनंद का जन्म होता है, ज्ञायकाकार प्रतिभास।

इसलिए अंतर समझना चाहिए। 'दर्शन' शब्द श्रद्धा के अर्थ में भी आया और 'दर्शन' शब्द सामान्य अवलोकन, सामान्य प्रतिभास उसके अर्थ में भी आया। सामान्य प्रतिभास और विशेष प्रतिभास, निर्विकल्प प्रतिभास और सविकल्प प्रतिभास, निराकार प्रतिभास और साकार प्रतिभास, इस तरह।

मुमुक्षु:- साकार प्रतिभास माने?

पूज्य बाबूजी:- साकार प्रतिभास माने ज्ञान।

मुमुक्षु:- और निराकार प्रतिभास माने?

पूज्य बाबूजी:- निराकार (प्रतिभास) माने सत् मात्र - ऐसा। ये दर्शन और ज्ञान का भेद समझना। और उधर दर्शन (अर्थात्) सम्यग्दर्शन अलग चीज है। वो तो 'मैं चैतन्य हूँ, शुद्ध चैतन्य हूँ' इस प्रकार प्रतीति करता हुआ उदित होता है, प्रगट होता है।

मुमुक्षु:- एक शक्तिरूप है और एक विषयरूप है?

पूज्य बाबूजी:- ये ज्ञान की अपेक्षा ये सविकल्प कहा जाएगा। और इसके पहले दर्शन हो चुका होता है और केवलज्ञान में दोनों युगपद् होते हैं।

मुमुक्षुः-[87] प्रभु! कषाय और लेश्या में फर्क क्या है? कृपया विस्तार से बताइए?

पूज्य बाबूजीः- कषाय जो है वो तो राग-द्वेषरूप परिणाम है, क्रोध-मान-माया-लोभरूप।

और लेश्या जो है वो योगों की प्रवृत्ति है। तो उस कषाय के साथ जो योगों की प्रवृत्ति होती है .... ये मन-वचन-काय तो होते ही हैं लेकिन इसके साथ में आत्मा के प्रदेशों में प्रतिसमय कंपन होता है। तो वो कंपन जो है यदि उसमें मन निमित्त है तो वो मनोयोग कहलाता है। यदि उसमें वचन निमित्त है कंपन में, तो वचन-योग कहलाता है और अगर काय निमित्त है, शरीर निमित्त है तो वो काय-योग कहलाता है।

भगवान अरिहंत को, तीर्थंकर को सबसे अधिक वचन-योग होता है। माने वचन-योग होता है माने वाणी मूसलाधार वर्षा की तरह से खिरती है। इसलिए वचन-योग बहुत होता है भगवान को, कंपन आत्मप्रदेशों का है। भगवान सिद्ध को नहीं! भगवान अरिहन्त को अभी एक कमी है कि आत्मप्रदेशों का कंपन वचन-योग और काय-योग से वहाँ पर होता है। लेकिन वहाँ कषाय नहीं है इसलिए वहाँ पर बंध नहीं है। यहाँ कषायपूर्वक ये कंपन होता है अज्ञान दशा में। और ज्ञान दशा में भी होता है तो वहाँ पर आस्रव और बंध होता है। ये भावलेश्या हुई; और द्रव्यलेश्या तो केवल वर्ण को कहते हैं। जैसे कौनसी गति में कौनसा वर्ण (है) शरीर का, उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं।

मुमुक्षुः- कौनसी गति में कौनसा वर्ण ....

पूज्य बाबूजीः- कौनसा वर्ण, उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं - रंग। कषाय (के) साथ योगों की जो प्रवृत्ति होती है भीतर (अर्थात्) कंपन जो होता है वो भावलेश्या है।

मुमुक्षुः- जो नए बंधों का कारण बन जाती है?

पूज्य बाबूजीः- जो आस्रव का कारण होती है। आस्रव का मूल कारण ये है और बंध का कारण है राग-द्वेष-मोह।

मुमुक्षुः- अच्छा! माने लेश्या होने से आस्रवों का कारण बनता है।

पूज्य बाबूजीः- तो आस्रव तो भगवान अरिहंत को भी होता है, लेकिन केवल साता का आस्रव होता है और वो भी एक समयमात्र का होता है। जैसे इस दरवाज़े से आया और उस दरवाज़े से निकल गया। इस तरह आस्रव भगवान अरिहंत को भी होता है लेकिन वो ठहरता नहीं है। उसकी स्थिति नहीं है इसलिए बंध नहीं कहलाता है वो। बंध तब कहलाता है कि जब वो एक समय से अधिक ठहरे। वो तो एक ही समय में सारा काम हो जाता है - आया और गया।

मुमुक्षुः- इर्यापथ आस्रव।

पूज्य बाबूजीः- माने entrance (आगमन) और exit (प्रस्थान) ये दोनों एक ही साथ, एक ही समय में हो जाता है। और हम लोगों को क्योंकि राग-द्वेष-मोह हैं इसलिए वो कर्म आते हैं और

87 कषाय और लेश्या में फर्क क्या है? - 16.21 Mins

ठहरते हैं, ठहर जाते हैं। इसी तरह राग-द्वेष-मोह आते हैं और ठहरते हैं। तो इसको कहते हैं कषाय और उसको कहते हैं लेश्या। ये (इस तरह) भिन्न-भिन्न है दोनों।

तो योग जो है वो आस्रव का कारण है खास तौर से। **कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः** यह छठवाँ अध्याय है तत्त्वार्थ सूत्र का, उसका पहला सूत्र है ये। **कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः** काया वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं और वो योग ही आस्रव है, आस्रव का कारण है, ऐसा। और अपने यहाँ अध्यात्म-पद्धति में क्योंकि बंध होता है इसलिए राग-द्वेष-मोह को ही आस्रव कहा और उन्हीं को बंध कहा अध्यात्म पद्धति में; क्योंकि बंध होगा ही सही, क्योंकि (वे) ठहरेंगे.. कर्म ठहरेंगे ही सही और ये रागादिक भी ठहरेंगे। इसलिए वहाँ पर उसको राग-द्वेष-मोह को ही आस्रव और राग-द्वेष-मोह को ही बंध कहते हैं अध्यात्म-पद्धति में।

मुमुक्षुः- लेश्या में जो वर्ण है तो वो ज़्यादा और कम....?

पूज्य बाबूजीः- उसकी नहीं करना ज़्यादा घुटायी। वो मतलब की नहीं है ज़्यादा बात। वर्ण होता है.... जैसे नरक में बहुत विड्रूप होता है, न मालूम (कैसा) काला-कलूटा कैसा होता है - ऐसा।

मुमुक्षुः- योग के साथ वर्ण का क्या संबंध होगा? क्योंकि योग तो कंपन है। तो उसके साथ वर्ण का (क्या संबंध)?

पूज्य बाबूजीः- योग जो कंपन है वो तो भावलेश्या हो गई न। तो ये तो शरीर के वर्ण से संबंधित है।

मुमुक्षुः-[88] भावमन भाववचन भावकाया - वो वीर्य गुण की पर्याय कही है?

पूज्य बाबूजीः- वीर्यान्तराय का क्षयोपशम! वीर्य गुण की पर्याय नहीं है वो, वो नामकर्म की पर्याय है। उसमें निमित्त ये होते हैं वरना वो कंपन तो एक ही तरह का होता है। भीतर आत्मप्रदेशों का जो कंपन है वो तो एक ही तरह का होता है। जैसे किसी को कंप रोग हो जाए न तो वो काँपता है। तो इस तरह वह कंपन तो प्रतिसमय चलता ही रहता है। लेकिन उसमें बाहर की निमित्तता किसकी है?

माने जैसे हम मन में सोच रहे हैं तो वो मनोयोग कहलायेगा। वाणी अगर अंर्तजल्प या बहिर्जल्प कुछ भी हो रहा है तो वो वचन-योग नाम होगा उस कंपन का। और काय की चेष्टा होगी तो काय-योग कहलायेगा वो भाव।

मुमुक्षुः-[89] एक प्रश्न है प्रभु! मतिज्ञान के पाँच भेद (हैं) - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। और मतिज्ञान के क्रम (हैं) - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन दोनों में फर्क क्या है? अंतर क्या है? कृपया स्पष्ट कीजिए।

88 भावमन भाववचन भावकाया - वो वीर्य गुण की पर्याय कही है? - 21.49 Mins

89 मतिज्ञान के भेद और मतिज्ञान के क्रम में अंतर क्या है? - 22.50 Mins

पूज्य बाबूजी:- ये जब हो जाता है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा - ये (जब) दर्शनोपयोग होता है तो दर्शनोपयोग के बाद ज्ञान में क्रम पड़ता है, पदार्थ को जानने में। जाना हुआ हो पदार्थ तो क्रम नहीं पड़ता, पहले से जाना हुआ हो (तो)। वरना जो पदार्थ हमें ज्ञात नहीं है तो उस पदार्थ को जानने में क्रम पड़ता है। तो दर्शनोपयोग के बाद सबसे पहले दूसरे क्षण में अवग्रह होता है। तो अवग्रह का अर्थ कोई पीला है, कोई काला है, सफ़ेद है, क्या है वो वस्तु? काली, पीली कुछ भी माने दिखाई देता है वो तो हुआ अवगृह।

ईहा - अब वो काला, पीला, नीला, सफ़ेद क्या है - ऐसी भीतर से शंका पैदा होना। शंका माने संशय नहीं लेकिन भीतर से ये प्रश्न पैदा होना कि ये क्या है पदार्थ - इसका नाम ईहाज्ञान। ईहा माने (कि) उसको जानने की इच्छा, उत्कन्ठा। और अवाय में निश्चय हो जाता है कि ये क्या है? ये कोई कबूतर है या ये कोई चील है या कोई चिड़िया है या क्या है कोई आदमी है या कोई जानवर है अथवा कोई परमाणु पुद्गल का कोई पिंड है - इस तरह का निश्चय होता है उसको कहते हैं अवाय।

और धारणा माने ये जो ज्ञान हुआ इसको फिर कालांतर में बाद में भी भूले नहीं तो उसको धारणा कहते हैं। अब ये सब हो जाते हैं तब स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम होता है। ये जब ज्ञान का पूरा हो जाता है तो फिर वो जो पूरा देखा न, तो उसका नाम स्मरण हुआ तो उसका नाम स्मृति।

प्रत्यभिज्ञान माने वर्तमान में कोई पदार्थ देखा तो ये पदार्थ ठीक ये वही है जो पहले देखा था, इसका नाम प्रत्यभिज्ञान; अथवा ये वैसा ही है जैसा पहले देखा था इसका नाम प्रत्यभिज्ञान। इस तरह प्रत्यभिज्ञान के दो-तीन भेद होते हैं। हम कहते हैं न जैसे कोई बालक पाँच वर्ष का हमने देखा और इसके बाद वो १५ वर्ष का होने पर हमारे सामने आया। (तो हम कहते हैं न–) अरे! तुम तो वही हो, जो मैंने दस वर्ष पहले देखे थे - इसका नाम प्रत्यभिज्ञान।

मुमुक्षु:- बराबर!

पूज्य बाबूजी:- तर्क माने पदार्थ के निश्चय के लिए जो युक्ति होती है उसको कहते हैं तर्क। व्याप्ति ज्ञान उसको कहते हैं तर्क। तर्क में उस चीज का निश्चय किया जाता है। तर्कपूर्वक उस चीज का निश्चय किया जाता है।

तर्क माने जैसे जहाँ-जहाँ धुआँ वहाँ-वहाँ अग्नि - इसका नाम तर्क। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती ही है। अब ये जो धुआँ है तो इसके साथ कई विशेषण लगते हैं क्योंकि धुँआ होता है (यदि) अग्नि न भी हो। जैसे रेलगाड़ी गई और धुआँ छोड़ गई। अब वहाँ आग कहाँ है? तो धुआँ तो देखा पर अग्नि कहाँ है? इसलिए इसके साथ में अनेक विशेषण लगते हैं। तो जहाँ-जहाँ धुआँ वहाँ-वहाँ अग्नि, जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा - ये हुआ तर्क। अनुमान में ये जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा (ऐसा तर्क), तो मेरे में ज्ञान है इसलिए मैं आत्मा हूँ - ये अनुमान ज्ञान।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बहुत सुंदर!

पूज्य बाबूजीः- आगम माने जो है उसका ज्ञान (करना)। आगम जो है (वो) ज्ञान का भेद है; माने भगवान की जो वाणी है उसका नाम है आगम (है) - शब्दब्रम्ह। तो वो शब्दब्रम्ह तो केवल निमित्त है। वास्तव में जो ज्ञान है वो है आगम। उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है उसका नाम (है) आगम। मुनिराज जो हैं वे आगम-चक्षु कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि भी आगम-चक्षु है।

मुमुक्षुः- वास्तव में जो ज्ञान है वो आगम है।

पूज्य बाबूजीः- वो है आगम!

मुमुक्षुः- फिर सम्यग्दृष्टि हो, मुनिराज हों या केवलज्ञान हो?

पूज्य बाबूजीः- कोई भी हो। केवलज्ञान में नहीं! केवलज्ञान में ये नहीं होगा। छद्मस्थ ज्ञान की बात है।

मुमुक्षुः-[90] दर्शनोपयोग और अवग्रह में क्या फर्क है बाबूजी?

पूज्य बाबूजीः- दर्शनोपयोग के बाद अवग्रह होता है। दर्शनोपयोग हुआ ये पहला क्षण। अभी जैसे वर्तमान का moment है, वर्तमान का क्षण। इसमें तो दर्शनोपयोग हो गया कि सत् है, बस इतना। इसके बाद अवग्रह शुरू होता है कि सत् है तो ये काला है, पीला है, नीला है - इस तरह का जो बोध होता है.... लेकिन वस्तु नहीं पूरी। वस्तु पूरी नहीं दिखायी दी; सिर्फ इतना सा दिखाई दिया, तो उसका नाम अवग्रह। और अवग्रह के बाद ईहा अर्थात् ये जो अवग्रह में देखा ये क्या है वस्तु - ऐसी इच्छा होना, ऐसा प्रश्न होना उसका नाम ईहा। और अवाय में निश्चय हो जाना कि ये आत्मा है अथवा ये कोई जानवर है अथवा ये कोई पुद्गल का पिन्ड है - इस तरह का निश्चय हो जाना उसका नाम अवाय। और उसे फिर बाद में न भूलना - इसका नाम धारणा। इसलिए धारणापूर्वक स्मृति होती है। वो स्मृति आई न, तो धारणापूर्वक स्मृति होती है। माने पहले धारणा में जो निश्चय किया है पदार्थ का, उसका स्मरण होना वो स्मृति। 'वह' इसका नाम स्मृति।

मुमुक्षुः-[91] बराबर! बाबूजी! अध्यात्म में ये सब भेद जानना प्रयोजनभूत है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं, नहीं है! प्रयोजनभूत नहीं है। बस स्व-पर का भेद जान ले, इतना प्रयोजन भूत है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! बस! Thank You.

पूज्य बाबूजीः- ये भेद जाना (ये) प्रयोजनभूत नहीं है। लेकिन मनुष्य पर्याय है, जिनवाणी का समागम मिला है तो जानने का प्रयत्न करना चाहिए, जितना प्रयोजनभूत है। बहुत सारी बातें जानने में भी आ जाती हैं। हम जानना नहीं चाहते तो भी जानने में आ जाती है। पर सम्यग्दर्शन और अनुभूति के लिए ये भेद कोई प्रयोजनभूत नहीं है। बस! स्व-पर का विभाग होना चाहिए

90 दर्शनोपयोग और आगमज्ञान में फर्क। - 28.16 Mins

91 अध्यात्म में ये सब भेद जानना प्रयोजनभूत है? - 29.46 Mins

श्रुतज्ञान में। श्रुतज्ञान समर्थ हो, उसमें स्व-पर का विभाग हो तो आत्मानुभूति हो जाती है। महिमावंत जीव!

मुमुक्षुः- स्व-पर का भेद करने के लिए कोई ज़्यादा ज्ञान की जरूरत हो ऐसी बात नहीं है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं, बिल्कुल नहीं! ज्यादा ज्ञान की जरूरत नहीं है। माने ज्ञान अगर मनुष्य पर्याय में भी अगर अल्प (ज्ञान) हो और जैसे हम कहते हैं कि हमको तो याद ही नहीं रहता है। हम पढ़ते तो बहुत हैं लेकिन याद नहीं होता है। पढ़ते बहुत हैं लेकिन समझ में नहीं आता है। इस तरह की जो एक आकुलता होती है, तो उस आकुलता को समाप्त करने वाली विधि है ये कि तेरा ये जो ज्ञान है न, इसी में संतुष्ट हो जा। केवल आत्मा को जानकर ये कहना कि 'ये मैं ज्ञायक हूँ' - ये तो हमेशा ही याद रहनेवाली बात है। इसमें तो भूलने का प्रश्न ही नहीं है। तो इतना याद हो जाए तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मानुभूति हो जाएगी।

मुमुक्षुः- शिवभूति मुनि!

पूज्य बाबूजीः- अनंत उदाहरण हैं, अनंत! आठ वर्ष और अंतर्मुहूर्त में सिद्ध हो जाते हैं। आठ वर्ष में सम्यग्दर्शन हो जाता है मनुष्य पर्याय में और अंतर्मुहूर्त में चारित्र और मुनिदशा होकर सिद्धदशा हो जाती है। ऐसे अनंत सिद्ध हैं वहाँ सिद्ध-शिला पर आठ वर्ष और अंतर्मुहूर्त वाले। हाँ! हमें तो शर्म आना चाहिए।

मुमुक्षुः- सही बात है बाबूजी! सही बात है! ये डाँटनेवाली बात कह दी आपने।

पूज्य बाबूजीः- शर्म नहीं आना चाहिए?

मुमुक्षुः- लांछन लगना चाहिए बाबूजी!

पूज्य बाबूजीः- एक बालक जो बात कर ले, वो ६० वर्ष का नहीं कर सके (या) ८० वर्ष का नहीं कर सके....

मुमुक्षुः- बराबर! सही बात है! तिर्यंच को अनुभव हो जाता है।

पूज्य बाबूजीः- होता है न तिर्यंच को, वही स्व-पर के विभाग में हो जाता है। बस! उसको इतना ही तो उपदेश दिया जाता है। ज्यादा उपदेश देंगें तो उसे याद क्या रहेगा? वो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं जानता लेकिन भाव सब जानता है। सात तत्त्वों का भाव तिर्यंच जानता है, समझता है कि वर्तमान में मेरी ये दशा है। ये मेरे सामने जो खड़ा है इसकी दशा मेरे से बेहतर है, अच्छी है और वो दशा पूर्ण भी होगी, तो उसने जान लिए सातों तत्त्व। धीरे-धीरे विकास होकर वो दशा पूर्ण होगी।

मुमुक्षुः-[92] तो फिर पूर्व संस्कार काम करता है कि नहीं करता है बाबूजी?

92 पूर्व संस्कार काम करता है? - 33.22 Mins

पूज्य बाबूजी:- पूर्व संस्कार करता है काम। पूर्व संस्कार काम करता है लेकिन गुरु का योग अत्यंत आवश्यक है (क्योंकि) देशना तभी होती है। पहले देशना हुई हो तो वो भी पूर्व संस्कार है। और अगर पहले देशना नहीं हुई हो और तत्त्व सुना हो और समझा हो, वास्तव में समझा हो तो वो संस्कार ज्ञान में प्रतिष्ठित हो गया। अब वो ज्ञान आगे गया न.... ज्ञान तो जाएगा, शरीर तो रह जाएगा (और) ज्ञान आगे जाएगा.... तो वो संस्कार के वश से फिर उसी समय गुरू का योग मिल जाए तो हो जाती है, अनुभूति हो जाती है। तत्काल नहीं हो तो फिर विचारपूर्वक-चिंतनपूर्वक हो जाती है।

मुमुक्षु:- कभी-कभी ऐसा ही सुनने में आता है कि पूर्व संस्कार कोई काम का नहीं है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि पूर्व संस्कार काम का है।

पूज्य बाबूजी:- पूर्व संस्कार को पुरुषार्थ दें तो काम का कैसे नहीं है? पूर्व संस्कार हो और उसे पुरुषार्थ न दे और वो केवल पुण्य उदय में मस्त हो जाए, उसमें लीन हो जाए तो नहीं होगा। उस पर पानी फिर गया पूर्व संस्कार पर।

मुमुक्षु:- संस्कार माने क्या? खाली जानना है न?

पूज्य बाबूजी:- संस्कार माने कुछ नहीं, एक पर्याय जैसी है वैसी ही अन्य पर्यायों का चलना। जैसे तत्त्व का बोध है तो जितना तत्त्व सही जाना है, तो वो ज्ञान में आ गया न, तो वो पर्याय उसी तरह से चलना। जैसे ये एक-एक पर्याय करके चलती है तो उस पर्याय के समुदाय को संस्कार कहते हैं। संस्कार नाम की कोई चीज नहीं है।

मुमुक्षु:- बाबूजी! वो तो एक समय में अस्त हो जाती है, बराबर?

पूज्य बाबूजी:- एक समय में अस्त हो गई न, फिर दूसरे समय में (वैसी) फिर तीसरे समय में (वैसी)। ज्ञान में तो हो गया न एक बार निश्चय। तत्त्व का निश्चय हो गया है तो वो एक-एक समय करके चली न, ज्ञान में तो प्रतिष्ठित हो गई वो, बैठ गई ज्ञान में - तो उसका नाम संस्कार। तो वो तो अब आत्मा जाएगा उसके साथ जाएगी न वो चीज।

अंतरंग निमित्त[93] कहा है और जिनवाणी को बहिरंग निमित्त कहा है। ५३वीं गाथा है शायद।

मुमुक्षु:- ७ वीं गाथा है नियमसार की, उसमें लिखा है कि अंतरंग कारण प्रधान है, निमित्त की कोई कीमत नहीं।

पूज्य बाबूजी:- अंतरंग कारण है वो निमित्त। कैसे नहीं है प्रधानता? ये गलत है (जो) आप कह रहे हैं। गलत है आप कह रहे हैं जो, बिल्कुल गलत है। सीधा जिनवाणी से कभी भी अनुभूति नहीं होती और तत्त्व का बोध नहीं होता। जब तक गुरु का योग न मिले और देशनालब्धि न हो.... देशना तो (है) गुरु की पर्याय और देशनालब्धि (है) शिष्य की पर्याय।

93 अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त का महत्व। - 35.40 Mins

मुमुक्षुः- अहाहा! बराबर! बराबर! यही देशनालब्धि है।

एक दो प्रश्न का बहुत सुंदर जोड़ा है। मोक्ष की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है वो भेदज्ञान की पराकाष्ठा है - एक बात। पर्याय का कर्ता पर्याय है वो पर्याय की कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा है। कैसे?

पूज्य बाबूजीः- ठीक है! वो तो उत्तर ही है उसमें, प्रश्न में। प्रश्न में उत्तर भी है। मोक्ष की पर्याय भी परद्रव्य है - ये तो ठीक है क्योंकि जो चिन्मात्र ज्ञायक है वो मैं हूँ। तो उससे अनमेल जितने भाव हैं वो सब पर में जायेंगे, इसलिए मोक्ष भी पर है। परद्रव्य माने पुद्गल की पर्याय। वो सब पुद्गल द्रव्य है - ऐसा स्पष्ट आया है आगम में।

शुद्ध जीवास्तिकायसे अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्यके भाव वेवास्तवमें हमारे नहीं हैं' — ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूपसे कहता है वह अति अपूर्व सिद्धिकोप्राप्त होता है (नियमसार कलश ७४)।

वो पर्याय के षट्कारक हैं। तो ठीक है! वास्तव में पर्याय जो है वो सत् है। तीन सत् हैं एक पदार्थ के - द्रव्य, गुण और पर्याय। तो सत् निरपेक्ष होता है इसलिए पर्याय को द्रव्य और गुण की आवश्यकता (नहीं)। आवश्यकता माने उनका कोई सहारा पर्याय नहीं लेती है। इसलिए पर्याय जो उत्पन्न होती है.... एक समय में जो पर्याय उत्पन्न हुई वो अपनी सारी सामग्री लेकर उत्पन्न होती है। सारी सामग्री माने छह कारक, छह कारकरूप सामग्री उसको साथ लेकर वो पर्याय पैदा होती है। और वो पर्याय चली जाती है तो उसके वो कारक भी उसके साथ ही चले जाते हैं। नई पर्याय आती है तो अपने नये षट्कारक लेकर (आती है) - इस तरह ये क्रम चलता है। भगवान सिद्ध को भी चलता रहता है।

मुमुक्षुः- भगवान सिद्ध को भी चलता है!

पूज्य बाबूजीः- हाँ! हाँ! क्यों नहीं चलेगा?

मुमुक्षुः- पर्याय का कर्ता पर्याय है.... वो पर्याय की कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! हुई न। जैसे द्रव्य को कर्ता कहते हैं न, द्रव्य को कर्ता कहते हैं लेकिन द्रव्य वास्तव में कर्ता नहीं है। लेकिन परद्रव्य का वारण करने के लिए, परद्रव्य का परिहार करने के लिए स्वद्रव्य को कर्ता कहते हैं। क्योंकि पर्याय है कर्म-क्रिया-अवस्था-हालत। तो वो (उस) कर्म का कोई कर्ता होना चाहिए न। तो लोकालोक में तो कोई कर्ता है नहीं क्योंकि वे सब के सब भिन्न हैं। इसलिए कर्ता वहीं होना चाहिए जहाँ कर्म हो। तो वो कर्ता जो है द्रव्य होता है।

मुमुक्षुः- बराबर! वही (उसी) अपेक्षा से।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! और वो द्रव्य ही उस पर्याय में व्यापता है। उदाहरण के लिए जैसे सोने का एक आभूषण है, तो उसका जो आकार है उसमें सोना किसी का नहीं है। तो वो आभूषण वो

व्याप्त है और वो सोना जो है वो व्यापक (है तो) वो कर्ता-कर्म हो गया। लेकिन है ये व्यवहार। फिर आगे जाकर जब प्रयोग-पद्धति में चलता है तो ये सब व्यवहार की कोटी में जाता है।

मुमुक्षुः- प्रयोग-पद्धति में जाता है तब व्यवहार की कोटी कहलाती है।

पूज्य बाबूजीः- सारा व्यवहार की कोटी में जाता है क्योंकि ज्ञायक द्रव्य जो है वो अकर्ता और अवेदक है। अकारक और अवेदक - जो ज्ञायक है वो।

मुमुक्षुः- प्रयोग की कोटी में सबसे पहले कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति पर्याय की पर्याय में है - वो लेना है?

पूज्य बाबूजीः- वो लेना, वो होती है। मैं किसी का कर्ता नहीं और मैं किसी का भोक्ता नहीं।

वो जो प्रश्न था अवग्रह, ईहा, अवाय का, उसमें ये चारों हों ऐसा आवश्यक नहीं है। अवग्रह होकर भी छूट जाए, ईहा होकर भी छूट जाए। इस तरह दूसरे पदार्थ पर चला जाए उपयोग - ऐसा भी है। और वो भी है (कि) माने चारों पूरे हो जायें।

मुमुक्षुः- बाबूजी! एक साधारण (simple) बात है कि जैसे ये प्रश्न-कड़ी चलती है.... यदि आप हमको कोई भी प्रयोजनभूत गाथा लें कि जो स्वरूप के लिये ही काफ़ी है, तो क्या होगा बाबूजी ये प्रश्न में जो अलग-अलग प्रकार के.... कोई केवलज्ञान का प्रश्न पूछ लेता है, कोई चौथे गुणस्थान का प्रश्न पूछ लेता है। लेकिन जिसको जीव को जो main (मुख्य) प्रयोजनभूत बात है कि जिससे उसका कल्याण तुरन्त हो, ऐसी बात मतलब की ऐसी प्रयोजनभूत गाथा यदि आप धरावाहिकता से थोड़ा लेंगे - ऐसी अमुक लोगों की भवना है इसके लिए मैं आपके सामने निवेदन करता हूँ बाबूजी।

पूज्य बाबूजीः- अब तो बहुत late हो गए!

सारे समयसार में ११ वीं गाथा सबसे महत्वपूर्ण है। और उसमें भी ये चरण - **भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** (अर्थात्) भूतार्थ के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है। ये ४१५ गाथा में ये सबसे महत्वपूर्ण है।

मुमुक्षुः- बस! बाबूजी तो आप जितने दिन हैं, जितना भी चले बाबूजी, भले एक भी प्रवचन चले लेकिन हमारा ये भाव है कि आप कल से बाबूजी....

पूज्य बाबूजीः- नहीं वो नहीं! आप तो चर्चा ही चलाओ। पूरा नहीं होगा मुझे जाना है।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

पूज्य बाबूजी जुगल किशोर जी युगल, कोटा
तत्त्व-चर्चा नंबर ११, तारीख ४-२-१९९९
श्री शांतिभाई ज़वेरी निवास स्थान – नीलांबर, मुंबई

मुमुक्षुः-[94] ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस तरह होता है (कि) जिसके फल में आत्मानुभूति होती है? कृपा करके समझाने की चेष्टा करें।

पूज्य बाबूजीः- अज्ञान दशा की बात है ये - प्रश्न में।

मुमुक्षुः- हाँ जी! ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस तरह होता है (कि) जिसके फल में आत्मानुभूति होती है?

पूज्य बाबूजीः- जो प्रारंभ है, वो तो मुख्यरूप से ज्ञान से होता है। बल्कि इससे भी पहले यदि परिणामों में विशुद्धि हो पुण्यभाव-शुभभाव हो मंद कषाय (हो), तो उस मंदकषाय की भूमिका में जब सद्गुरू का योग मिले और आत्मा का वास्तविक स्वरूप सुनने को मिले (तो) उसका नाम देशना (है)। तू शुद्ध चैतन्य है! जैसा आया न समयसार में (कि) मलेच्छ की तरह आँखें फाड़कर देखता है जैसे कोई अपूर्व बात और नई बात सुनी हो। इस तरह बड़ी उत्सुकता से गुरु की वाणी सुने और उसे उपलब्ध करे, लब्ध करे उसे। देशनालब्धि है न! तो देशना तो गुरु की पर्याय है (और) देशनालब्धि वो शिष्य की पर्याय है।

तो ऐसी जो विशुद्ध भूमिका है, इसमें गुरु की वाणी के अनुसार शुद्धात्मा की बात सुने और उस पर पूरा विश्वास करे, ज्ञानपूर्वक। शुद्धात्मा के स्वरूप का ज्ञान और उसका विश्वास। विश्वास माने ऐसा ही है - इसका नाम विश्वास।

तो ये जब होता है तो ज्ञान उस शुद्धात्मा के चिंतन में लग जाता है। तो उधर जो मिथ्यात्वदशा होती है मिथ्यात्व की पर्याय, वो ढीली पड़ती जाती है। उसमें कमी नहीं होती। माने उसमें ऐसा नहीं है कि थोड़ा मिथ्यात्व टूट गया और थोड़ा रह गया - ऐसी स्थिति दर्शन और ज्ञान में नहीं होती। ज्ञान तो या तो अज्ञानरूप (रहे) अथवा सम्यग्ज्ञान रूप (रहे)। इसी तरह श्रद्धा भी मिथ्याश्रद्धा-मिथ्यादर्शन अथवा सम्यग्दर्शन - ये दो ही विकल्प उसमें होते हैं।

तो जब ज्ञान ने बड़ी महिमापूर्वक शुद्धात्मा की चर्चा, उसके वैभव की चर्चा सुनी कि तू वैभवशाली तत्त्व है - ऐसा सुनते ही जिसे अपने वैभव की महिमा आवे। जो अनंत गुणों की संपत्ति है उसे आत्मा का वैभव कहते हैं। तो गुण एक वैभव की तरह ही होता है। किसी व्यक्ति को जगत

[94] ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस तरह होता है (कि) जिसके फल में आत्मानुभूति होती है? - 0.14 Mins

की सारी कलायें नहीं होतीं लेकिन एक कला होती है उसमें वह निपुण होता है। तो उसे उसका काफी अहम् बल्कि अहंकार लोक में होता है कि - मेरी जैसी विद्या किसी दूसरे के पास नहीं है।

तो वो तो लौकिक बात हुई लेकिन लोक में भी जो गुण होता है, तो उसकी यदि पूर्णता हो, उसमें यदि वो perfect (निपुण) हो, तो वहाँ भी अहम् जागृत होता है। माने उसको वो अपना वैभव मानता है, उस कला को। उसी तरह ये लोकोत्तर मार्ग में जब आत्मा की गुण सम्पत्ति अर्थात् उसके वैभव की बात गुरु से सुनता है (कि) - तू वर्तमान में ही सम्पूर्ण है और तुझे किसी की सहायता और किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं ही इतना पूरा है कि तेरे में जरा भी कमी नहीं है, वर्तमान में भी। शुद्ध चैतन्यतत्त्व है तू - ऐसा जब वो सुनता है तो फिर नास्ति से देखता है कि ये जो दिखायी देने वाली चीजें हैं, इनमें तो ये बात (तो) है ही नहीं। और मैं इनसे कोई भिन्न तत्त्व हूँ - इस तरह अस्तित्व की श्रद्धा हो जाती है। भाई! जैसा गुरु ने कहा उसके अनुसार जो ज्ञान है मतिज्ञान और मुख्यरूप से श्रुतज्ञान, वो उसके चिंतन में तल्लीन होता है। तो इधर ये ज्ञान तल्लीन होता है शुद्धात्मा के चिंतन में (और उधर मिथ्यात्व ढीला) होता है। इसलिए चिंतन को शुरु करता है। महिमा अगर न आवे तो उस चिंतन में break (विराम) होगा बार-बार... और दूसरे भाव बीच में आकर (के) उसे (उस चिंतन को) खंडित कर देंगे।

लेकिन अनुभूति का मार्ग है और चिंतन का जो मार्ग है, वो ऐसा नहीं है। विचार न भी चले और उपयोग किसी अन्य पदार्थ की ओर भी हो तो भी एक बार आत्मा की महिमा हृदय में बैठ जाए, तो वो अनवरत (रूप से) चलती है। बिना रुकावट के अविराम चलती है। क्योंकि जैसे कोई गृहस्थ है (तो) उसके पास कार्य तो बहुत होते हैं। तो उन सब कार्यों को करता हुआ भी उसे उस शुद्धात्मा का महत्त्व हृदय में स्थापित रहता है, पड़ा रहता है।

लोक में भी ये बात बिल्कुल कार्यान्वित होती है, चरितार्थ होती है कि जैसे अपना कोई इकलौता बच्चा हो और उसे कोई बड़ा कष्टसाध्य रोग हो जाए। और हॉस्पिटल में हम उसे प्रविष्ट कर देते हैं और बड़े चिंतित रहते हैं (कि) बीमारी बड़ी भयंकर है, मिटेगी अथवा नहीं। तो वो जो चिंता है वो चिंता हमारे हृदय में बैठ गई। तो हम और काम भी करते हैं, खाते भी हैं, पीते भी है, अन्य लोगों से बातचीत भी करते हैं, सब कुछ करते हैं। ये सारा (काम) करते हुए ये तो रहता है ऊपर ही ऊपर और भीतर वो एक स्थाई चिंता बैठी रहती है। जैसे रात को सोये और किंचित् थोड़ी नींद आवे तो जागते ही हॉस्पिटल याद आता है। अथवा वो बिस्तर याद आता है, बच्चे का।

तो इसीतरह जैसे आचार्य ने इसके लिए जो छह महीने का समय दिया अधिकतम, वो बिना break (विराम) वाला दिया है। अविराम... अविराम उसकी महिमा, माने सर्वोच्च महिमा, सर्वोत्कृष्ट महिमा (शुद्धात्मा की)। जगत में जितने पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट और सर्वोच्च महिमा शुद्धात्मा की हो और अन्य की जरा भी (किसी और की) महिमा न हो। अन्य माने उस शुद्धात्मा से अनमेल जितने भाव हैं, अपनी विकारी पर्याय - पाप और पुण्य हो अथवा अपनी

निर्विकारी पर्याय सिद्ध दशा तक हो, इसके अतिरिक्त कर्मादिक और जगत के अन्य पदार्थ उन सबकी रंचमात्र भी महिमा न हो.... तो वो सिर्फ ज्ञेयतत्त्व जैसे हों, ज्ञेय ही हों। 'जैसे हों' माने वो सारे के सारे ज्ञेयकोटि में चले जायें और एकमात्र उपादेय अर्थात् अहम् की कोटि में शुद्धात्मा ही रहे — इसतरह की महिमामय चिंतनधारा जब चलती है, तो उसमें छह महिना तो अंतिम सीमा दी है आचार्य ने; (अन्यथा) वो तो हम अब भी कर सकते हैं, अभी भी हो सकता है।

सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति अभी यहाँ बैठे-बैठे भी हो सकती है। पुरुषार्थ की प्रबलता चाहिए। छह महीने तो पुरुषार्थ का एक धीमा क्रम है। त्वरा से यदि कोई खरगोश की चाल से चले और एक कछुए की चाल से चले, तो कछुए की चालवाले को छह महिने चाहिए और खरगोश की चालवाले को एक दिन या दो दिन चाहिए। लोक में किसी भी स्थान पर जाने के लिए। उसी तरह जिसे आत्मदृष्टि प्रबल हुई है, महिमा अत्यंत जागी है, तो उसका तो धारावाहिक (और) बहुत तेजी से चिंतन चलता है और वो चिंतन रुककर अनुभूति प्रगट हो जाती है। तो उसी समय सम्यग्दर्शन का जन्म हो जाता है। इसलिए दोनों एक साथ होते हैं। तो निरंतर इधर चलता है चिंतन ज्ञानात्मक विकल्पों में ...ज्ञानात्मक विकल्पों में चलता है क्योंकि ज्ञान जानता है; ज्ञान के अतिरिक्त जो राग के विकल्प हैं या अन्य कोई गुण हैं (या) गुणों की पर्याय हैं वो जानने का काम नहीं करती है। इसलिए जानकर जो महिमा लाता है तो काम उसका बनता है।

तो आत्मा के स्वरूप को भी जिसने ज्ञान में अत्यंत स्पष्ट जाना और उसको इसतरह का क्रम महिमामय चिंतन का बना तो फिर वो प्रायोग्यलब्धि से करणलब्धि में प्रवेश कर जाता है और करणलब्धि में तो ये निश्चित होता है कि वो आत्मा का अनुभव करके ही रहेगा और वापिस नहीं आएगा। प्रायोग्य तक आकर वापस चला जाता है और वो अभव्य तक को भी हो जाती है - प्रायोग्यलब्धि।

तो जो उत्कृष्ट महिमा है वो करणलब्धि में होती है। करणलब्धि तो परिणामों का ही नाम है और असल में वो चिंतन ही है। तो उसमें एकमात्र ज्ञायक ही चिंतन में रहता है, एकमात्र। पहले (तो) गुणों के माध्यम से ही विचार करता है, फिर एकमात्र चिन्मात्र ज्ञायक - बस इतना रहता है। क्योंकि विचार में उसे अंतर-प्रीति नहीं है लेकिन बाहर से अनुराग है। अंतर-प्रीति नहीं है (क्योंकि विचार) हेयतत्त्व है और बाहर से (उनसे) अनुराग है। क्योंकि उसे ये चिन्तन और विचार नहीं चाहिए, उसे (तो) आत्मा चाहिए। इसलिए वो चिंतन रुक जाता है और उसके स्थान पर अनुभूति का घनत्व प्रगट हो जाता है। उसी समय सम्यग्दर्शन - आत्मा की प्रतीति और अहम् करता हुआ उत्पन्न होता है। तो दोनों एक साथ होते हैं और दोनों में कोई अनुपात अर्थात् percentage पर्याय में नहीं होता (है)। ये सारी बात अनुपात की चारित्र में होती है, सुख-दुख में होती है, इसमें (श्रद्धा में) नहीं होता।

मुमुक्षु:- आत्मा का विचार और आत्मा का चिंतन नहीं चाहिए अंदर से?

पूज्य बाबूजी:- नहीं चाहिए। नहीं चाहिए तो भी वो हुए बिना नहीं रहता क्योंकि वो मार्ग यही है। जैसे हमें बंबई आना है। (हम) बाहर गए (हैं) और बंबई (वापस) आना है, बंबई रहते हैं; तो बीच में स्टेशन बहुत पड़ते हैं। तो हम कहते हैं हमको एक भी स्टेशन नहीं चाहिए, हमको बंबई चाहिए। लेकिन स्टेशन आए बिना नहीं रहते और हमारी उनके आने पर अंतर-प्रीति जागृत नहीं होती, उनके प्रति ममत्व जागृत नहीं होता। बल्कि ये चाहते हैं कि कब चले ट्रेन जल्दी.. ऐसे भीतर (से) मन में आतुरता रहती है; और फिर अपने स्थान पर इसीलिए पहुँच जाते है।

वरना तो कोई स्टेशन बहुत अच्छा आ जाए, या वहाँ पर कोई विशेष दृश्य हो, तो उतरकर वहीं ठहर जायेंगे अगर स्टेशन में प्रीति होगी तो.. लेकिन कैसा ही हो पर हम अपने गाँव आकर ही विश्राम लेते हैं और वहीं विश्राम मिलता है वास्तव में। लंदन भी कोई जावे और महीने-पंद्रह दिन घूमे तो भी अन्त में कहता है "अब तो चलें बस"। भाई! चले क्यों? तुम्हारे पास तो रहने के लिए अपना घर भी नहीं है, किराए का मकान है। तो चलें क्यों? और ऐसे दृश्य तो वहाँ दिखते भी नहीं हैं, फिर क्यों चलें? लेकिन यहाँ सुख कहाँ है? यहाँ तो ये केवल देखने मात्र की वस्तुयें है, इनमें अपना क्या है? इसलिए घर में जो मिलता है वो कहीं दूसरी जगह नहीं मिलता है।

ऐसी कहावत भी है - जो सुख छज्जु के चौबारे, वह न बलख न बुखारे। छज्जु की जो झोपड़ी है उसमें जो सुख है, वो बलख और बुखारे में भी (नहीं है)। East or West, Home is Best. इसलिए अपना घर ही (सर्वोत्कृष्ट लगता है) तो वो मिल जाता है उसे।

मुमुक्षु:-[95] बाबूजी! इसमें जो आपने की ...

पूज्य बाबूजी:- हाँ! अनंत गुण संपत्ति है आत्मा की...

मुमुक्षु:- उसका एहसास कैसे आये?

पूज्य बाबूजी:- उसका एहसास इस तरह आता है कि जैसे हमसे पूछा जाए कि तुम कमाई कर रहे हो। (तो) बोलो! कितना पैसा चाहिए तुमको? तो हमारा उत्तर क्या होगा? कि असीम चाहिए; गिनने में आ जाए वो क्या पैसा? ऐसा चाहिए कि वो गिनने में ही न आवे। पैसे के संबंध में जब इतनी बात है तो आत्मा में भी कितनी चाहिए संपत्ति? कितने गुण चाहिए? क्योंकि आत्मा में कार्य अनंत होते हैं। अगर अनंत न हों तो आत्मा को निश्चितरूप में पराश्रित होना पड़े। किसी एक कार्य के लिए दूसरे की राह देखना पड़े और दूसरे से सहयोग लेना पड़े। अनंत होते हैं इसीलिए वो स्वाश्रित रहता है। अपने बल पर खड़ा रहता है, सदा खड़ा रहा है। इसीलिए अनंत गुणों की आवश्यकता है।

तो ज्ञान जैसा गुण जिसे प्राप्त है.... जैसे किसी के घर में जो पलंग है सोने (निद्रा) का, तो वो सोने (स्वर्ण) का हो। सोने (निद्रा) का पलंग सोने (स्वर्ण) का हो। तो उसे हम देखेंगे तो उससे हम क्या अनुमान लगायेंगे? कि इस व्यक्ति के पास कितना पैसा होना चाहिए? कि सोने का पलंग

[95] अनंत गुणरूपी संपदा का एहसास कैसे आए? - 16.58 Mins

भी है क्या उसकी संपत्ति? सोने (निद्रा) का पलंग तो सबसे पीछे बनता है, पहले तो संपत्ति होती है।

उसी तरह ज्ञान जैसा वैभवशाली गुण जिसके भीतर हो, सुख जैसा हो, तो अन्य कितने होंगे...ये अनुमान से और आगम से इस बात की सिद्धि और विश्वास हो जाता है। युक्ति से विश्वास होता है कि जिसके पास ऐसा गुण हो तो अन्य गुण और कितने (और कैसे) इसके पास (होंगे)! और इसीलिए कुदरत का ही है ये सारा (प्रावधान) कि इसने हर पदार्थ को अनंत गुण दिए हैं जिससे वो किसी दूसरे के आश्रित न रहे और हर समय स्वाश्रित रहकर ही अपना काम करे; इसलिए अनंत होते हैं।

तो ये स्थिति होती है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ पैदा होते हैं। प्रश्न में और क्या है?

मुमुक्षुः-[96] ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस प्रकार होता है?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! ज्ञान तो उधर चिंतन करता है और श्रद्धा जो है वो ढीली होती जाती है। तो ढीली होकर वो आत्माभिमुख होने की तैयारी में रहती है। ढीली होते-होते जिससमय ये (ज्ञान) आत्माभिमुख होकर आत्मा को ज्ञेय बनाकर आत्मा का अनुभव करता है, तो तत्काल ही श्रद्धा वरमाला डालकर और सम्यग्दर्शनरूप हो जाती है।

मुमुक्षुः- सारा कार्य ज्ञान में ही होता है?

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान से ही प्रारंभ होता है। जानने का काम (और) कौन करेगा? श्रद्धा तो जानती नहीं है, श्रद्धा में तो ज्ञान नहीं है और ज्ञान अन्य किसी गुण में भी नहीं है। जगत में भी नहीं है, अचेतन में भी; और आत्मा में भी सिर्फ ज्ञान ही है जाननेवाला और कोई है नहीं। तो जाने बिना कोई भी कार्य होगा तो उसका नाम अंध-विश्वास होता है। Blind Faith होता है। इसलिए दोनों कार्य साथ-साथ चलते हैं। श्रद्धा और ज्ञान में जो अंतर है, उस पर अपन चर्चा कर चुके हैं।

मुमुक्षुः-[97] बाबूजी एक प्रश्न है - छठवीं गाथा में आया कि **उपासित होता हुआ 'शुद्ध कहलाता है'।** तो जो त्रिकाल शुद्ध है, शुद्ध तो है ही और **स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति** भी है ही; तो उसे उपासना करके ही शुद्ध क्यों कहे?

पूज्य बाबूजीः- ये उसकी अपेक्षा है... माने उस व्यक्ति की अपेक्षा है कि जो आत्मा को शुद्ध कहता है, लेकिन जिसे शुद्धता की अनुभूति हुई ही नहीं तो उसके लिए शुद्ध कहाँ है? उसके लिए तो अशुद्ध (ही) है। इसलिए शुद्ध की अनुभूति करता हुआ शुद्ध कहलाता है। तो उसके लिए शुद्ध कब हुआ? कि जब उसकी अनुभूति हुई साक्षात्, प्रत्यक्ष स्व-संवेदन हुआ तब वो शुद्ध है - ये निश्चय उसको हुआ, ज्ञान में और श्रद्धान में।

[96] ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस प्रकार होते हैं? - 20.02 Mins
[97] छठवीं गाथा संबंधी प्रश्न। - 21.30 Mins

भाई! अपन को पर्याय लगती है न वो, इसलिए होता है..... ये सारी शंका इसलिए पैदा होती है। यहाँ तो द्रव्य का वर्णन है मुख्यरूप से, पर्याय रहित का (जिसमें) प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है। फिर आचार्य ने ये बीच में उपासना क्यों ली? उपासना तो पर्याय है।

मुमुक्षुः- ये ही आगे (का) प्रश्न है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! वही है। तो **उपासित होता हुआ 'शुद्ध कहलाता है'।** माने कब शुद्ध मानेंगे हम उसे? हमने कब उसको शुद्ध माना? शुद्ध कहते तो बरस हो गए। हो गए न, ४५ वर्ष तो गुरुदेव के हो गए। और उसके बाद के भी शुद्ध के ही हैं, सारे वर्ष जो चल रहे हैं। तो आत्मा तो शुद्ध है, आत्मा तो शुद्ध है। (तो) कहते हैं (कि) तुम्हारे लिए नहीं है। तुमको उसकी शुद्धता की अनुभूति ही नहीं हुई तो शुद्ध कैसे है?

जैसे एक व्यक्ति झूठ तो बहुत बोलता है और कहता है (कि) झूठ बोलना बुरा है और सत्य जो है वो तो अमृत है बिल्कुल; वो तो बहुत सुंदर है - ऐसा कहता है। पर तेरे लिए नहीं (है); ये तो जो सत्य बोलता है उसके लिए है। इसीतरह शुद्धता की उपासना हो अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, त्रिकाल ज्ञायक हूँ - तो वो शुद्ध कहलाता है। इसलिए पर्याय को आचार्य ने साथ लेकर प्रतिपादन शुद्धात्मा का ही किया है।

मुमुक्षुः- पर्याय को साथ में लेकर..

पूज्य बाबूजीः- लेकर... शुद्धात्मा का ही प्रतिपादन किया है।

मुमुक्षुः- पहले पद में...

पूज्य बाबूजीः- असल में क्या है (कि) शुद्धद्रव्यरूप परिणमित जो पर्याय है, माने परिणामी द्रव्य (है) ... शुद्धात्मा को जानता हुआ जो परिणमन कर रहा है, तो उसको कहा परिणामी द्रव्य। तो परिणामी द्रव्य ये जानता है कि मैं अपरिणामी हूँ।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! वाह रे वाह! ये बात आ गई। परिणामी द्रव्य ये जानता है कि मैं अपरिणामी हूँ।

पूज्य बाबूजीः- अपरिणामी हूँ... तो ये उपासना करता हुआ जो है, वो ये जानता है कि मैं शुद्ध हूँ अर्थात् अपरिणामी हूँ, अकर्ता हूँ।

मुमुक्षुः- प्रश्न आगे भी है थोड़ा-सा कि छठवीं गाथा में आया कि **उपासित होता हुआ 'शुद्ध कहलाता है'।** तो जो त्रिकाल शुद्ध तो है ही और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति भी है ही तो उसे उपासना करके ही शुद्ध क्यों कहें?

पूज्य बाबूजीः- वो शुद्ध है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, तो वो तो द्रव्य है। तो द्रव्य स्वयं तो अपनी उपासना नहीं करता (है)। वो तो पर्याय शुद्ध कहती रही है उसे। पर्याय शुद्ध कह रही है तो उसे शुद्धता का अनुभव हो तब न वो (उसका) कहना और विचार करना, चर्चा करना सार्थक है? अगर उसे शुद्धता की अनुभूति ही नहीं है उस द्रव्य की, तो फिर दूसरा जो विकल्प है

वो तो अशुद्धता का है। जैसा अनादि से अशुद्ध मानता रहा है, उसी तरह वो कहता शुद्ध है और मानता अशुद्ध है। इसलिए तेरे लिए वो शुद्ध नहीं है। उसकी शुद्धता तेरे लिए किसी प्रयोजन की नहीं। इसलिए उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

मुमुक्षुः- मगर उपासना करना फिर भी जरूरी है?

पूज्य बाबूजीः- नहीं! लेकिन उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है। वो प्रारंभ से ही जब उसे विचारों में भी द्रव्य की दृष्टि हो, द्रव्य की श्रद्धा हो तो वो द्रव्य की श्रद्धा ही रखता है। उसे वो श्रद्धा की श्रद्धा नहीं है। उपासना की श्रद्धा, उपासना की उपासना नहीं है उसको। लेकिन शुद्ध द्रव्य की उपासना, शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा है उसे शुरु से ही। इसीलिए श्रद्धा की श्रद्धा नहीं है। शुद्ध द्रव्य की ही है - ऐसी श्रद्धा (है)। शुद्ध हूँ मैं – ऐसी श्रद्धा (है)। तो इसमें श्रद्धा की श्रद्धा कहाँ हुई? ये तो द्रव्य की ही श्रद्धा है। इसलिए यहाँ उपासना को ऊपर नहीं किया है; ऊपर तो शुद्ध द्रव्य ही है क्योंकि ये तो उपासना करनेवाली है न। तो उपास्य देवता बड़ा है या उपासक और उपासना बड़ी है? देवता बड़ा है या पुजारी बड़ा है? ये तो पुजारी है उपासना तो। देवता बड़ा है; तो देवता शुद्ध चैतन्य है।

मुमुक्षुः- तो कहते हैं कि अगर उपासना करना फिर भी जरूरी है, तो कैसे उपासना करें?

पूज्य बाबूजीः- उपासना उसकी दृष्टि में है ही नहीं। उपासना करना जरूरी है - ऐसे उसको उपासना होगी ही नहीं क्योंकि उसने तो उपासना को बड़ी माना है। और ऐसा माना है कि चूँकि उसे शुद्धात्मा की उपासना नहीं हुई, इसलिए वो कुरूप सा है माने ugly जैसा। माने उपासना से उसकी शोभा बढ़ जाएगी ये ऐसा मानता है। और उसको (द्रव्य को) उपासना की जरूरत है नहीं (है) क्योंकि वो तो बिना उपासना के ही संपूर्ण है, पूरा है वो तो। सब तरह से पूर्ण है (वो) बिना उपासना के ही। इसलिए ये उपासना करनेवाला भी उपासना करता हूँ इसतरह उपासना नहीं करता; बल्कि मैं उपास्य हूँ - ये उपासना है। तो इसका नाम उपासना है। मैं तो उपास्य देवता हूँ, मैं उपासना नहीं हूँ; वो तो उपासना तो बाहर निकल गई और उपास्य देवता उस उपासना में पसर गया, ज्ञायक की तरह।

मुमुक्षुः- माने उपासना इसतरह की जाती है कि मैं उपास्य हूँ। मैं उपासना करनेवाला हूँ - ऐसा नहीं?

पूज्य बाबूजीः- उपासना करनेवाला नहीं हूँ, उपास्य हूँ सम्पूर्ण। उसमें उपासना को जोड़ना नहीं है। उपासना को जोड़े तो उसने उसको अपूर्ण माना। द्रव्य को अपूर्ण माना। जुड़ेगा किसमें? जब तक अपूर्ण नहीं मानेगा तो जोड़ेंगे किसमें? इसलिए वो तो पूर्ण है, तो उसे उपासना की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ये तो उपासना अर्थात् सम्यग्दर्शन ये तो (बहुत) सामान्य बात है, पर उसे सिद्ध दशा की भी आवश्यकता नहीं है।

कहे भले ही, विकल्पों में ये बात आती है कि अभी तो बहुत विकार बाकी है। विकार कब जाएगा? कब वो आनंद मिलेगा सिद्धों जैसा - ऐसा विकल्प आवे। लेकिन इन सारे विकल्पों और विचारों के प्रति उसे हेयबुद्धि है और मैं अकेला शुद्धात्मा हूँ – ये उसको मुख्य (है)।

मुमुक्षुः- और पूछते हैं कि करनेवाली बात से कर्ताबुद्धि तो नहीं हो जानी है?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! (तो) ये करनेवाली कहाँ रही? उसको तो इनकार है। भीतर से इनकार है इसको करने से कि मुझे उपासना नहीं करना है। मैं तो उपास्य हूँ, मैं उपासना किसकी करूँ? जो उपास्य है, देवता है जो वो किसकी पूजा करे? तो मुझे पूजा करना है, उपासना करना है, इसकी तो श्रद्धा ही नहीं है उसको। इसकी श्रद्धा नहीं है। अगर वो इसतरह करता है आत्मा के अनुभव की चेष्टा, तो उसे होगा ही नहीं (अनुभव) अनंतकाल तक भी। सिद्ध दशा को भी सामने रखकर करता है तो अनंतकाल तक सिद्ध दशा प्रगट (नहीं होगी)। उसे मिथ्यादर्शन ही रहेगा, सम्यग्दर्शन भी नहीं होगा। ये तो सम्यग्दर्शन की विधि है। वो देवता बने वो, वो उपासक न बने, पुजारी न बने। मैं तो देवता ही हूँ।

मुमुक्षुः- उपासक की ध्वनि बदल जाती है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! उपासक का स्वर बदल जाता है और (वो) उपास्य बन जाता है। ये अभेदता की पराकाष्ठा है।

मुमुक्षुः- उपासना करने की रीति ये है कि मैं उपास्य हूँ।

पूज्य बाबूजीः- मैं उपास्य हूँ। मैं तो उपास्य हूँ, मैं तो देवता हूँ स्वयं। मैं किसकी उपासना करूँ? भगवान हूँ स्वयं तो मैं किससे माँगू?

मुमुक्षुः- और जोड़नेवाली बात नहीं है। जोड़नेवाली बात हुई तो टूट जाती है...

पूज्य बाबूजीः- हाँ! तो जोड़ता है न ये तो अपन सुनते थे पहले कि ये आत्मा को शुद्ध तो कहता है लेकिन ये पर्याय पर बैठकर ज्ञायक की चर्चा करता है। (तो) ये पर्याय पर बैठकर ज्ञायक की चर्चा है अगर वो उपासना में रुक गया तो। 'ये तो सब ठीक है कि आत्मा शुद्ध है, लेकिन अभी अनुभूति तो हुई नहीं' - तो अनुभूति नहीं हुई, तो तेरे को होगी नहीं, क्योंकि तू उधर शुद्धात्मा कह रहा है (और) इधर अनुभूति में तुझे प्रीति है। अंतर-प्रीति है तुझे अनुभूति (में)। 'अनुभूति तो अभी हुई नहीं' - इस पर बल है न उसका। 'शुद्ध तो हूँ लेकिन अभी अनुभूति तो हुई नहीं' - तो वो अनुभूति को वर्चस्व दे रहा है और शुद्धात्मा को वर्चस्व नहीं दे रहा वो। शुद्धात्मा को उत्कृष्ट नहीं मान रहा वो। मुझे अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं है न।

मुमुक्षुः- Masterpiece!

पूज्य बाबूजीः- मैं अनुभूति के बिना कोई कुरूप थोड़े ही लगता हूँ। और मेरे में अनुभूति को जोड़ने के लिए गुंजाइश कहाँ है? मैं अनुभूति को कहाँ रखूँगा? क्योंकि मैं तो गुणों से भरा हुआ हूँ। मैं तो भरा हुआ हूँ, भरचक हूँ मैं तो। तो भरचक में उपासना को कहाँ रखूँगा मैं? तो मुझे

उपासना की आवश्यकता नहीं है, उसको कहते हैं उपासना। जिसे उपासना की आवश्यकता कतई न हो, उसे उपासना कहते हैं।

मुमुक्षुः- मैं शुद्ध तो हूँ मगर अनुभूति अभी कहाँ हुई है?

पूज्य बाबूजीः- अनुभूति कहाँ हुई है अभी? तो अनुभूति को दिया न बड़प्पन उसने।

मुमुक्षुः- बड़प्पन, उसने वर्चस्व उसको दे दिया।

पूज्य बाबूजीः- गौरव अनुभूति का माना न, वर्चस्व उसको दिया न। तो फिर शुद्धात्मा को कहाँ माना उसने? उसका वर्चस्व कहाँ माना? और वो तो त्रिकाल महान है। उसमें तो कभी घटने की कोई गुंजाईश ही नहीं है और ये जो है ये तो नई पैदा हुई है, साक्षात्। पहले थी नहीं ये तो, बिल्कुल नई आई है।

मुमुक्षुः- पर्याय जब अपने को अपरिणामी समझे तभी वो पर्याय है, बाकी वो पर्याय ही नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! पर्याय तो है (लेकिन) मिथ्या होगी। मिथ्या होगी। शुद्ध पर्याय नहीं है।

मुमुक्षुः- ये अभेदता की चरम सीमा (जो है वो) आप बतायें। अभेदता की चरम सीमा...

पूज्य बाबूजीः- अभेदता की चरम सीमा माने जहाँ हैं तो दो लेकिन एक हो जाएँ, एक ही दिखाई दे, एक ही रहे तो अभेदता की (चरम सीमा) हो गई। तो अब क्या होगा, इससे आगे क्या है? इससे आगे कोई दूसरा step (चरण) ही नहीं है। इसलिए पर्याय इसतरह विलीन हो गई कि अकेला द्रव्य ही दिखाई दे रहा है। अकेला द्रव्य ही रह गया माने, दिखाई क्या देता है? अकेला द्रव्य ही रह गया। मैं तो चिन्मात्र हूँ, बस इतना।

मुमुक्षुः- पर्याय इसतरह विलीन हो गई कि अकेला द्रव्य ही हूँ...

पूज्य बाबूजीः- अकेला द्रव्य ही हूँ।

मुमुक्षुः- दिखाई दे रहा है नहीं....

पूज्य बाबूजीः- दिखाई दे रहा है नहीं। वही हूँ बस। माने स्वर अहम् का होना चाहिए। हूँ मैं - ऐसा।

मुमुक्षुः- जानने का नहीं?

पूज्य बाबूजीः- जानने का नहीं। जानने का या श्रद्धा करने का नहीं। वो तो उपासना है।

मुमुक्षुः- बराबर प्रभु! अहम् का स्वर होना चाहिए।

पूज्य बाबूजीः- अहम् का स्वर होना चाहिए। अहम् का।

मुमुक्षुः- राग में अहम् जल्दी हो जाता है, इसमें नहीं होता बाबूजी।

पूज्य बाबूजीः- राग में तो चला ही आया है न। चला ही आया है वो तो। तो उसे तोड़ने की पद्धति ये है कि ज्ञान जो है वो (उसके लिए) कोई अच्छी जगह टटोले। पहले तो राग-द्वेष, पुण्य-पाप सारी दुनिया, इनमें उसने स्थान बहुत ढूँढे, आश्रय बहुत ढूँढा। नहीं मिला! तो भी उसका जो

प्रयत्न है वो यही रहा कि कभी न कभी तो होगा। लेकिन जब ज्ञान, गुरु से एकदम प्रोत्साहित हुआ तो उसकी आतुरता चैतन्य के प्रति बढ़ी, तब वो काम होता है। चैतन्य के प्रति आतुरता बढ़े तो फिर चिंतन चलता है। रागादिक तो अनादिकाल से हैं, लेकिन तोड़ने का उपाय ये ही है न कि राग से उत्कृष्ट वस्तु (मिले)। राग से उत्कृष्ट वीतरागता और वीतरागता से उत्कृष्ट शुद्ध चिन्मात्र-ज्ञायक (है)। वो अंतिम माने destination (गंतव्य) जो है।

मुमुक्षुः- राग से उत्कृष्ट वीतरागता और वीतरागता से आगे मैं चिन्मात्र...

पूज्य बाबूजीः- वीतरागता से उत्कृष्ट। हाँ! शुद्ध-चैतन्य।

मुमुक्षुः- मतलब सबका राग तो छूटे बाबूजी! पर दिक्कत क्या होती है...

पूज्य बाबूजीः- राग-बाग कुछ छोड़ना नहीं है न। छोड़ना (अथवा) ग्रहण करना - ये आत्मा में है ही नहीं। शुद्ध चिन्मात्र हूँ - इसके बाद कुछ बचता ही नहीं है। उसके बाद वो कहे कि राग है, (तो कहें) कि कहाँ है राग? तेरे राग बता! तेरे में राग होता तो तुझे राग सहित अनुभव किया जाता। पर तेरे में राग ही नहीं है तो राग सहित अनुभव भी कैसे हो? इसलिए अनुभव में राग की अनुभूति होती ही नहीं है। चिन्मात्र की अनुभूति होती है।

उसमें है ही नहीं न (राग)। उसमें है ही नहीं न - इसमें (ऐसे निर्णय में) एकांत नहीं है। एकांत नहीं (है) ये तो प्रयोग पद्धति है। तो इसमें प्रयोग पद्धति में जो शुद्ध द्रव्य है, उसी का वर्चस्व रहता है। और ज्ञान जो है वो जानता जरूर है इतना कि विकार अभी शेष है, लेकिन क्या करे उसका विकार का? जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल का क्या करे ये... उनको देख-देखकर? इसीतरह राग को देखकर क्या करे ये? जैसे वो स्वीकार हैं ऐसे ये भी स्वीकार है कि (बस!) है, है, है। है माने पड़ा होगा कहीं। बस! कहीं पड़ा होगा। मेरे में तो नहीं है – ये स्वर इसका (ऐसा) बलवान हो।

मुमुक्षुः- प्रयोग की पद्धति ये है।

पूज्य बाबूजीः-[98] प्रयोग की पद्धति ये है कि वो स्वीकार करता है - उसका नाम व्यवहारनय है। तो वो तो गौण है न सारा, पड़ा है (कहीं)। पड़ा होगा माने, ठीक! कहीं होगा, मेरे में तो नहीं है। यहाँ आकर वजन आना चाहिए (कि) मेरे में नहीं है। मेरे में विकार का नाम-निशान ही नहीं है बिल्कुल। कौनसा राग? कौनसे राग की बात करते हो?

मुमुक्षुः- प्रभु! पर सब राग तो छूट जाए पर आत्मा का राग तो रखें तो?

पूज्य बाबूजीः- नहीं आत्मा का राग रखें तो भी आत्मा न मिले। बीच में अंतर पड़ गया न। 'आत्मा का राग' इसमें बीच में आत्मा में (और आत्मा के) राग में space (अंतर) है न। Space (अंतर) नहीं होनी चाहिए उसे अभेदता कहते हैं। सट जाए माने एक दूसरे से; जैसे दूध में शक्कर घुल जाती है इस तरह (से) सट जाए। पर्याय तो प्रलीन हो जाती है, विलीन हो जाती है पर्याय,

[98] प्रयोग की पद्धति। - 39.21 Mins

अदृश्य हो जाती है और "एक मात्र शुद्धात्मा हूँ" - बस! ये ही स्वर चलता है, श्रद्धा का भी और ज्ञान का भी। दोनों का एक (ही स्वर) चलता है।

मुमुक्षुः- सभी बात एक ही ठिकाने पर आ जाती है कि मैं चिन्मात्र शुद्ध हूँ।

पूज्य बाबूजीः- हाँ! माने जहाँ-जहाँ पर्याय का ख्याल आवे कि पर्याय में बहुत अशुद्धता है, पर्याय अभी तो न मालूम कब शुद्धता होगी... लेकिन उसी समय ये ख्याल आवे कि - "अरे! क्या कर रहा है? क्या सोच रहा है? भाई! चिन्मात्र पड़ा है तू, वो कहाँ गया? ये क्या सोच रहा है (ये) हल्की-फुलकी बातें, बिना प्रयोजन की, बिना काम की? अरे! एक बार उसकी ओर देखेगा तब तो ये थरथर काँपने लगेंगे, इनकी मौत ही आ जाएगी। उसकी ओर एक बार देख।"

मुमुक्षुः- Beautiful! सीधी प्रयोग की बात है!

पूज्य बाबूजीः- सीधी एक बात! और मौत हो ही जाती है इनकी। और उन पर विचार करे तो उनकी पुष्टि होती है। कि हाँ! चलो अच्छा है, अभी ये यहाँ तो मरा। और-और जगह जाने कहाँ-कहाँ मर रहा था, तो अब यहाँ आकर मर गया। और फिर इससे भी आगे शुद्ध पर्याय में मर जाएगा कि 'मोक्ष तो जाना ही है'; तू (ऐसा मानने वाला) नहीं जाएगा।

मुमुक्षुः- बराबर! दृष्टि ही गलत है।

पूज्य बाबूजीः- तो जिसे मुक्ति नहीं चाहिए उसे और क्या चाहिए? मुक्ति नहीं चाहिए, वास्तव में नहीं चाहिए इसको। हृदय से है ऐसी बात। भले ही विकल्प करे, विचार करे लेकिन हृदय से ऐसी बात है कि मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। मुक्त को मुक्ति? तो जैसे कलंक है ये तो। ये तो कलंक (है)!

मुक्त को मुक्ति का अर्थ है ये है कि ये मुक्त नहीं है। मुक्त नहीं है तो (स्वयं) कलंकित तो सिद्ध हो ही गया। पहले बंध में था, बंधन में था। तो कलंक तो लग ही गया एक बार जैल चला गया तो। भले अब आगे आजीवन नहीं जाए और आदत सुधार ले, लेकिन एक बार तो कलंक लग ही गया जीवन में। तो मुक्त की क्या मुक्ति होगी? जो त्रिकाल मुक्त है, सदा मुक्त है, उसकी मुक्ति का क्या सवाल है? भाई! पहले ये तो बताओ कौन गया था जैल? जिसको कारावास हुआ ही नहीं (जो) बंधा ही नहीं, तो उसका मोक्ष क्या? इसलिए ये सारी बातें होते-होते.... इन पर बल नहीं होता है ज्ञानी का। क्योंकि हमेशा अनुभूति में (तो) नहीं रहता (है)। तो फिर ये ही बातें सात तत्त्व का विचार, नव तत्त्व का विचार, स्व-पर का विचार, ये ही चलता है।

मुनिराज तक को भी ये ही चलता है। मुनिराज तक को भी ये ही चलता है, शुद्धात्मा की ही महिमा रहती है छठवें में भी। ये आहार-विहार आदि ये तो इतने सब गौण हैं हल्के-फुल्के कि जैसे आहार में जरा-सी कोई बात हुई (कि) भाग गए। तो चौबीस घंटे आहार का विकल्प (ही) नहीं आएगा। चौबीस घंटे विकल्प नहीं आएगा। ऐसा नहीं आएगा कि आज तो आहार नहीं हुआ - ऐसा

नहीं। और शुद्धात्मा में लीनता में फरक नहीं पड़ेगा... अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में। क्योंकि वहाँ तो आनंद से पेट भरा है। ये तो दिखावटी है सारा का सारा भोजनादिक प्रक्रिया जो है।

इसलिए हिरण जैसी वृत्ति होती है (मुनिराज की) कि वो घास खा रहा हो और जरा-सी हो जाए कोई आहट (तो) भाग जाता है। रफ़ू-चक्कर हो जाता है (वो)। ये ही मुनिराज की स्थिति होती है। थोड़ा-सा दिखा कोई दोष या अंतराय (तो) चले जाते हैं। फिर (भोजन की) चर्चा (ही) नहीं। तो लोग-बाग बात करते हैं कि मुनिराज आज तो आहार नहीं (हुआ)। किसका आहार? किसकी बात करते हो? कुछ और भी है बात? इतनी तीव्रता आनंद की होती है न! प्रचुर आनंदभोजी होते हैं मुनिराज, प्रचुर आनंदभोजी। तो उनको क्या आहार वगैरह? ठीक है! विकल्प शेष रह गया है तो आ जाता है। हुआ हो, न (हुआ) हो, इसकी थोड़ी भी चिंता नहीं। बिल्कुल चिंता नहीं; बल्कि वो तो परीक्षा और करते हैं (कि) कई-कई दिन के उपवास कर लेते हैं, शुद्धात्मा में स्थिर (होकर)। विचार और ध्यान, विचार और ध्यान, चिंतन और ध्यान – बस! (ये) दो ही अवस्थायें होती हैं।

मुमुक्षुः- स्वभाव से ही देखना। वस्तु को स्वभाव से ही देखना।

पूज्य बाबूजीः- उससे ही देखना; और-और जितनी भी बातें आवें उनमें जरा भी, थोड़ा भी वजन नहीं हो। वजन हो तो केवल शुद्धात्मा पर हो।

विचार तो अनेक आयेंगे, बहुत आयेंगे विचार तो। कभी जो है वो सुखद विचार आयेंगे कि 'अरे! अब नहीं है ज्यादा देर मुक्ति में'; कभी जो है दुखद आयेंगे... 'कितनी देर है, अभी तो चौथा ही गुणस्थान हुआ है, अभी तो दस और बाकी हैं', ऐसे-ऐसे इत्यादि। ऐसे सुख और दुख दोनों के विचार, दोनों तरह के आते हैं लेकिन वो बिल्कुल गौण हैं। फिर एकदम चौंकता है जैसे नींद से चौंके जैसे (कि ये) क्या कर रहा है? किसकी बात कर रहा है? ये तेरे हैं? ये तेरे चिंतन के लायक हैं? तो (फिर) शुद्धात्मा के चिंतन में लग जाता है।

मुमुक्षुः- आ गई निर्विकल्पता (फिर से)। सीधी प्रयोग की बात है, ये ही विधि (है)।

पूज्य बाबूजीः- सीधी प्रयोग की (बात)! जिन के प्रति हेयदृष्टि पड़ी है उनका क्या चिंतन है? उनका क्या चिंतन? हैं वो बस, हैं। हैं, होंगें।

सम्यग्दृष्टि को तो कितना बताया है कि साक्षात् जिन है वो। कोई फरक नहीं है; भगवान अरहंत-सिद्ध में और सम्यग्दृष्टि में कोई अंतर नहीं है। कोई अंतर नहीं है। कि उसे राग तो होता है तो आचार्यदेव एकदम कहते हैं कि 'उसको तो नहीं होता' - ऐसा है। प्रमाण है ऐसा। सम्यग्दृष्टि को तो राग नहीं होता और विषयों को भी राग नहीं होता। तो फिर किसको होता है? कि वो तो अज्ञानी की पर्याय है, तो उससे हमें क्या मतलब है? वो तो अज्ञान का कार्य है, राग तो। तो सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी माने उसको तो ज्ञानमय भाव ही होते हैं। ऐसे वचन हैं! ज्ञानी को एक बार आत्मदर्शन, शुद्धात्मा का अनुभव हो जाने के बाद ज्ञानमय भाव ही होते हैं सदैव अनंतानंतकाल तक, जैसे भगवान सिद्ध को होते हैं।

जिसकी पर्याय में (बुद्धि) पड़ी है न तो उसको ज्ञानमय भाव ही होते हैं (ऐसा सुनने पर पूछता है कि) तो ये राग किसको होता है? ये किसको होता है? अरे! वो उसको है ही नहीं। वो शुद्धात्मा को देख चुका है (कि) उसमें है ही नहीं (राग)। नाम निशान ही नहीं है (राग का तो)। और अनुभव के समय भी राग होते हुए भी राग अनुभव में आता ही नहीं है। वीतरागता हो तो (भी) वीतरागता अनुभव में नहीं आती। वीतरागता अनुभव में नहीं आती क्योंकि वीतरागता तो उपासना है जो उसकी, देवता की पूजा कर रही है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! एकदम स्पष्ट आ गई बात। वीतरागता तो उपासना है, माने पर्याय का स्वरूप है वीतरागता।

पूज्य बाबूजीः- पर्याय का। तो वो तो देवता की पूजा कर रही है। देवता ही बन गई है माने एकदम। वीतरागता उसी का नाम है।

मुमुक्षुः- ये ही विधि होनी चाहिए, हर समय की हर जीव की।

पूज्य बाबूजीः- जोर ऐसा हो, ज़ोर; ज़ोर ऐसा हो। दुनिया कुछ (भी) कहे, अपना विकल्प अपना राग कुछ (भी) कहे (तो) कहते होंगे। वो सेठिया जी का आता है न एक उदाहरण; सरदार शहरवाले जो सेठिया जी थे, वे जाते थे गुरुदेव के पास। उनकी दीवालों पर किसी ने लिख दिया कि इनका दिवाला निकल गया है - ऐसा लिख दिया। तो अब लोग-बाग बार-बार उनके घर आवें और पूछें कि ये क्या हो गया आपको? कि होने दो, लिखा होगा... मुझे क्या मतलब उससे? किसी को कोई एक पैसे से लेकर और दस लाख तक भी लेना हो तो यहाँ मेरे पास आ जाओ। लिखा होगा, वो मेरे लिए नहीं (है)।

ये ज्ञानी का वचन होता है। कहते होंगे... दुनिया कहती है, अज्ञानी कहता है, राग है, द्वेष है, पुण्य-पाप... मेरे पास तो है नहीं। मेरे पास तो है नहीं। क्योंकि पर्याय तो इतनी गौण हो गई है कि वो पर्याय का नाम ही नहीं लेना चाहता है न, इतनी गौण हो गई है। अब गौण होने का एक अर्थ ये है कि अस्तित्व स्वीकार करता है। तो अनेकान्त हो गया, एकांत नहीं है। हाँ! तो वो एकांत मानते है न वो तो शुद्ध शुद्ध शुद्ध (तो) और नहीं है क्या कुछ? सब हो गया, सब। अस्तित्व स्वीकार है, बस इतना। लेकिन करना क्या है, उससे काम क्या है? उसको देखना भी नहीं है मुझे तो। क्योंकि यदि नहीं देखें तो चला जाता है और देखें तो पुष्ट होता है। दूना-दूना आता है। वो तो डायन जैसी दशा है।

मुमुक्षुः- डायन जैसी है, देखें तो खड़ी (और) न देखें तो बिन बुलाए चली।

पूज्य बाबूजीः- बस! इसलिए तुरंत वो माने जैसे साधक दशा न हो पूरी और उसके पहले विकल्प की दशा हो तो भी विकल्पों से छूटकर एकदम जैसे चौंककर ये बात आनी चाहिए (कि) - अरे! क्या कर रहा है? कौनसा विचार? कौनसा... किसका चिंतन? क्या है तू? कौन है सचमुच?

तो बस! उसी का वजन हो जाता है फिर। तो (यदि) विचारों में भी उसी का वजन हो, तो विचार का वजन नहीं रहता है फिर। और विचार के विषय का वजन (भी) नहीं रहता।

मुमुक्षुः- विचारों में भी उसी का वजन हो तो फिर विचार का वजन नहीं रहता।

पूज्य बाबूजीः- नहीं रहता है। विचार का विषय तो वो ही है ज्ञायक अगर ज्ञायक है तो। और विचार के विषय अगर दूसरे हैं तो उनका भी वजन नहीं। (तो) ज्ञायक का वजन तो है ही सही।

पर्याय की (बात) ऐसी है न कि उलझन के स्थान इतने हैं कि वो कहीं न कहीं जाकर भी, आखिर में शुद्ध पर्याय में तो उलझेगा ही उलझेगा। वहाँ तो उलझेगा ही उलझेगा। और छूटकर कहाँ जाएगा? और नहीं तो फिर गुणों में उलझायेंगे (तो) वहाँ तक मिथ्यात्व नहीं छूटेगा।

मुमुक्षुः- अटक-स्थान बहुत हैं।

पूज्य बाबूजीः- अटक के स्थान बहुत हैं।

मुमुक्षुः- ऐसी दृष्टि का जोर आने के लिए बाबूजी, क्या करना चाहिए?

पूज्य बाबूजीः- भूख लगनी चाहिए, प्यास लगनी चाहिए। अब भूख और प्यास तो है ही नहीं। तो चर्चा से क्या हो? चर्चा से पेट तो भरता नहीं है। लड्डू-लड्डू करे तो उसका मुँह मीठा थोड़े हो जाता है। ऐसे शुद्धात्मा शुद्धात्मा शुद्धात्मा... लेकिन चर्चा जो है वो process (प्रक्रिया) जानने के लिए है असल में। उसकी विधि जानने के लिए है। तो विधि में जो है शुद्धात्मा पर वजन आवे तो वो चर्चा की, प्रवचन की (और) सबकी सार्थकता है। उसी पर वजन आवे एकदम।

मुमुक्षुः- बाबूजी! जिसको प्यास लगी होगी उसकी आंतरिक दशा कैसी होगी?

पूज्य बाबूजीः- ये ही दशा है, आंतरिक। और किसको लाना है? एक निश्चय तो कर लिया उसने; गुरु से सुनकर एक बार निश्चय कर लिया। इसलिए गुरु को शास्त्र से भी वजनदार निमित्त कहा है - अंतरंग निमित्त; और जिनवाणी जो है वो (है) बहिरंग निमित्त।

मुमुक्षुः- अंशमात्र किसी के भी वश न आवे।

पूज्य बाबूजीः- किसी की भी (महिमा) नहीं आवे, बिल्कुल सर्वोच्च महिमा इसकी। सबसे ऊँचा सिंहासन इसका, शेष सब मिट्टी सारे के सारे। सिद्ध दशा भी मिट्टी - इतना लगे उसको। इतना लगना चाहिए माने। लगे ऐसा, ऐसा कहने की नहीं बात है। ऐसा लगे भीतर से कि नहीं चाहिए।

मोक्ष किसको जाना है? जो बंधा होगा वो जाएगा। जब मैं बंधा ही नहीं सदा से तो मैं क्यों जाऊँगा (मोक्ष)? कौन है मुझे मोक्ष भेजने वाला?

मुमुक्षुः- मुक्ति की चाह नहीं है।

पूज्य बाबूजीः- नहीं! बिल्कुल भी। मुक्ति की अंतर से चाह नहीं है। बाहर से अनुराग है, वो राग का काम है।

मुमुक्षुः- बाहर से अनुराग है वो राग का काम है - माने ये क्या कहा प्रभु?

पूज्य बाबूजीः- हाँ! तो राग का काम है। राग तो अपना काम करेगा जब तक रहेगा तब तक। मूर्ख है वो तो। मूर्ख है, इसलिए वो तो अपना काम करेगा ही करेगा, पागल है। जिसप्रकार से कोई सदस्य पागल हो, तो कोई भी मेहमान आवें वो तो कहेगा उलटी-सीधी बातें। तो राग तो पागल है, वो तो ये बात करेगा ही करेगा .... मोक्ष जाना है, अभी हुआ नहीं है, अभी बहुत देर लग रही है - ये सब बातें करेगा।

ज्ञान ने तो निश्चय कर लिया न एक बार, तो ज्ञान में वो पक्का हो गया एकदम। ज्ञान में जो व्यवहारनय चलता है उसका भी हेयत्व है ज्ञानी (को)। ये सब व्यवहारनय की बातें हैं सारी (कि) मोक्ष जाना है, बंध बहुत है, बहुत पाप के भाव आते हैं, बहुत पुण्य के भाव कम आते हैं - इत्यादि इत्यादि इस तरह से। इन्हीं में रहता है (अज्ञानी) और शुद्धात्मा को स्वीकार नहीं करता है तो कभी भी छूटने का प्रश्न ही नहीं (है) बिल्कुल। प्रसंग ही नहीं है।

मुमुक्षुः- बातों की अधिकता आ जाती है, उसकी अधिकता छूट जाती है। सही बात है बाबूजी!

पूज्य बाबूजीः- विकल्प की अधिकता हो जाती है, विकल्पमूढ़ है। तो उधर से दुनिया का विकल्प नहीं करके (अब) आत्मा का (विकल्प) करने लगा।

मुमुक्षुः- पर फिर भी रहा तो विकल्प में ही।

पूज्य बाबूजीः- रहा तो विकल्प में ही। विकल्पमूढ़ है।

मुमुक्षुः-[99] बाबूजी! विकल्प और विचार दोनों में कुछ अंतर है?

पूज्य बाबूजीः- बहुत अंतर है, बहुत। जमीन आसमान का। वो तो जानता हुआ चलता है। ज्ञान का जो विकल्प है वो तो जानता हुआ प्रवर्तित होता है, आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ प्रवर्तित होता है। जो विकल्प है उसका स्वर भी भले ज्ञान जैसा ही हो लेकिन वो जानता नहीं है। वो जानता नहीं है। क्योंकि जानना तो ज्ञान के पास है न! तो वो राग के पास कैसे चला जायेगा, जानना? इसलिए वो तो बिना ज्ञानवाला है। बिना ज्ञानवाला होने पर भी उसकी प्रवृत्ति तो होती ही होती है, विकार है तो। तो विकार की प्रवृत्ति होती ही रहती है। तो विकार अगर ज्ञान के स्वर में भी बोलने लगे तो भी उसमें समझ थोड़े (ही) है। इसलिए उसकी कीमत क्या है? उसकी कीमत क्या है?

मुमुक्षुः- माने विचार और विकल्प में ज्ञान का विकल्प ज्ञान के साथ चलता है।

पूज्य बाबूजीः- ज्ञान का विकल्प तो जानता हुआ चलता है। और राग का विकल्प चलता है तो वो भले ही ज्ञान जैसा हो, लेकिन उसमें जानना नहीं (होता) है। इसलिए उसकी कोई कीमत नहीं है, बिल्कुल कोई कीमत नहीं है।

[99] विकल्प और विचार में अंतर? - 57.35 Mins

भाई! दुकान पर जैसे पाँच वर्ष का बच्चा भी बैठा हो और पचास वर्ष का पिता बैठा है और कोई मुनाफे का काम किया उसने, लाभ का काम; तो पिता प्रसन्न था। तो वो बच्चा कहता है आज तो पिताजी बहुत कमाई हो गई न! तो उसको वो 'कमाई हो गई आज बहुत' इसका उसको पता क्या (है)? इसके स्वरूप का उसको क्या पता पाँच वर्ष के बच्चे को? वो तो (उसके बारे में तो) पिता जानता है इसलिए उसको हार्दिक प्रसन्नता है; तो ये रागस्थानीय है।

स्वर तो जैसे एक गायक होता है (वो) सितार बजाता है, हारमोनियम बजाता है। तो उस गानेवाले का स्वर और हारमोनियम का स्वर (एक जैसा) मिलता है। माने वो जो शब्द उच्चारण करता है वही हारमोनियम में (से) निकलता है। लेकिन वो जो गानेवाला है, वो तो जानता है कि मैं क्या गा रहा हूँ और इसका क्या अर्थ है। (परंतु) वो हारमोनियम तो नहीं जानता न! वो रागस्थानीय है और ये ज्ञानस्थानीय (है)।

मुमुक्षुः- माने विचार रागस्थानीय है।

पूज्य बाबूजीः- विचार तो ज्ञानस्थानीय है। विचार तो राग में नहीं होता है, विचार। वो तो ज्ञानस्थानीय है। और जो विकल्प है वो राग का, तो वो विकार के स्थान पर है, राग के स्थान पर (है)। उसमें ज्ञान नहीं है माने, इसलिए उसका क्या विश्वास? विचार का ही विश्वास नहीं है, तो फिर उसका क्या विश्वास?

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! विचार का ही विश्वास नहीं है तो उसका क्या विश्वास?

पूज्य बाबूजीः- उसका क्या विश्वास?

मुमुक्षुः- फरक होने पर भी।

पूज्य बाबूजीः- बहुत फरक है न, जमीन आसमान का फर्क है। कोई कीमत नहीं (है), वो तो साथ-साथ चलता है उसके। जैसे छाया चलती है, ऐसे चलता रहता है। और इसको उसकी फिकर भी नहीं है। विकल्प आते हैं तो इसको उसकी चिंता भी नहीं है कि - 'देखो! इतने विकल्प आते हैं। मैं तो अनुभूति का प्रयत्न करता हूँ और विकल्प पीछा नहीं छोड़ते हैं।' तो ये इसको अंतर से ऐसी घबराहट होती नहीं है क्योंकि ये जानता है कि ये जो विकल्प है, तो अभी इसका जीवन है (लेकिन) और ज्यादा लंबा जीवन नहीं है। थोड़े समय में ही मर जानेवाला है क्योंकि एक तरह से (इसके) प्राण तो निकल चुके हैं। मर जानेवाला है माने जो उसकी मूल शक्ति है वो तो क्षीण हो चुकी है। और अब जो ये पड़ा है वो तो मृतक देह की तरह है, इसीलिए ये अभी करवटें तो लेगा लेकिन मेरे को इससे कोई हानि-लाभ नहीं (है)। अगर ये नहीं भी जाये न तो मेरे को कोई तकलीफ नहीं है। और ये जाता है तो भी मुझे कोई इसमें प्रसन्नता नहीं है।

(कि) विकल्प का अभाव हो गया! (तो) हो गया होगा, मेरे को थोड़े ही हुआ है। विकल्प आता था (तो) कि मेरे को थोड़े ही आता है। वो तो जिसको आता हो उसके अभाव हो गया, मुझे क्या उससे? इतना (भिन्न) हो, माने जैसे कोई आत्मा की महिमा अगर नहीं आवे इतनी तो फिर वो

आत्मा फोकट का थोड़े ही है। भाई! व्यवसाय में तो जाकर तो कमाई करे, पसीना बहावे और यहाँ जो है मुफ़्त में मिल जाए.. तो इतनी महिमा तो उसकी हो तब वो प्राप्त होता है; और विधि में जरा भी फर्क नहीं होना चाहिए। स्वरूप जानने में जरा भी फर्क नहीं होना चाहिए; बिल्कुल बेमेल-अनमेल। और अज्ञानी को तो यह है कि दुखी हूँ, संसारी हूँ। तो दुखी हूँ ऐसा उसने माना - तो सुख को निकाल दिया आत्मा से। सुख का अभाव कर दिया। अज्ञानी हूँ, तो अज्ञानी कहकर ज्ञान को निकाल दिया आत्मा में (से बाहर)। तो ज्ञान आत्मा में से निकल गया। बोलो! आत्मा को अधूरा कर दिया।

अरे! आत्मा तो ज्ञान और सुख का बना हुआ है। वो कभी जानेवाला हैं क्या उसमें से? अब तूने उसको देखा ही नहीं, तू सुनना ही नहीं चाहता उसकी बात। उसकी बात आवे तो सभा में से उठकर चला जाए - ऐसे भी अज्ञानी होते हैं। कि यहाँ तो वो ही आत्मा ही आत्मा की चर्चा (है)। ये नहीं कि कोई भगवान की पूजा, भगवान के भजन, भगवान की भक्ति, दया-दान और कुछ, ये तो बातें करते नहीं। और (बस) वही आत्मा ही आत्मा की चर्चा..... तो वो तो भाग जाता है। माने अपना नाम और अपना यश सुनकर भाग जाता है - ऐसा मूरख।

मुमुक्षुः- अपना नाम और अपना यश सुनकर भाग जाता है।

पूज्य बाबूजीः- अपने ही यश को सुनकर भाग जाता है।

मुमुक्षुः- इसको बोलते हैं (आत्मा की) भूख?

पूज्य बाबूजीः- इसे भूख कहते हैं। भूख में तो किवाड़ भी पापड़ हो जाते हैं।

मुमुक्षुः- किवाड़ भी पापड़ हो जाते हैं। सही बात है बाबूजी! यही प्रयोजनभूत बात है।

पूज्य बाबूजीः- एकमात्र बस! अनेक रास्ते हैं ही नहीं। मुक्ति के अनेक रास्ते हों तो बहुत मुश्किल हो जायेगी न (कि) कौनसे रास्ते पर जाऊँ।

जैसे बहुत देवता होते हैं पूजने के लिए, तो वहाँ उसको सफलता नहीं मिलती। क्योंकि एक देवता हो (तो) वो तो विश्वास लेकर चलता है कि इस देवता से काम बनेगा। तो वो (उस) देवता को याद किया अथवा उसको स्थापित कर दिया घर में और रोज पूजा की। अब काम बनता नहीं है तो उसको उखाड़ फेंकता है, फिर दूसरे (देवता को) ले आता है। अब वो कहता है कि मैं तो आ ही रहा था (इतने में) तूने उखाड़ के फेंक दिया, तो मैं वापस चला गया। अभी दूसरे के साथ भी ऐसा ही, तीसरे के साथ भी ऐसा ही। तो तैंतीस करोड़ के साथ ऐसा ही होता है। यहाँ तो निश्चय-देवता भी एक है और व्यवहार देवता भी एक। यहाँ दो का काम ही नहीं है।

मुमुक्षुः- बहुत सुंदर! वो जैनदर्शन है।

पूज्य बाबूजीः- ये जैनदर्शन है। और का नाम ही नहीं है न यहाँ (तो)। जो व्यवहार-देवता हैं वे अरहन्त और सिद्ध हैं (और) निश्चय-देवता शुद्धात्मा है। बस! अब किसका नाम लो और? और दूसरे के प्रति तो यहाँ कोई आदर का विकल्प ही नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च है (वो तो)। उसके

सामने किसका आदर? जो सर्वोत्कृष्ट है उसके सामने (किसका आदर)? कोहिनूर हीरा ही पास हो तो फिर और कौनसा जौहरी मेरे से बड़ा है?

मुमुक्षुः- अपनी ही महानता हर समय भासने लगे....

पूज्य बाबूजीः- एकदम!

मुमुक्षुः- हर समय।

पूज्य बाबूजीः- अपने को नहीं होता है (कि) जैसे जगत में होता है.... खूब पैसा होता है, खूब सामग्री होती है। तो महानता का गौरव नहीं होता क्या अपने भीतर ही भीतर? भले बाहर से कहे कि मैं तो आपका सेवक हूँ, दास हूँ - ऐसा हाथ जोड़ता फिरे। तो दुनिया समझे (कि) बहुत नम्र है। लेकिन भीतर से जो गर्मी है वो उसको (तो) वो ही जानता है।

मुमुक्षुः- सही बात है बाबूजी!

पूज्य बाबूजीः- बिल्कुल सत्य है ये, परम सत्य! भले कितना ही विनम्र दिखाई दे लेकिन भीतर से अहम् रहता है। बहुत अहम् रहता है क्योंकि अज्ञानी को अहम् हुए बिना रहेगा ही नहीं। उसको ज्ञान का ही अहम् होगा। क्षयोपशम अधिक हो ११ अंग ९ पूर्व का, तो परिग्रह है वो। ज्ञान नहीं है वो, परिग्रह है वो। किसी मतलब का नहीं है माने, क्योंकि वो तो जैसे रामायण है तो उसमें तो राम है मुख्य। बाकी शेष जो कथायें है, वो अपने काम की हैं क्या? वो (राम) मुख्य है।

इसी तरह द्वादशांग में तो शुद्धात्मा काम का है। अब वो ११ अंग ९ पूर्व पढ़ लिए तो ये तो आसपास की चीज़ें है सब। राम तो आया ही नहीं क्योंकि उसका बोध ही नहीं है।

मुमुक्षुः- बाबूजी! आज बराबर पता चला कि सहज भी क्यों है और difficult (मुश्किल) भी क्यों है? दोनों बात बराबर स्पष्टरूप से आ गईं।

पूज्य बाबूजीः- दूसरी जगह अटका होगा तो difficult (मुश्किल) ही है। व्यसनी है न जैसे। तो व्यसनी को कोई भी बात कहें कि - भाई! ये अच्छी है क्या चीज? ये जो (तू) पीता है (या) खाता है, तो ये अच्छी है क्या? (तो) कहे (कि) अच्छी तो नहीं हैं। फिर क्यों? कि मेरे से छूटता नहीं है। मैं लाचार हूँ, छूटता नहीं है। ऐसे लाखों लोग मिलेंगे कहनेवाले।

मुमुक्षुः- सही बात है!

पूज्य बाबूजीः- छूटे ही नहीं, व्यसन ऐसा होता है। तो इसको तो व्यसन हो गया है जगत का। जगत के साथ ममत्व का, राग के साथ, द्वेष के साथ - व्यसन हो गया है। तो व्यसन के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए जबरदस्त, तोड़ने के लिए। उसको ये भय हो कि इसमें जिंदगी जानेवाली है मेरी, ऐसा भय उसको (यदि) बैठ जाए तो फिर छोड़ने में देर नहीं लगेगी।

जैसे हो गया कोई heart (दिल का रोग) हो गया जैसे, अब डॉक्टर के पास गया। (तो डॉक्टर) कि आज से ये सब बंद है। बोल क्या कहता है? कि नहीं! नहीं! डॉक्टर साहब, करूँगा।

और वैसे ही कितने ही उपदेश मिले लेकिन एक भी नहीं मानी कि, मेरे से छूटता नहीं है। अब कैसे छूट गया? क्योंकि जिंदगी का प्रश्न पैदा हो गया।

तो जीवन-मरण का प्रश्न है - यूँ समझे। वो पर्याय का विचार और शुद्धतत्त्व की श्रद्धा - ये जीवन मरण का प्रश्न है।

मुमुक्षुः- ये पर्याय का विचार और शुद्ध तत्त्व की....

पूज्य बाबूजीः- श्रद्धा!

मुमुक्षुः- श्रद्धा....

पूज्य बाबूजीः- दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है।

मुमुक्षुः- फर्क है। एक जीवन है (और) एक मौत है।

पूज्य बाबूजीः- मौत है।

मुमुक्षुः- पर्याय का विचार मौत है।

पूज्य बाबूजीः- मौत है वो।

माने हो चुका है वो, अब past tense (भूतकाल) है वो। पुरानी पड़ गई बात वो। वो जान लिया बस ठीक है। और क्या है? कि ऐसे-ऐसे दुष्कर्म किए थे.... जान लिया बस (कि हुआ) होगा।

मुमुक्षुः- जगत का ममत्व वो व्यसन है।

पूज्य बाबूजीः- व्यसन हो गया। मोह भी जो है वो जानता है कि अभी मेरे पास बहुत (मौका) है, इसको पछाड़ने के लिए। शुद्ध पर्याय मैं पछाड़ दूँगा, गुणों के चिंतन में पछाड़ दूँगा, अभी तो बहुत है मेरे पास। अभी तो बहुत दूर है ये।

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव की जय हो!
जिनवाणी माता की जय हो!

<u>जिनवाणी-स्तुति</u>

आत्मज्ञान में ही आत्मा की सिद्धि और प्रसिद्धि है।
आत्मज्ञान में ही भिन्नरूप विश्व की भी सिद्धि है ॥
आत्मज्ञान ही बस ज्ञान है आत्मज्ञान ही बस ज्ञेय है।
आत्मज्ञानमय ज्ञाता ही आत्मा ज्ञान-ज्ञेय अभेद है॥
दर्शाय सरस्वती देवीने किया परम उपकार है।
निजभाव में ही थिर रहूँ, माँ वंदना अविकार है॥
जिनवाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नमूँ, सदा देत हूँ ढोक॥

बाबू जुगलकिशोर 'युगल'

जन्म : 5 अप्रेल, 1924
खुरी, जिला - कोटा (राज.)
देहविलय : 30 सितम्बर, 2015
शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न
पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट, रामपुरा, कोटा (राज.) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव- शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता थे।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरित होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संग्राम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग के आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में - 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरूप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं-

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह "चैतन्य वाटिका" एवं गद्यविद्या "चैतन्य विहार" में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार थे और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती थी।

"हे विश्व कवि मैं तुमको क्या अर्पण कर दूं
मेरी क्या हस्ती है, जो तुमको तर्पण कर दूं
तुम हो सूर्य गगन के, मैं कण माटी का
तुम ही सागर ज्ञान सिन्धु, मैं एक बिन्दु सा"

चित्रों के दर्पण में बाबूजी....